सन्त साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि

डॉ० ओमप्रकाश शर्मा

हिन्दुस्तानी एकेडेमी • इलाहाबाद

सन्त साहित्य की लौकिक-पृष्ठभूमि

[प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि
के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध]

लेखक
डॉक्टर ओमप्रकाश शर्मा

प्रकाशक
हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

समर्पण

"पूज्य माता जी को जिनके द्वारा दी गयी शक्ति ने मुझे कार्य-पूर्ति में साहस व बल दिया।"

प्रकाशकीय

हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने पिछले वर्षों में सन्त-साहित्य सम्बन्धो कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। उसी परम्परा में डॉक्टर ओमप्रकाश शर्मा का यह शोध-ग्रन्थ 'सन्त-साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि' है जिस पर लेखक को प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० फिल्० की उपाधि मिली है। सन्त-काव्य और सन्तों की जीवनी पर तो शोध-विद्वानों ने पर्याप्त प्रकाश डाला है, किन्तु जिस परिवेश और सन्दर्भ से प्रभावित और समरस होकर सन्तों के जीवन की निर्मिति हुई और फलस्वरूप उनकी ओजस्वी वाणी उजागर हुई, उसका विधिवत् अध्ययन कम ही मिलता है। डॉक्टर ओमप्रकाश शर्मा ने अध्यवसाय के साथ हिन्दी-प्रदेश के प्रायः सभी सन्तों की लौकिक पृष्ठभूमि को परखने की सफल चेष्टा की है। लोक-जीवन से सम्पृक्त होकर हमारे सन्तों ने किस प्रकार दैनन्दिन जीवन की भाषा, मुहावरों, पहेलियों, आचार-विचार और दैनिक व्यवहार की वस्तुओं को अपनी अटपटी वाणी में उदाहरणस्वरूप रखते हुए निर्गुण-ब्रह्म की जटिलता को सर्वग्राह्य बनाने की चेष्टा की है, वस्तुतः अध्ययन के लिए रोचक किन्तु गम्भीर विषय है। डॉक्टर शर्मा ने इस अछूते विषय को प्रस्तुत कर वास्तव में सराहनीय कार्य किया है।

विश्वास है, यह ग्रन्थ सुधींपाठकों और विद्वज्जनों के बीच समानरूप से समादृत होगा।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद
दिनाङ्क ३-१२-६५

उमाशंकर शुक्ल
सचिव तथा कोषाध्यक्ष

विषय-सूची

———

सङ्केताक्षरों की सूची

क० ग्र०	: कबीर ग्रन्थावली; सम्पादक : श्यामसुन्दरदास; नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; सं० २०१३ वि०
स० क०	: सन्त कबीर; डॉ० रामकुमार वर्मा; हिन्दी साहित्य भवन, इलाहाबाद, सन् १९५७ ई०
क०बी०	: कबीर बीजक टीका; विचारदास, सत्यनाम प्रेस, बनारस; सं० १९८३ वि०
सू० सा०	: सूरसागर; नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
म० यु० स०	: मध्ययुग की संस्कृति; रामरतन भटनागर; हिन्दी अनुशीलनः धीरेन्द्र वर्मा विशेषाङ्क
गु० ग्र०	: गुरु ग्रन्थ साहब; सिख शिरोमणि प्रबन्धक कमेटी, अमृतसर
ध० बा०	: धरमदास की बानी, वे० वि प्रे०, प्रयाग
भी० वा०, भु०	: भीखा साहब की बानी, महात्माओं की वाणी बाबा रामवरनदास, भुड़कुड़ा
रा० च० वा०, स्ने०,	: रामचरन दास की बानी, स्नेही सम्प्रदाय
गु० सा० बा०, भु०	: गुलाल साहब की बानी, बा० रामचरनदास, भुड़कुड़ा
प० भा० १	: पलटू साहब की बानी, भाग १; वे० वि० प्रे०, प्रयाग
प० भा० २	: पलटू साहब की बानी, भाग २; वे० वि० प्रे०, प्रयाग
प० भा० ३	: पलटू साहब की बानी, भाग ३; वे० वि० प्रे०, प्रयाग
च० बा०, भा० १	: चरनदास की बानी, भाग १; वे० वि० प्रे०, प्रयाग

च० बा०, भा० २ : चरनदास की बानी, भाग २; वे० वि० प्रे०, प्रयाग.

दरि० मा० : दरिया (मारवाड़) की बानी; वे० वि० प्रे०, प्रयाग .

र० बा० : रज्जब की बानी; रत्नसागर प्रेस, बम्बई .

के० बा०, भु० : केशवदास की बानी, भुड़कुड़ा .

या० बा० : यारी साहब की बानी; वे० वि० प्रे०, प्रयाग .

क० जीवन वृ० : कबीरदास जीवन वृत्त; आचार्य सूरजप्रसाद धर्मेन्द्र अभिनन्दन ग्रन्थ, पटना .

सि० रि० : सिख रिलीजन, भाग ४; डॉ० मेकालिफ .

कृ० भ० का० पृ० भू० : कृष्णभक्ति-काव्य की पृष्ठ-भूमि; शोध-प्रबन्ध .

दरि० वि० अनु० : दरिया (बिहार) अनुशीलन; डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री; वि० रा० भा० परि०, पटना.

मु० शा० प० : मुगल शासन पद्धति; शिवव्रतलाल, आगरा .

का० ए० सां० अ० : कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन; डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल .

हर्ष० च० : हर्षचरित; डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल.

नै० च० : नैषध चरित; चण्डिकाप्रसाद; सा० स०, देहरादून.

आइ० अक० : आइने अकबरी, भाग २ .

तु० का० भा० : तुग़लककालीन भारत, भाग १; डॉ० अब्बास रिज़वी; अ० वि० विद्यालय.

हु० ना० : हुमायुँनामा; व्रजरत्नदास; नागरी प्रचारिणी सभा, काशी .

जहाँ० आ० क० : जहाँगीर की आत्मकथा; नागरी प्रचारिणी सभा, काशी .

रि० पा० आ० मु० कि० : रिलीजस पालिसी आफ मुगल किङ्गास; आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस .

हि० इ० : हिन्दोस्तान का इतिहास; डॉ० ताराचन्द; मे० एण्ड कं० .

अक० ना० : अकबरनामा, अबुलफजल; नागरी प्रचारिणी सभा, काशी .

भा० इ० की रू०, भा० १ : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग १; डॉ० श्रीराम त्यागी; ब्रह्मानन्द, मेरठ.

भा० इ० की रू०, भा० २ : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग २; डॉ० श्रीराम त्यागी; ब्रह्मानन्द, मेरठ.

म० का० भा० सं० : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति; हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग.

सु० वि० : सुन्दर विलास; वे० वि० प्रे०, प्रयाग.

सु० ग्र० : सुन्दर ग्रन्थावली; रि० सोसायटी, कलकत्ता.

म० यु० का इ० : मध्ययुग का इतिहास; डॉ० ईश्वरीप्रसाद; इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद १९५७.

दू० बा० : दूलनदास की बानी; वे० वि० प्रे०, प्रयाग.

उप० : उपगारी जसराम की बानी; साहित्य सम्मेलन हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची न० १२६२, १८६८.

तु० सा०, श० १ : तुलसी साहब की बानी, शब्द भाग १; वे० वि० प्रेस, प्रयाग.

तु० सा०, श० २ : तुलसी साहब की बानी, शब्द भाग २; वे० वि० प्रेस, प्रयाग.

दि० सल्त० : दिल्ली सल्तनत, डॉ० आशीर्वादलाल श्रीवास्तव, आगरा.

उ० म० का० भा० : उत्तर मध्यकालीन भारत; डॉ० अवधबिहारी पाण्डेय; पीतम ब्रदर्स, कानपुर.

क०वि० : कबीर एक विवेचन; डॉ० सरनाम सिंह शर्मा; हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली.

हि० परि० मी० : हिन्दू परिवार मीमांसा; हरिदत्त विद्यालङ्कार; गुरुकुल विश्वविद्यालय, काङ्गड़ी.

सो० हि० : सोशल हिष्ट्री; डॉ० यासीन; अपर इण्डिया पब्लिशिङ्ग हाउस, लखनऊ.

पा० सं० सा० वि० : पाटल सन्त साहित्य विशेषाङ्क—डॉ० रामखेलावन पाण्डेय, पटना.

अ० द० हि० क० : अकबर दरबार के हिन्दी कवि; डॉ० सरजूप्रसाद.

प्रा० भा० म० : प्राचीन भारतीय मनोरञ्जन; लीडर प्रेस, इलाहाबाद.

भा० लो० नी० : भारतीय लोकनीति; डॉ० पु० बेकर; हि० वि० वि०, काशी.

कृ० सं० ब्रज० श० : कृषक-जीवन सम्बन्धी व्रजभाषा शब्दावली, भाग २; हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग.

नि० का० दा० पृ० : निर्गुण काव्यधारा की दार्शनिक पृष्ठभूमि; डॉ० त्रिगुणायत.

आमुख

प्रस्तुत शोध-कार्य का विषय "सन्त-काव्य की लौकिक पृष्ठभूमि" है। सामान्यतः सन्त-काव्य आध्यात्मिक सन्दर्भ रखता है। इसका सारा दृष्टिकोण पारलौकिक है, इसमें व्यापक रूप से आध्यात्मिक जीवन की ही अभिव्यक्ति है। धर्म, दर्शन और साधना के इन्हीं पक्षों को इस काव्य में ग्रहण किया गया है। सन्तकाव्य के विषय में इस प्रकार के अनेक अध्ययन इस परम्परा की दृष्टि में रखकर अथवा विभिन्न सन्त कवियों के आधार पर किये गये हैं।

परन्तु सन्त-काव्य अन्ततः काव्य है और इसी कारण उसका हमारे साहित्य के इतिहास में स्थान है। काव्यात्मक अभिव्यक्ति अपने युग-जीवन से सघन रूप से सम्बद्ध रहती है। सन्त-काव्य अपने मौलिक आध्यात्मिक सन्दर्भ में भी अपने युग-जीवन से अलग नहीं रहा है। सन्तों ने वैसे भी अपनी समस्त साधना-पद्धति में संसार को त्यागने पर बल नहीं दिया है, अतः इस काव्य में ऐसे पर्याप्त सन्दर्भ हैं जिनके आधार पर इस काव्य की लौकिक पृष्ठभूमि का सम्यक् विवेचन किया जा सका है।

यहाँ लोक-शब्द को व्यापक अर्थ में प्रयोग किया गया है, लोक-वार्ता, लोक-तत्त्व तथा लोक-साहित्य के विशिष्ट अर्थ में नहीं। प्रथम प्रकरण में इसी दृष्टि से प्रस्तुत विषय की सीमाओं को निर्धारित किया गया है। इसके अनुसार अगले प्रकरणों में सन्त-काव्य में आये हुए अनेकानेक सन्दर्भों के माध्यम से इस युग के राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन एवं प्रचलित रूढ़ियों, रीति-रिवाजों, प्रथाओं और उत्सवों आदि का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस समस्त सामग्री का विवेचन तत्कालीन इतिहास-ग्रन्थों तथा अन्य साक्ष्यों की तुलनात्मक दृष्टि के साथ किया गया है। इस प्रकार सन्तों के काल के जीवन के विविध पक्षों को उनके काव्य के आधार पर सङ्गठित और निरूपित करने का प्रयत्न इस शोध-कार्य में निहित है।

शोध-कार्य के प्रारम्भ करने के समय यह दृष्टि रही है कि इस व्याख्या को कालानुक्रम से रखा जाना चाहिए। परन्तु आगे यह अनुभव किया गया कि सन्तों की उपलब्ध काव्य-सामग्री के आधार पर इस प्रकार का क्रमिक अध्ययन प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। पहले तो सन्तों के काव्य-ग्रन्थों के

प्रामाणिक संस्करण बहुत कम उपलब्ध हैं। वैसे भी लोक में प्रचलित रहने तथा साम्प्रदायिक परम्पराओं द्वारा सुरक्षित रखे जाने के कारण सन्त-साहित्य के रूप को निश्चित कर पाना तथा उसका निश्चित रचना-काल निर्धारित कर पाना आसान नहीं है। इसके साथ ही, इस काव्य में लोक-जीवन से सम्बद्ध जो सामग्री-सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, वे जीवन के इन पक्षों की रूपरेखा प्रस्तुत करने में तो सहायता करते हैं, पर इनके आधार पर पक्षों के ऐसे सूक्ष्म और विविध रूपों का विवेचन करना सम्भव नहीं हो सका है जिससे इस लम्बे काल के विविध युगों की परिवर्तित मनोवृत्ति पर प्रकाश पड़ना सम्भव हो सका।

इस प्रकार एक ओर सन्त-काव्य के बारे में इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह समस्त काव्यपरम्परा १५वीं शताब्दी से लेकर १८वीं शताब्दीं तक फैली हुई है; इस कारण अपने अनिश्चय की स्थिति में भी यह सारा साहित्य इन शताब्दियों के बीच की रचना तो माना ही जा सकता है। दूसरी ओर इस काव्य के अन्तर्निहित सन्दर्भों के आधार पर, जो लौकिक-पृष्ठभूमि निर्मित हो सकी है, वह जीवन के व्यापक तत्त्वों और दृष्टियों पर ही आधारित है और मध्ययुग का जीवन इतना गतिशील नहीं रहा है कि इन शताब्दियों में जीवन अपनी व्यापक रूपरेखाओं में अधिक परिवर्तित हो सका हो। इस प्रकार सन्त-काव्य की लौकिक-पृष्ठभूमि इस शोध-कार्य में प्रस्तुत की गयी है, उसमें कई शताब्दियों के युग-जीवन को प्रायः एक साथ ही प्रस्तुत किया जा सका है।

प्रबन्ध के अन्तिम प्रकरण में सन्त-काव्य की अभिव्यक्ति पर लोक-संस्कृति की दृष्टि से भी विचार किया गया है। वस्तुतः यहाँ लोक-शब्द अपने विशिष्ट अर्थ में ग्रहण किया गया है। सन्तों की दार्शनिक चिन्तनधारा, धार्मिक भावना, साधना तथा काव्याभिव्यक्ति में किस सीमा तक लोक-तत्त्वों का प्रवेश हुआ है अथवा उनमें लोक-मानस का कहाँ तक आधार स्वीकृत रहा है, इस दृष्टि से इस प्रकरण में विचार किया गया है। परन्तु यहाँ केवल सैद्धान्तिक चर्चा तथा निष्कर्षों तक ही विवेचन को सीमित रखा गया है। एक तो सम्पूर्ण अध्ययन में लौकिक सन्दर्भ जिन रूपक, उपमान, दृष्टान्त तथा प्रतीकों के आधार पर ग्रहण किये गये हैं, वे सब सन्तों के द्वारा दार्शनिक, धार्मिक तथा आचरण सम्बन्धी चिन्तनों में अथवा साधनापरक भावाभिव्यक्ति में प्रयुक्त हुए हैं। दूसरे लोक-तात्विक दृष्टि से सन्त-काव्य का विवेचन करना प्रस्तुत शोध का प्रमुख क्षेत्र नहीं है।

———

सन्तों की जन्मभूमि अर्थात् लौकिक-क्षेत्र

१—कबीरदास, काशी, उत्तरप्रदेश ।
२—पीपा, काशी, उत्तरप्रदेश ।
३—सेना, बाँधौगढ़, मध्यप्रदेश ।
४—रैदास, काशी, उत्तरप्रदेश ।
५—धन्ना, धुवन गाँव, टाँक इलाका, राजस्थान ।
६—नानक, तलवड़ी, रावी नदी के किनारे, पञ्जाब ।
७—अङ्गद, मत्तेदि, सराय गाँव, फीरोज़पुर, पञ्जाब ।
८—अमरदास, बसरका गाँव, अमृतसर, पञ्जाब ।
९—सिंगाजी, खजूर गाँव, रियासात बड़वानी, मध्यप्रदेश ।
१०—रामदास, लाहौर, पञ्जाब ।
११—शेख फ़रीद, कोटीवाल गाँव, दीपालपुर, पञ्जाब ।
१२—धरमदास, बाँधौगढ़, मध्यप्रदेश ।
१३—दादू, अहमदाबाद, गुजरात ।
१४—वषना, गाँव साँभर के पास, राजपूताना ।
१५—हरिपुरुष, कापड़ोद गाँव, डीडवाणा परगना ।
१६—अर्जुन, गोयन्दवाल, पञ्जाब ।
१७—रज्जब, साङ्गानेर गाँव, जयपुर के पास, राजस्थान ।
१८—मलूक, कड़ा गाँव, इलाहाबाद, उत्तरप्रदेश ।
१९—यारी, भुड़कुड़ा, गाज़ीपुर ज़िला, उत्तरप्रदेश ।
२०—हरगोविन्द सिंह, वड़ाली गाँव, पञ्जाब ।
२१—सुन्दरदास, धौसा जयपुर के पास, राजस्थान ।
२२—प्राणनाथ, जामनगर, काठियावाड़ ।
२३—दरिया (वि०), धरकेयाँ गाँव, शाहाबाद जिला, बिहार ।
२४—दूलनदास, समेसी, लखनऊ के पास, उत्तरप्रदेश ।
२५—बुल्ला साहब, भुड़कुड़ा, गाज़ीपुर, उत्तरप्रदेश ।
२६—धरनीदास, मांझी गाँव, सारन जिला, बिहार ।
२७—गोविन्द सिंह, पटना प्रचार केन्द्र, पञ्जाब ।

२८—जगजीवन, सरहदा गाँव, जिला बाराबंकी, उत्तरप्रदेश।
२९—दसरथा मा०, जैतरन गाँव, मारवाड़, राजस्थान।
३०—चरनदास, जेहसा गाँव, मेवाड़, राजस्थान।
३१—सहजोबाई, डेहरा गाँव, मेवात प्रदेश।
३२—गुलाल साहब, बंसहरि, सदियाबाद, गाजीपुर उत्तरप्रदेश।
३३—दयाबाई, डेहरा गाँव, मेवात प्रदेश।
३४—गरीबदास, छुड़ानी गाँव, जिला रोहतक, पञ्जाब।
३५—पानपदास, धामपुर गाँव, जिला मुरादाबाद, उत्तरप्रदेश।
३६—रामचरण, सीढ़ी गाँव, डूंडाण प्रदेश, जयपुर, राजस्थान।
३७—पलटू, नागपुर जलालपुर, जिला फैजाबाद, उत्तरप्रदेश।
३८—भीखा साहब, खानपुर धोला गाँव, जिला आजमगढ़, उत्तरप्रदेश।
३९—तुलसी साहब, पूना जन्म, हाथरस, जिला अलीगढ़, प्रचार केन्द्र।

भारतवर्ष

संतों की जन्मभूमि अर्थात् लौकिक क्षेत्र

प्रथम प्रकरण

लौकिक पृष्ठभूमि की व्याप्ति

लोक-शब्द का व्यवहार परम्परा से सन्तों ने अनेक अर्थों और सन्दर्भों में ग्रहण किया है। इनके अध्ययन से सन्तों की लोक सम्बन्धी दृष्टि अधिक स्पष्ट होती है और साथ ही इस आधार पर हम सन्त-साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि का अधिक स्पष्ट विवेचन कर सकेंगे। सामान्यतः सन्तों की साधना आध्यात्मिक है अर्थात् उसे पारलौकिक अथवा अलौकिक कहा जा सकता है जो लोक के विपरीत है। वैसे देखा जाय तो सन्तों का लोक-संसार से क्या प्रयोजन? उन्होंने तो सदा संसार त्याग पर ही बल दिया है। उनके लिए लोक माया है, भ्रम है, प्रपञ्च है, स्वप्न है। कबीर कहते हैं—'कामिरणी नागिरणी तीन्यू लोक मंझारि' यह संसार, तीनों लोक काली नागनी से लिपटा है।[1] परन्तु सन्तों की साधना-पद्धति और जीवन-दृष्टि में विचित्रता भी है कि इसमें अनुभव का आधार इसी लोक का जीवन माना गया है। जीवन-लोक को त्याग कर आध्यात्मिक उपलब्धि को इन्होंने स्वीकार नहीं किया। नानक कहते हैं—'इह लोक सुखीचे पर लोक सुहेले, नानक हरि पद आपहि मेले।'[2] इन विभिन्न दृष्टियों की सङ्गति के लिए सन्त-साहित्य में लोक-शब्द के प्रयोग के भिन्न अर्थों तथा सन्दर्भों पर विचार कर लेना आवश्यक होगा।

लोक-शब्द का प्रयोग—परम्परा का सबसे प्रचलित अर्थ लोक का है 'संसार' और इस अर्थ में इस शब्द के प्रयोग की सन्त-साहित्य में अत्यधिक व्याप्ति है। इस अर्थ में यह शब्द प्रायः विशेषण के साथ प्रयुक्त हुआ है, पर कई स्थानों पर स्वतन्त्र प्रयोग भी देखा जा सकता है—"लोक पती ने कछु न होये राम अयाना"[3] पर ऐसे प्रयोग भी विश्व के विभाजन को व्यक्त करने के प्रसङ्ग में ही हुए हैं, यथा—'सरब लोक माइया के मण्डल गिरि

१—क० ग्र; पृ० ३६; २०; १. २—गु० ग्र०; पृ० २६३; ४. ३—पा० क० ८४–३.

पड़ते धरती'[१] अथवा 'सर्वलोक पूरन प्रतिपाल'[२] में सभी लोक अथवा सम्पूर्ण लोक कहने में विश्व-विभाजन की भावना प्रधान है। तुलसी साहब ने 'जग लोक' कह कर इस संसार के अर्थ को व्यक्त किया है।[३]

परम्परा द्वारा सर्वप्रचलित विश्व का विभाजन तीन लोकों का माना गया है—स्वर्ग, पृथ्वी, पाताल। सन्त-साहित्य में सारे विश्व के विभाजन को व्यक्त करने के लिए 'तीन-लोक' कहने की प्रवृत्ति अधिक मिलती है। अनेक बार सर्व अथवा सरब लोक कहकर सन्त इन लोकों का उल्लेख करते हैं, पर सर्व कहने में ध्वनि सारे सर्जन की भी आती है। 'सर्वलोक माइया के मण्डल'[४] में तीन लोक का भाव और "सब्बे सर्व लोक में गाजे"[५] में व्यापक सर्जन का भाव है। परन्तु यहाँ यह विचारणीय बात है कि 'तीनों लोकों' के उल्लेख में सन्तों का यह भाव सदा व्यक्त हुआ है कि वे इनके द्वारा सर्जन-प्रक्रिया में अभिव्यक्त होने वाले सृष्टिरूप विश्व का भाव प्रकट नहीं कर रहे हैं, केवल मायामय लोकों की चर्चा कर रहे हैं—"राम नाम हिरदे धरि निर-मौलिक हीरा, सोभा तिहुँ लोक तिमिर जाय त्रिवधि पीरा"।[६] कबीर यहाँ तीनों लोकों को इस संसार लोक के समान तिमिराच्छन्न मानते हैं। उनकी दृष्टि में माया-प्रपञ्च की दृष्टि से तीनों लोकों में कोई अन्तर नहीं है—'कामणी काली नागणी तीन्यू लोक मँझारि।'[७] कबीर ने स्पष्टतः ब्रह्माण्ड में जो सृष्टि का पर्याय माना जा सकता है, तीन लोकों की स्थिति मानी है—'तीन लोक ब्रह्माण्ड में सबके भरतार।'[८] जहाँ स्वामी रूप में सर्जक की कल्पना है वहाँ 'त्रिलोकनाथ' कहने में भी यही भाव व्यञ्जित हुआ है—'त्रिलोकनाथ तारे कितक अनाथ।'[९] तीनों लोकों को माया और ब्रह्म की सृष्टि कह कर सम्पूर्ण सर्जन के रूप का सङ्केत कभी-कभी मिल जाता है—'माया ब्रह्म को मेल है तीन लोक विस्तार।'[१०] अथवा राम की व्याप्ति की दृष्टि से तीन लोकों का उल्लेख किया गया है—'राम नाम तिहुँ लोक में सकल रहा भरपूरि'[११], वहाँ भी सर्जन का अर्थ लिया जा सकता है। यह

१—अर्जु० गु०; २१५-४, ४-१६५. २—अर्जु० गु०; १६४—२. ३—वाणी ६८, १३—५. ४—गु० ग्र०; म० ५; २१५; ४-४-१६२. ५—गरी०; १५६; ७ ६—कबी० ग्र०; १६७; ३२१ ७—क० ग्र०; ३६; २०; १. ८—पा० म०; ३-२. ९—गु० महा० वा०; ४६; १२६, १०—सं० दा०; २३; २२, २. ११—क० ग्र०; ५३; ८.

भी स्पष्ट भाव आता है कि तीन लोक ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत हैं।[१] सम्पूर्ण सन्त-साहित्य में तीन लोकवाची अनेक शब्दों का प्रयोग मिलता है--त्रिभुवन त्रिलोक, त्रैलोक, तीनिलोक, तिहुँ लोक, तीन्यू लोका, तिनिऊ लोका आदि। सन्तों ने चौदह लोकों के पौराणिक विभाजन को कभी-कभी स्वीकार किया है, पर इनको यम-लोक माना गया है[२] और इनसे मुक्त होने के लिये गुरु को नौका कहा गया है।

जैसा कहा गया है, तीन लोकों के विभाजन में मृत्यु-लोक अर्थात् पृथ्वी लोक के लिए साधारण लोक-शब्द का व्यवहार किया गया है[३] और मृत्यु-लोक कहकर भी उल्लेख किया गया है। दरिया साहब (बि०) तीन लोक के बाहर 'पुरुष' की स्थिति बतलाते हुए स्वर्ग-पाताल के साथ मृत्यु-लोक का उल्लेख करते हैं।[४] इसी प्रकार भ्रमजाल (माया) के प्रसार के सम्बन्ध में भी मृत्यु-लोक की गणना है।[५] अन्यत्र संसार के लिए मृत्यु-लोक का प्रयोग किया गया है--'बहुत बिलद मृत्यु लोक बसाया, मन रंभा रामे अरुझाया।'[६] कहीं मरणशीलता के कारण संसार को मृत्यु-लोक कहा गया है—'नेड़े दीसे मृत्यु लोक तू घू सूझे दूरे।'[७] पाताल लोक का उल्लेख केवल लोकों की गणना में हुआ है।[८] पाताल के लिये सुतल-लोक का प्रयोग भी किया गया है—'सुतल लोक बलि को दिया, इन्द्र को स्वर्गराज।'[९] स्वर्ग-लोक का साधारण लोक-विभाजन में उल्लेख हुआ है, पर साथ ही स्वर्ग-लोक की चर्चा करते समय सन्त उसके प्रति न आदर का भाव प्रकट करते हैं और न उसे अपने लिए स्पृहणीय ही मानते हैं। कबीर स्वर्ग पर व्यङ्ग करते हैं—'सरग लोक में क्या दुख पड़या तुम आई कलि मांही।'[१०] कबीर स्वर्ग को भी वाञ्छनीय नहीं मानते--'सरग लोक न वाछिये डरिये न नरक निवास।'[११] अन्य सन्तों ने भी इन्द्रलोक को माया की ज्वाला में जलता बताया है—'सिव विरंचि और इन्द्रलोक तामहि जलतो फिरिया।'[१२] स्वर्ग-

१—क० ग्र० : पा० : : प ३—२, १५७—६. २—धरमदास की वाणी; ३०; १-२. ३—सं० दा० : ६ : ८७. ४—द० वि० : १६७ : २६, ७. ५—द० वि० : १२६ : १५; ८. ६—द० वि० : १३ : २८ : ७. ७—ग्र० म० ५ : ६६७ : ५. ८—द० वि० : १२६ : १८; ५ अथवा १६७ : २६; ७. ९—उप० : ८० : ४८. १०—क० ग्र० : १८० : २७०. ११—क० ग्र० : १२६ : १२१. १२—ग्र० साह० : म ५ : २, ५२, ७५.

लोकवासी देवता भी यम की फाँस से मुक्त नहीं हैं,[१] यद्यपि पौराणिक साक्ष्य इसके विरुद्ध है। इन्द्रलोक के समान देवलोक भी स्वर्ग का पर्याय माना गया है और इसीलिए उसकी आशा करने वाले को भ्रमग्रस्त माना गया है—"देवलोक के आसा राखे, आपु न चीन्हे झूठे भाखे"।[२]

पर इन्हीं का पर्याय अमर-लोक, सन्तों में स्वर्ग से भिन्न परमपद के लोक के रूप में स्वीकारा गया है। परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि कबीर में अमर-लोक का प्रयोग नहीं है, धरमदास तथा दरिया साहब (बि०) में इसका परम-लोक के अर्थ में महत्वपूर्ण प्रयोग हुआ है। धरमदास अमर-लोक को बिना डोर-रसरी का अगम बतलाते है[3] और अपने गुरु कबीर के द्वारा वहाँ पहुँचने की बात कहते है—'साहेब लोक हंस के राजा अमर-लोक पहुँचाओ।'[४] यह सन्त साधक की साधना और मिलन की भूमिका है—'ऐसा अमर-लोक है खवधू, केवला फारे बारहमासा।'[५] इसी लोक के लिए हंस अपने शुद्ध स्वरूप में पयान करता है।[६] पलटूदास भी अपने जन्म को इसी लोक में डेरा डालने पर सुखी मानते हैं।[७] दरिया साहब (बि०) भी इसे आवागमन के शोक से परे तथा निःशोक अगम सागर मानते हैं।[८] इसी परम्परा में तुलसी साहब अमर-लोक में मोक्ष को बन्दी मानते हैं[९] और इसे अलौकिक बताते हैं—'अमर लोक एक अजर दूब, हद अनहद के पार खूब'।[१०]

सन्तों ने इस लोक की चर्चा अत्यधिक की है और इसके लिए अनेक नामों का प्रयोग किया है। इन नामों से बहुधा सन्त यह व्यञ्जित करना चाहते हैं कि यह लोक हमारे सम्पूर्ण ज्ञान से किस प्रकार परे है। नानक दास्य-भक्ति-भावना के अधिक निकट हैं और वे इसे हरि का लोक कहते हैं—'हरि के लोक सि साचि सुहले सखी यहि न हरि करे।'[११] इसको वस्तुतः सन्त पूरा अर्थात् पूर्ण लोक मानते हैं जो सभी लोकों से भिन्न और परे है—'धरमदास बिनवे कर जोरी पूरा लोक दियो।'[१२] कभी इसे पिता लोक भी कहा गया

१—स० दा० ५५ : ५७. २—गु०, भु० ३३९ : ८६३. ३—धरमदास : ११ : ५. २. ४—धरमदास : २६ : १६. ५. ५—धरमदास : ३० : १; २. ६—धरमदास : २८ : २४; ४, ७—पलटूदास भा० ३ : ९५ : १४७. ८—द० बि० : १० ११७ : १३ तथा ११ : ४ : ३९. ९—तु० सा० : १३१ : १४. १०—तु० सा० : ३१ : ८. ११—नानक : पृ० १ : १५४. १२—धरमदास : १ : २.

है—'पिता लोक आदि धाम' ।[१] बल देने के लिए सन्त इसे 'सोइ लोक'[२] अथवा 'वही लोक'[३] भी कहते हैं। भक्तों के समान अपने प्रभु के 'निजलोक' की कल्पना भी मिलती है—'धरमदास विनवे कर जोरी, देहु निजलोक निवासा।'[४] इस अनश्वर लोक को 'अजर' लोक भी कहा गया है।[५] इसे 'धाम लोक' जिसकी स्थिति तुलसी साहब ने चौथी मानी है, से अकथनीय तथा अलौकिक मानी है।[६] इसी लोक में सन्त-साधक अनहद शब्द सुनता है, अतएव इसे 'अगम अनहद लोक' भी कहा गया है।[७] दरिया इसे 'निर्मम लोक' कहते हैं क्योंकि यहाँ साधक ब्रह्म-तत्व से एकमेक हो जाता है।[८] साधक इससे अनहद-शब्द की ध्वनि सुनते हैं। 'अगम अनाहद लोक को दरिया निर्भय लोक, इसलिए कहते हैं कि यहाँ साधक निर्भीक विचरता है। बिहार वाले दरिया साहब इसे 'छय लोक' कहते हैं जो समस्त ज्ञानात्मक लोकों से परे है जहाँ जाकर फिर वापस नहीं आना होता।[९] अन्तिम सत्य रूप में स्वीकार करने के कारण सन्त इसे 'सत्त लोक' भी कहते हैं।[१०] कबीर तथा धरमदास में 'सन्तलोक' को परमलोक के रूप में सबसे अधिक स्वीकार किया गया है—'हंस चले सतलोक पुरुष के पास रे।'[११] हंस परमपुरुष के पास सतलोक जाता है। इसी का दूसरा रूप 'सत्य लोक' भी प्रयुक्त हुआ है।[१२] तुलसी साहब में 'सन्तलोक' का विशेष महत्व-गान है, उन्होंने लोकों की क्रम-कल्पना को अत्यधिक महत्व दिया है।[१३] इसी लोक को सन्तों ने अपना लोक अर्थात् 'सन्तलोक' माना है।[१४] इसी को अन्ततः सन्त 'अनन्त लोक' भी कहते हैं—'अनन्त लोक उदित जाके अकथ कथ भारी।'[१५]

लोक-शब्द का प्रयोग साधारण संसार के अर्थ में भी व्यापक रूप से हुआ है; यहाँ विश्व के विभाजन की दृष्टि नहीं है—'नाव मेरी डूबी रे भाई-ताते

१—भी० : पृ० ४६७ : १२४५. २—क० ग्र० : ९ : ३ : ३६. ३—धरमदास २ : ५. ४—धरम० : १२ : ३, ४. ५—सु० : ८९ : १०; ४. ६—तु० : १०६ : १४ : ११८ : १७. ७—गरी० : १९ : ९२, ८—दरिया० बि० : १५४ : २२ : १७. ९—दरिया० बि० : ६४ : १, ९१ : १३८ : १८, ५. १०—गु० : १६६ : ४४२. ११—धरम० : ३६ . १२ : ५. १२—सु० ग्र० : २०६ : ७। बदली० ३५, ३६४. १३—तु० : ७० : २२. १४—धरम० ४० : ३ : ५ गु० १५२ : ३१. १५—चतु० : १४० : ३९६.

चढ़ी लोक बड़ाई।'[1] यहाँ ऐसे स्थलों पर लोक व्यापक संसार अथवा सांसारिकता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—"लोक कहे यह भरम भुलाना।'[2] शेख फ़रीद जब "लोका आयो आपणी में आपणी पाई" कहते हैं तब उनका भाव, लोक से व्यापक संसार से ही है जिसमें संसार के लोग ही आते हैं। इस अर्थ में इस शब्द का सन्तों में व्यापक प्रयोग है—'लोक बोले इकाताई हो' अथवा 'लोक पंथि लगाई'।[3] लोक के साथ वेद शब्द का बहुत व्यापक प्रयोग सन्तों के साहित्य में मिलता है। यहाँ लोक का अर्थ वेद के प्रतिकूल लोक-परम्परा से है। वेद का अभिप्राय शास्त्र की मर्यादा से है और लोक का अर्थ जनता में प्रचलित परम्परा से है। कबीर लोक को 'लोक वेद' की परम्परा में बहता हुआ बतलाते हैं और सतगुरु को ही उद्धारक मानते हैं—'पीछा लागा जाइ था, लोक वेद के साथ। आगे से सतगुरु मिला, दीपक दीया हाथि।'[4] कबीर 'लोक-वेद' दोनों परम्पराओं से बिछुड़ने पर ही शून्य में समाहित होने की स्थिति मानते हैं।[5] भीखा भी दुनियाँ को लोक वेद के मत में स्थापित मानते हैं।[6] गुलाब भी 'लोक वेद' में संसार को अटका मानते हैं। पलटू के अनुसार सन्त-साधक के लिए यह मार्ग चलना सम्भव नहीं है—'लोक-वेद की रहा चला हमसे नाहिं जाहि।'[7] बुल्ला साहब भी सन्त को 'लोक-वेद से न्यारा' ही मानते हैं।[8] वस्तुतः लोक-वेद दोनों ही ज्ञान की जो परम्पराएँ हैं उनसे सत्य का 'अगम अपार अनभो' है[9] पर जन्म लेने वाले प्राणी को लोक-वेद ऐसे घेरे रहता है कि वह उसी में नष्ट होता रहता है।[10] और यह फाँसी आठ पहर लौ लगाने से ही छूट सकती है।[11]

इसी प्रसङ्ग में लोक-परलोक के प्रयोग पर भी विचार किया जा सकता है। यहाँ लोक, सांसारिकता के अर्थ में परलोक की आध्यात्मिकता के अर्थ के विपरीत प्रयुक्त हुआ है। जो लोक का है संसार का है और जो परलोक का है वह आध्यात्मिक है। लोक के भाव को स्पष्ट करने के लिये इह लोक भी कहा गया है—'इह लोक सुखीये पर लोक सुहेले, नानक हरि पद आपहिं मेले।'[12] यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि परलोक, स्वर्ग लोक नहीं है,

---

१—रै० :४; ५. २—बुल्ला : ३० : १७. ३—कबीर : १०४ : ५०।११६ : ८८. ४—कबीर: १:११. ५—कबीर : १३७ : ५०. ६—भीखा : १२८ : २६१. ७—पलटू : १ : ९२ : २०४. ८—बुल्ला : २८ : ७५. ९—गुला० : ३५:६५. १०—गुला०: ७५:२१७. ११—गुला०: १५२:३३. १२—गुरु० ग्र० : पृ० २९३:४.

यह आध्यत्मिक उपलब्धि है—'आगे से परलोक बनत है'।[१] यहाँ जागने से भाव ब्रह्म-चेतना का है। यही पार ब्रह्म का लोक है, यही अनाहद लोक है।[२] तुलसी साहब के अनुसार जीव अपने कर्म-बन्धन में परलोक को हँसाता है।[३] कबीर इसी लोक को 'लोका पन्थि' भी कहते हैं, उनका भाव यहाँ साधारण जीव की सांसारिक प्रवृत्ति से है[४] और नानक ने इसे 'लोक मत' कहा है।[५]

'लोक' शब्द का एक सामान्य अर्थ माया का है जो साधारण सांसारिकता के निकट ही है, केवल यहाँ सांसारिकता के साथ प्रपञ्च की व्यञ्जना भी हुई है। गुलाल के अनुसार इस 'लोक पसारा' में अहङ्कारवश जीव नष्ट हो रहा है—'जब फिर देखत लोक पसारा, हम हमार करि लोक सभहि अपनी सुधि कबहिं नहि आई'।[६] और अन्यत्र कहते हैं कि इस 'लोक पसारे' में कर्म त्याग करना सहज नहीं है।[७] कबीर भी 'लोका जानि न भूलहु भाई' कह कर माया के प्रपञ्च से सतर्क करते हैं।[८]

कभी सामान्य सांसारिकता से अधिक स्पष्ट जन-साधारण अथवा लोक-समाज के अर्थ में भी सन्तों में 'लोक' शब्द का प्रयोग मिलता है—'बोढ़न हमरे एक पछेवरा, लोक बोले इकताई हो'।[९] परन्तु ऐसे प्रयोग साधारण संसार के अर्थ के प्रायः निकट हैं—'लोक पूजावहिं घर-घर जाई, दोजक कारन भिश्त गँवाई'[१०] अथवा 'याही मता लोक मन माना, अरुझि रहा सव भाई।' यहाँ लोक का अर्थ जन-समाज ही अधिक है और व्यापक रूप से इसी को संसार भी कहा जाता है। इसी के साथ सन्तों में 'लोक लाज', 'लोकाचार' तथा 'लोक पचारा' शब्दों का प्रयोग हुआ है जिसके अर्थ में सामाजिकता का भाव प्रधान है। इस 'लोक लाज' अर्थात् साधारण सामाजिक मर्यादा को सन्त, सत्य नहीं मानते—'कबीर लज्या लोक की सुमिरें नाहिं साँच'।[११] कबीर कहते हैं कि इस 'लोक लाज' को छोड़ना ही पड़ेगा—'लोक लाज कुल की मरजादा तोरि दियो जैसे धागा'।[१२] आध्यात्मिक साधना मार्ग के पथिक सन्त गरीब कहते हैं—'लोक लाज नहिं कीजिये'।[१३] दरिया (बि०)

१—पलटू: भा० ३:८१:१२४. २—गरीब० : १०:१।१६ : ६२। ३—तु०: १२७:१६. ४—कबीर : ११६ : ८८. ५—गु० ग्र०:३५८:४.२–११६:८८. ६—गुला० : भु० ३२२ : ८३३. ७—गुला०: भु० ३००: ७६५. ८—क० ग्र०: १८५ :१. ९—क० ग्र० : १०४ : ५०. १०—गुला० : भु० ७१ : २०५. ११—कबी०:४३ :१२:१५. १२–कबी०: १६:६. १३—गरी० :२१६:१७.

कहते हैं—'लोक लाज सकल कुल गारी, तोरि डारि सब जग परचारी।'[१] पलटू कहते हैं—'लोक लाज तोड़ें नहीं, पल्टू चाहे राम'[२]। भीखा का कहना है—'लोक लाज कुल कर्म सतैया, मन डूबत नहिं राखि लिबैया'[३] और इसी प्रकार मलूक, तुलसी साहब, भीखा, धरनी आदि भी 'लोक लाज' को सन्तों के लिये त्याज्य कहते हैं। वस्तुतः समाज की मर्यादाएँ सीमा को दृष्टि में रखकर हैं और ये सन्त असीम अध्यात्म के उपासक हैं।

कबीर 'लोक लाज' के साथ 'लोक चारु' को भी छोड़ने को कहते हैं—'परिहरु लोभ अरु लोका चारु'।[४] वस्तुतः लोक की मर्यादा के अनुसार उसका आचरण भी तो निर्धारित होता है, अतः सन्तों के लिए इस आचरण का भी महत्व नहीं है। वैसे कबीर ने 'लोकाचार' को वेद-शास्त्र के व्यवहार से भिन्न माना है[५] अर्थात् शास्त्रीय आचरण और लोक-आचरण का भेद उनकी दृष्टि में स्पष्ट है। गुरु अर्जुनदास की वाणी में भी और सब बातों को 'लोकाचार' मात्र माना गया है।[६] धरनीदास भी आध्यात्मिक जीवन के क्षेत्र में वेद के भाव के साथ 'लोकाचार' विचार को भी स्वीकार नहीं करते।[७]

लौकिकता का स्वरूप—वस्तुतः सन्तों में लोक-शब्द का प्रयोग जिन विभिन्न अर्थों और सन्दर्भों में प्राप्त होता है उनकी परम्परा भारतीय वाङ्मय तथा इतिहास से ही ग्रहण की गयी है। विश्व-विभाजन के रूप में लोक-शब्द का प्रयोग वैदिक-साहित्य से प्रारम्भ होता है, परन्तु 'वहाँ पितर लोक'—ऋ० ११; १४; ९—'द्यो लोक' आदि के साथ लोक का सन्दर्भ लोक-परलोक की भावना का आधार अधिक प्रस्तुत करता है। विश्व-विभाग तथा देश-विभाग के रूप में लोक-शब्द का प्रयोग पौराणिक साहित्य में अधिक विकसित हुआ है। वहीं से कवि-शिक्षा ग्रन्थों में लिया गया है। लोक और परलोक की भावना का विकाश उपनिषद्-साहित्य के साथ गीता में देखा जा सकता है। 'गीता' में लोक का प्रयोग इस लोक के अर्थ में प्रायः हुआ है। 'महाभारत' के समय तक लोक तथा वेद की दो परम्पराओं को स्वीकार कर लिया गया है जो बाद में

१—दरि० बि० : ४३ : ४, ९. २—पलटू : ३ : ११६ : १५५. ३—भीखा : १३५ : ३८२. ४—कबीर : ७७ : ३. ५—कबीर : २०७ : ३५६. ६—गु० ग्र० : ५ : ८०४ : ४, ६, ११. ७—धरनीदास : ३६ : ५.

निरन्तर चलती रही हैं। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में विराट् पुरुष रूप में सम्पूर्ण लोक समाज की कल्पना सन्निहित है। यहाँ पर लोक के रूप में समस्त मानव को, मानव-समाज को तथा प्रजाजन को ग्रहण की अर्थ परम्परा का स्रोत माना जा सकता है। पाली साहित्य में अनेक स्थलों पर 'लोक' शब्द का प्रयोग संसार के अर्थ में हुआ है[1] (सम्पूर्ण प्राणियों के अर्थ में भी) और अशोक के शिलालेखों में[2] लोक का प्रयोग समस्त प्रजाजन के अर्थ में हुआ है। बौद्ध-धर्म की भावधारा के साथ 'लोक' मानव मात्र के भावों से विभूषित हुआ है। प्राकृत अपभ्रंश-साहित्य में प्रयुक्त 'लोक जनः', 'लोक जत्ता', लोअप्प-वाय,' 'लोक प्रवाह' आदि शब्द भी लौकिक नियमों अथवा लोक (संसार) की सत्ता को स्वीकार करते हैं।

आधुनिक काल में 'लोक' तथा 'लोक तत्व' शब्दों का प्रयोग निश्चित पारिभाषिक अर्थ में किया जाने लगा है। यद्यपि इस पारिभाषिक व्यवस्था ने परम्परा के अर्थ को त्यागा नहीं है, फिर भी उसकी सीमा के अन्तर्गत अथवा उसके सन्दर्भ में इस अध्ययन को बाँधना हमारा उद्देश्य नहीं है। इस कारण उसको प्रस्तुत करके उससे इस अध्ययन के अन्तर्गत लौकिकता के स्वरूप की सापेक्षता को निर्धारित कर लेना भी आवश्यक है। लोकवार्त्ता के विशेषज्ञ चेतना-सङ्कुर्षित अवचेतन मानस को ऊपरी पर्त मानते हैं, यह ऐतिहासिक या उपार्जित अवचेतन है और मनोविश्लेषण का क्षेत्र यही स्तर रहा है। इस अवचेतन का निचला स्तर उत्तराधिकारावतरित सहज मानस है और यह मानस ही मूलतः लोक-तत्व का निर्धारक है। वह मनुष्य की प्रत्येक अभिव्यक्ति में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है।[3] इस दृष्टि से लोक, मनुष्य-समाज का वह वर्ग माना जा सकता है जो अपने सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति इसी मानस के स्तर पर करता है,—'जो अभिजात्य संस्कार शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना और अहङ्कार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है।'[4] यहाँ सन्त-साहित्य की लौकिक

१—सुखा मताप्येते लोके अथो पताच्यते सुखा।

सुख समाजता लोके अथो ब्राह्मअजा सुखा ।।—धम्मपद

२—ना० प्र० प्र०, वर्ष ६४, अ० १, भा० सन्दर्भ में लोक-सङ्गीत से उद्धृत। ३—सत्येन्द्र—लोकतत्व-दर्शन तथा अध्ययन; हिन्दी अनुशीलन; धीरेन्द्र वर्मा विशेषाङ्क। ४—लोक; सत्येन्द्र; हिन्दी साहित्य कोश।

पृष्ठभूमि का विवेचन केवल इस पारिभाषिक 'लोक' के अर्थ में करना उद्देश्य नहीं है और न केवल इन्हीं लोक-तत्वों का अध्ययन करना इस साहित्य में करना अपेक्षित है। यह भिन्न बात है कि सन्तों ने वेद का, अभिजात्य का और पाण्डित्य का घोर विरोध किया है, पर जैसा कि पहले ही निर्देशित किया गया है, 'वेद' के साथ 'लोक' परम्परा को भी इन्होंने स्वीकृति नहीं दी है। उनका मार्ग 'लोक-वेद' दोनों से अलग है, वे तो आध्यात्मिक जीवन के आकांक्षी साधक हैं।

परन्तु इसके बावजूद यह नहीं कहा जा सकता कि सन्त-साहित्य केवल आध्यात्मिकता, अलौकिकता अथवा पारलौकिकता का साहित्य है। उनका विश्वास, उनकी साधना, उनके जीवन का लक्ष्य, आदर्श अथवा उपलब्धि भले ही आध्यात्मिक हो पर जिस आधार पर इन दिशाओं का सन्तों ने अनुसन्धान किया है, वह लौकिक है। विशेषकर, जब सन्तों के साहित्य का प्रश्न है तो उसमें किसी स्तर की लौकिकता भी स्वीकृत ही होगी। साहित्य, मात्र अनुभव नहीं है। साक्षात् नहीं है, उपलब्धि नहीं है, वह अभिव्यक्ति भी है, प्रत्यक्ष भी है और प्रेषण भी है। अर्थात् साहित्य की प्रकृति में ही लोक अर्थात् समाज की भावना अन्तर्निहित है।

सन्त-साहित्य की इस स्थिति और सम्भावना से सन्तों की लोकपरक दृष्टि का स्पष्टीकरण भी होता है। इस साहित्य से यह व्यक्त होता है कि सन्त, मात्र अनुभव और साक्षात्कार करने वाले साधक नहीं थे। उन्होंने अपने युग के लोक-जीवन को व्यापक रूप में देखा था, परखा था। उसके यथार्थ ज्ञान के आधार पर उन्होंने अपनी दृष्टि को विकसित किया है। ऐसा भी नहीं कि एक बार 'माया' के इस 'प्रपञ्चमय' और 'भ्रामक' स्वरूप से विचलित होकर उन्होंने लोक-जीवन से पलायन किया हो और किसी गुह्य अथवा रहस्य-साधना में लीन हो गये हों। उन्होंने सम्पूर्ण लोक-समाज को अपने दृष्टि-पथ पर सदा रखा है।

उनकी साधना व्यक्तिपरक से अधिक मनुष्यपरक और व्यक्तिनिष्ठ के स्थान पर समाजनिष्ठ है। वैसे तो लगता है सन्त आध्यात्मिक जीवन को एक मात्र सत्य मानने वाले साधक हैं, जिनकी दृष्टि में लोक, समाज, व्यावहारिक जीवन आदि का कोई महत्व नहीं है। पर मनुष्य पर अपनी दृष्टि केन्द्रित रखने के कारण साधना की भूमिका में उन्होंने सम्पूर्ण लोक

और समाज को स्वीकार किया है। वैसे तो मध्ययुग का सम्पूर्ण भक्ति-आन्दोलन मानवतावादी इस आधार पर प्रतिष्ठित होता रहा है, पर सन्तों ने अपनी 'सहज-साधना' के लिए इस भूमिका को अनिवार्य माना है।

सन्तों की प्रधान भावना संसार त्याग की नहीं है, वरन् जीवन में असङ्ग रहने की है। एक स्तर पर संसार और उसके जीवन को स्वीकार कर लेने के कारण इनको सांसारिक जीवन के यथार्थ को 'आध्यात्मिक सन्दर्भ' में भी पूर्णतया ग्रहण करना पड़ा है। उनका सिद्धान्त न ऐसे विरक्तों का था जो संसार को भयाभय और प्रपञ्चमय मानकर त्याग देते हैं और आध्यात्मिक जीवन की खोज में संसार को भूल जाने का प्रयत्न करते हैं। यह एक प्रकार से पलायन का मार्ग है। वस्तुतः इस स्थिति में संसार अपने समस्त आकर्षण और मोह से साधक को अपनी ओर खींचता रहता है और उसकी बलवती शक्ति के सामने अनेक बार ऐसा लगता है कि साधक अब विचलित हुआ, अब गिरा। इसी कारण सिद्ध आदि साधकों ने संसार के भोग के द्वारा उससे मुक्ति का उपाय किया था। पर संसार के भोग को काट कर निकल पाना भी बिरलों का काम है। सन्तों ने इन दोनों भागों को अवलम्बन नहीं किया। उन्होंने संसार को स्वीकार किया है, पर उसके कर्म के प्रवाह को, भोग को नहीं। भोग के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि जल में कमल के समान रहने की है। जीवन को अङ्गीकार करके साधना के इस मार्ग को ही सन्त 'सहज समाधि' कहते हैं।

जीवन को स्वीकार करने तथा लोक की भूमिका पर प्रतिष्ठित होने के कारण ही सन्तों ने एक ओर सांसारिकता अर्थात् उसकी माया, मोह, लिप्सा, मद, अहङ्कार, क्रोध आदि कु-प्रवृत्तियों का समुचित विवेचन किया है तो दूसरी ओर साधना के अनुकूल जीवन में दया, प्रेम, अहिंसा आदिक प्रवृत्तियों की स्थापना भी की है। जिस प्रकार जीवन के इस विवेचना तथा स्थापना में सन्तों ने अपनी जिस मानवी दृष्टि का परिचय दिया है तथा जिन मानवीय मूल्यों की स्थापना की है, उनके माध्यम से सन्त-साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि पर विचार करने का व्यापक आधार प्रस्तुत होता है। सन्त-साहित्य में लोक-जीवन की प्रचलित मान्यताओं के खण्डन की दृष्टि से विस्तृत परिचय मिलता है, इसी प्रकार साधना के अनुरूप वातावरण निर्मित करने के लिए इसमें मानवीय मूल्यों की व्यापक स्थापना भी मिलती है।

यही नहीं, उनके सम्पूर्ण पर्यवेक्षण और अनुभव की सीमा यही लोक-जीवन है। अनुभव-ज्ञान को सन्तों ने जीवन तथा साधना, दोनों के लिए स्वीकार किया है। उन्होंने अपने चारों ओर साधारण जीवन को ही केन्द्र में रखा है जिसमें उनका लालन-पालन हुआ है। शास्त्र-ज्ञान की उन्होंने अवहेलना की है और शास्त्र के सम्बन्ध में उनकी धारणा लोक-विश्वास पर ही आधारित है। कबीर, रैदास, नानक आदि सभी सन्तों ने शास्त्र, वेद, पुराण, कुरान, आदि के परे तत्व-ज्ञान को माना है।[१] शास्त्रीय परम्परा में न आने के कारण इन्होंने जिस प्रकार अनुभव को महत्व दिया है, उसी प्रकार साधना की इनकी पद्धति भी जीवन की पृष्ठभूमि को स्वीकार करके चली है। जिस प्रकार सन्तों ने सामाजिक आचरण की मर्यादा की साधना, जीवन के लिये अनिवार्य माना है, वैसे ही अपनी साधना का सामञ्जस्य इन्होंने लौकिक जीवन से किया है। इस स्थिति के कारण सन्त-साहित्य में लौकिक जीवन, विश्वासों, मान्यताओं और परम्पराओं की पर्याप्त पीठिका ग्रहण की गयी है।

लोक और परलोक—वैदिक काल में लोक और उसका जीवन प्रधान था। लौकिक जीवन की आकांक्षाओं; कामनाओं तथा आवश्यकताओं का गौरवपूर्ण ढङ्ग से आह्वान किया जाता था। पारलौकिक भावना के जिन सूत्रों को वैदिक साहित्य में सङ्कलित किया जा सकता है, उनकी प्रमुख प्रेरणा इस जीवन के भौतिक वैभव-विलास की है। स्वर्गलोक की कल्पना का मूलाधार यही है। उपनिषदों में अध्यात्म-चिन्तन की सूक्ष्म दिशाओं का विकास माना जाता है। निश्चय ही यह चिन्तन भौतिक जीवन अर्थात् लौकिकता से उठकर आत्म और ब्रह्म-तत्व की ओर अग्रसर हुआ है। यद्यपि इस चिन्तन-परम्परा में आत्म-तत्व को विभिन्न भौतिक तत्वों (कोषादिकों) से सम्बद्ध माना गया है, फिर भी इससे परलोक अर्थात् अध्यात्म-तत्व पर अधिकाधिक बल दिया गया है। परन्तु उपनिषदों की विचारधारा में लोक की अस्वीकृति नहीं है। बौद्ध-दुःखवाद के कारण बौद्ध-धर्म में संसार त्याग की भावना विकसित हुई है। लौकिक जीवन से पलायन

१—**रैदास—वेद कतेब कुरान पुरातन सहज एक नहीं वेषा'—रविदास और उनका काव्य; पृ० ६८ : ४ :; नानक—'सिमरित सासन्न, पढ़हि पुराण, वादु वखाणहि तत न जाना', :गु०ग्र०; पृ० १०३२.**

का मूल स्रोत भारतीय विचारधारा में यही माना जा सकता है। यह ठीक है कि इसके पूर्व यौगिक साधनाओं और भक्ति-भावना का विकास हो चुका था, जिनमें से प्रथम, साधक शरीर और मन को शासित करके लौकिक-जीवन से अपने को अलग करके किसी आध्यात्मिक-सत्ता में अपने को लीन करना चाहता है और दूसरे में, अपने भगवान् के प्रति भक्त अपनी सम्पूर्ण लौकिक कामनाओं (अर्थात् लौकिक जीवन) को समर्पित कर देता है। परन्तु इसमें किसी उच्च आध्यात्मिक जीवन की आकांक्षा से लोक के त्याग की भावना नहीं है, जब कि बौद्ध-धर्म की भावना में लोक-जीवन दुःख, क्लेश और क्षणिकता के कारण त्याज्य माना गया है।

इस प्रकार पारलौकिक जीवन और आध्यात्मिक-चिन्तन की ये परम्पराए रही हैं। एक में इस जीवन के आधार पर आध्यात्मिक जीवन को उपलब्ध करने का प्रयत्न स्वीकार किया गया है और दूसरी में लोक-जीवन को अस्वीकार करके अथवा उससे पलायन करके मुक्त होने की कामना की गई है। पहली परम्परा वस्तुतः भक्ति की है जिसमें भक्त लोक-जीवन को अस्वीकार नहीं करता , वरन् उसी को अलौकिक गरिमा प्रदान करने का प्रयत्न करता है। यही कारण है कि उनके भगवान् मानवीय जीवन ग्रहण करते है और अपने अवतारी रूप में लोक कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते हैं। इस प्रकार परलोक के लिए इन भक्तों ने लोक-जीवन को आधार माना है, लोक-भावनाओं को उद्धृत करने का प्रयत्न किया है। उनके भगवान् इस लोक में अवतार ले करके मनुष्य समाज में, लोक-लीला करके लोक की मर्यादा स्थिर करते हैं तथा शरणागति और भक्तवत्सलता द्वारा अपने भक्तों को अलौकिक जीवन की योग्यता भी प्रदान करते हैं।

दूसरी परम्परा ऐसे साधकों की है जो लौकिक-जीवन त्याज्य मानते हैं और आग्रहपूर्वक उससे अलग होना चाहते हैं। इस प्रकार लोक को अस्वीकार करके वे लौकिक-तत्व में रमना चाहते हैं अथवा विचरण करने का प्रयत्न करते हैं। यद्यपि इन साधकों को भी अनेक वार लोक की बलवती भावना ने परास्त किया है, और उससे सङ्घर्ष लेने के लिए इन साधकों ने आग्रह और बलपूर्वक इन भावनाओं और वृत्तियों को अपनी साधना की प्रक्रिया में ग्रहण किया है, पर यह सहजलोक-जीवन की स्वीकृति नहीं मानी जा सकती और अपनी असहज स्थिति के कारण ही इन साधकों की साधनाओं की परिणति स्त्री और गुह्य साधानाओं की नारकीयता में हुई। सिद्धों की इस स्थिति का

परिष्कार नाथों ने किया, परलोक को त्यागने का आग्रह उनकी योग-पद्धति में फिर आ गया है।

तत्ववाद के चिन्तन के क्षेत्र में एक सीमा तक बौद्ध-चिन्तन (नागार्जुन आदिक) के प्रभाव में शङ्कर ने अद्वैत की प्रतिष्ठा की जिसका प्रभाव और महत्व, भारतीय-चिन्तन में बहुत अधिक रहा है। इसमें लोक को, उसके जीवन को, उसकी समस्त योजना को मात्र माया, भ्रम अथवा प्रपञ्च माना गया है और एकमात्र आत्म-तत्व अथवा ब्रह्म-तत्व की स्थापना की गई है। कहा जाता है, स्वयं शङ्कर अपने सिद्धान्त को व्यावहारिक जीवन में लगाने के पक्ष में नहीं थे, बाद के रामानुजाचार्य आदि वेदान्तियों ने इसको लोक-जीवन के अधिक अनुकूल रूप में स्वीकार किया है।[1] इन्हीं से दार्शनिक-चिन्तन के आधार पर मध्ययुग का भक्ति-आन्दोलन सङ्गठित हुआ। इस भक्ति के आलम्बन रूप में एक ओर तो शक्ति-शील-सौन्दर्य समन्वित मर्यादा पुरुषोत्तम की कल्पना की गयी और दूसरी ओर लीलामय प्रभु की। परन्तु दोनों का लक्ष्य लोक-कल्याण तथा लोक-रञ्जन ही था। इस कारण भक्ति-आन्दोलन के रूप को लौकिक-पृष्ठभूमि से विरहित नहीं माना जा सकता।

सन्त अपनी परम्परा में सिद्धों तथा नाथों से सम्बद्ध माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रत्यक्षतः 'लोक वेद' दोनों का विरोध भी किया है। उनके खण्डनात्मक दृष्टिकोण से तथा लौकिक जीवन की कुत्साओं के प्रति उनके आक्रोश से भी यह आभास मिलता है कि ये लोक-जीवन के मूलतः विरोधी हैं और उससे अलग रहकर मात्र आध्यात्मिक-जीवन के आग्रही हैं। पर ऊपर कहा गया है कि ऐसा नहीं है। लोक-जीवन और समाज को भूलकर आत्मलीन रहने वाले ये साधक नहीं हैं। वे अपने सम्पूर्ण पारलौकिक चिन्तन और साधना में लोक को आधार रूप में स्वीकार करते हैं। अपनी इस दृष्टि में वे भक्ति-आन्दोलन की इस भावना से सम्बद्ध हैं। उन्होंने मनुष्य को स्वीकार किया है, अतः उनकी भक्ति और साधना मानवतावाद पर प्रतिष्ठित है जैसा कि उस युग की व्यापक भावना थी। परलोक के अर्थात् आध्यात्मिक-जीवन के लिए उन्होंने लोक-जीवन की अवहेलना अथवा उपेक्षा कभी नहीं की। एक प्रकार से इसी आधार पर व्यापक, उदात्त तथा अलौकिक जीवन व्यतीत करने पर विश्वास प्रकट किया है।

१—मध्ययुग की काव्य प्रवृत्तियाँ : प्रकृति और काव्य—डॉ० रघुवंश

ऊपर कहा गया है कि सन्त-साहित्य में लोक-विभाजन के अन्तर्गत मृत्यु-लोक अर्थात् पृथ्वी-लोक की चर्चा है। स्वर्ग तथा पाताल-लोक के साथ मृत्यु-लोक का उल्लेख सन्तों में प्रायः मिलता है। परन्तु यह ध्यान रखने की बात है कि सन्तों ने लोक की, मृत्यु-लोक के रूप में जिस प्रकार कल्पना प्रतिक्षण मरणशीलता के क्रियाशील होने के कारण की है,[१] उसी प्रकार वे स्वर्ग के प्रति आदर भाव प्रकट नहीं करते और न उसे स्पृहणीय मानते हैं। कबीर स्वर्ग पर व्यंग करते हैं—'स्वर्ग-लोक में क्या दुख पड़या तुम अहि कलि माहीं।'[२] उन्होंने स्वर्ग को कभी वाञ्छनीय नहीं माना—'सरग लोक न बांछिये डरिये न नरक निवास'।[3] इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने काशी के बजाय मगहर में मरना स्वीकार किया। नानक के अनुसार इन्द्रलोक में शिव-ब्रह्मा भी जलते-घूमते हैं।[४] वस्तुतः इस स्वर्गलोक की कल्पना लोक की भोग-वासना से अलग नहीं है, इसी कारण सन्तों के लिए वह त्याज्य है। उनका परलोक या अध्यात्म लोक इस प्रकार के लोक की कल्पना से सर्वथा भिन्न हैं।

उन्होंने परलोक को इस लोक से अलग या भिन्न माना ही नहीं है। उनके लिये परलोक कोई अन्य स्थान नहीं है, वह इसी लोक में लौकिक बन्धनों से मुक्त होने पर आध्यात्मिक उपलब्धि है। यह एक ऐसी दशा है जिसमें प्राणी सांसारिक कष्टों, दुःखों, क्लेशों तथा भ्रमों के बीच उनको भूलकर आनन्द तथा शान्ति का अनुभव करता है। यह अभ्यास तथा साधना से प्राप्त होता है—'इह लोक सुखीये परलोक सुहेले, नानक हरिपद आपहिं मेले'।[५] यह अवश्य है कि इस लोक में परलोक की प्राप्ति जागते रहने से होती है। पलटू कहते हैं—"जागे से परलोक बनत है'[६] जागने का अर्थ है ब्रह्म-चेतना और परलोक का यहाँ अर्थ है इसी लोक में उसका अनुभव करना। यही पारब्रह्म का लोक है, यही अनाहद-लोक है।[७] सन्तों की यह जीवन दृष्टि

१—नानक—"नेड़े दीसे मृत्यु लोक तु धू सूझे दुरे"; गु० ग्र०; पृ० १६७; ५. २—कबीर-ग्रन्थावली—स० श्यामसुन्दरदास; १८०; २७०. ३—वही; १२६; १२१. ४—"शिव विरंचि अरु इन्द्रलोक ता महि जलति फिरिया"; गु० ग्र०; म ५;२;५२;७५. ५—वही. ६—वाणी, भा० ३; पृ० ८१, १२४. ७—गरीबदास की वाणी; १०;१;१६; ६२.

उनके साहित्य की पृष्ठभूमि के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। पिण्ड में ब्रह्माण्ड मानने वाले सन्त अपनी साधनात्मक उपलब्धि की समस्त सम्भावना को इसी लौकिक-जीवन में निहित मानते हैं। कबीर ने स्वर्ग, नरक या परलोक, किसी को अन्यत्र नहीं माना है, उनके लिये यह लोक और उसका जीवन ही स्वर्ग है या नरक।[1] तुलसी साहब ने यही कहा है कि जीव अपने कर्मों द्वारा ही परलोक हँसाता है अर्थात् यह कर्म-क्षेत्र ही परलोक की प्राप्ति का सूत्र है।[2]

जब सन्तों ने लोक-जीवन में रहकर ही साधना करने पर बल दिया है और साथ ही परलोक की उपलब्धि इसी कर्मक्षेत्र के बीच मानी है, तो उन्होंने लोक-जीवन के आधार पर एक सीमा तक अपनी अभिव्यक्ति को प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपने समय के जीवन के आधार पर लौकिक-जीवन के मायामय तथा प्रपञ्चमय रूप का वर्णन किया है। यह संसार कैसा है ? यह किस प्रकार जीव (व्यक्ति) को बाँधता है ? इसमें किस प्रकार जीव स्वार्थ में तत्पर है ? किस प्रकार जीव मद, मोह, मत्सर में फँसा हुआ है ? कैसे वह मोह, माया, आकर्षण से बच नहीं पाता है ? इस संसार में सभी अपने लोभ में फँसे हैं, कोई वास्तविक जीवन को पहचानता नहीं है। यहाँ कोई किसी का साथी नहीं है। संसार, क्षणिक मोह के चित्र दिखलाता है, पर इसी दृश्य के पीछे सच्चा जीवन भी दिया है। इस जीवन को कोई साधक गुरु-कृपा से ही पहचानता है। ऐसी अनेक बातें हैं, अनेक स्तर हैं, जिनका चित्रण, विवेचन, व्याख्या आदि सन्त-साहित्य में विस्तार से मिलता है।

साधना और लौकिक जीवन—प्रारम्भ में कहा गया है कि सन्तों की साधना लोक से पलायन की नहीं है। सन्तों की साधना का रूप अपने आप में अलग और निराला है। उसमें विभिन्न परम्पराओं का विकास-क्रम भले ही देखा जा सके, पर उनका अपना रूप स्वतन्त्र है। विवेचक उनकी साधना में अनेक पिछली साधनों की परम्पराओं का सम्मिश्रण देखता है, पर वस्तुतः उनके विषय में यह कहना ही अधिक सङ्गत है कि अनेक परम्पराओं के बीच से उन्होंने एक नवीन मार्ग का अन्वेषण किया है। और नवान्वेषित मार्ग की प्रमुख विशेषता है कि यह

१—क० ग्र०; पृ० ५५, पद ४४. २—तु० घट रामायण; १२७; १६.

लोक-जीवन के सहज-आधार पर ही प्रतिष्ठित है। भारतीय साधना के इतिहास में लोक-जीवन की इतने गौरवपूर्ण ढङ्ग से अपनी साधना की भूमिका को सन्तों ने स्वीकार किया है।

दूसरी साधना पद्धतियों में भी यम-नियमों को ध्यान-धारणा-समाधि के साथ स्वीकार किया गया है। परन्तु सन्तों ने सारे जीवन की प्रक्रिया को इस सहज रूप में ध्यान-धारणा-समाधि के समकक्ष प्रस्तुत कर दिया है कि तन-मन की शुद्धि के लिए कष्ट साधनाओं की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। उन्होंने रहने के ढङ्ग पर ही बल दिया है, व्यक्ति को संसार में रहकर, यहाँ के जीवन को स्वीकार करके भी इस प्रकार उससे असङ्ग रहना चाहिये ताकि वह उसमें आसक्त या लिप्त न हो। इस स्थिति के लिये उन्होंने मनुष्य जीवन की आदर्श कल्पना की है जो वस्तुतः सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से मानवतावाद कहा गया है। सम्पूर्ण सांसारिक मिथ्याचरणों, स्वार्थपरताओं तथा दुराचरणों से अलग रहने की चर्चा के साथ सन्त सदाचरण, सत्यनिष्ठ तथा निःस्वार्थ भावना का उपदेश भी देते हैं। यह दया, प्रेम, साधुसङ्गति, अहिंसा, दृढ़ता आदि आचरण की ऐसी भावनाएँ हैं जो समाज के सन्दर्भ में ही सार्थक हैं। सन्तों ने उनके आग्रह के माध्यम से अपनी साधना की भूमिका में जीवन का मानवीय स्तर स्वीकार किया है। वे इन पर बल भी देते हैं, क्योंकि इस प्रकार साधक सहज जीवन के अनुरूप बन सकेगा।

सन्तों का ज्ञान और साधना दोनों शास्त्रीय नहीं हैं। शास्त्रों से स्वतन्त्र होने की घोषणा सन्तों ने पग-पग पर की है। उन्होंने अनुभव-ज्ञान को शास्त्रीय ज्ञान से जिस प्रकार बड़ा बताया है, उसी प्रकार साधना को व्यावहारिक स्तर पर ही स्वीकार किया है। साधक को अपनी व्यक्तिगत साधना के मार्ग में जो उलझने पड़ती हैं, बाधाएँ आती हैं उनको सुलझाने के लिए, दूर करने के लिये वह व्यावहारिक प्रयोग जैसा करता है। गुरु की कृपा से जीवन में इसका अभ्यास करते-करते वह अपने निर्दिष्ट स्थल तक पहुँच जाता है। सन्तों ने लौकिक जीवन के प्रत्येक धर्म और प्रतिक्षण को कर्म-साधना का रूप माना है। उनकी साधना में यज्ञ, जप, तप की सिद्धि मानते हैं। अर्थात् वह जीवन में साधारण व्यापारों के बीच ही अपनी साधना को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं।[1] सामान्यतया कर्मों की पवित्रता पर भावना की सचाई और ईमानदारी

१ कबीर—"सन्तो सहज समाधि भली"।

पर तथा दूसरों की भलाई के कार्यों पर सन्तों ने बल दिया है। इस प्रकार लौकिक आचरण की मर्यादा की स्वीकृति होती है। कबीर कहते हैं—"जा जस करि है सो तस फल पइहैं"[१]। इससे स्पष्ट है कि उनकी साधना का आधार सच्चे कर्म में है। सन्त इस विश्वास को लेकर चलते हैं कि लौकिक जीवन में जो सच्चा है वही साधक, ब्रह्म तत्व से एकमेक हो सकेगा।[२]

इस आधार-भूमि के बाद साधना का जीवन प्रारम्भ होता है जिसमें नाम-स्मरण आदि के माध्यम से प्रेम-विरह का प्रसङ्ग शुरू होता है। इस प्रकार प्रेम-तत्व के माध्यम से जीवन की सहज स्थिति में सन्तों की साधना का प्रारम्भ होता है। प्रेम-विरह की तन्मयता में ही सन्त, साधक जीवन में भी जीवन-मुक्त होता जाता है। पर यह प्रेम, यह विरह, यह मिलन-कामना यह मिलनोल्लास, आध्यात्मिक होकर भी जीवन की सहज और भौतिक भावना पर आधारित है। इतना ही नहीं जब सन्त रहस्यानुभूति को अपने प्रतीकों में अभिव्यक्ति देते हैं, उसको भाषा में व्यञ्जित करने का प्रयत्न करते हैं, तब फिर उनको लोक-जीवन के नानाविध प्रतीकों का आश्रय लेना ही अधिक रुचता है। इसका कारण यह है कि वे जीवन की पीठिका से अपनी साधना को कहीं भी अलग नहीं रखना चाहते।

कर्मकाण्ड और लोकतत्व—कर्मकाण्ड धार्मिक भावनात्मक साधना का वाह्य प्रतीकवाद माना जा सकता है। कर्मकाण्ड वस्तुतः धार्मिक अन्धविश्वास पर आधारित नहीं होता, वरन् किसी धर्म की भावमूलक साधना-पद्धति तथा सैद्धान्तिक पीठिका की वाह्य स्थूल प्रतीकात्मक योजना है। पर इसका उपयोग लोक के साधारण मानसिक स्तर के लिए किया जाता है, अतः इसमें विश्वास, अन्धविश्वास अपने आप घुल-मिल जाते हैं। ज्यों-ज्यों किसी धर्म की भावमूलक प्रेरणाएँ कम होती जाती हैं, साधारणलोक, कर्मकाण्ड को केवल विश्वास अर्थात् अन्धविश्वास के आधार पर ग्रहण कर लेता है। उसके लिए कर्मकाण्ड, मात्र करने की वस्तु रह जाता है। सन्तों ने कर्मकाण्ड को इसी लोक-मानस के स्तर पर ग्रहण किया है। सन्तों ने अपनी वाणियों में लोक में प्रचलित जो विभिन्न कर्मकाण्डों की व्यवस्थाएँ चल रही थीं, उनका स्थान-स्थान पर विरोध किया है, उन पर व्यङ्ग तथा कटाक्ष किया है। वस्तुतः उन्होने इस बात का

१ क० ग्र०, पद १६६ : परिशिष्ट; पद २०३. २—दरिया; (वि०) पृ० १५४; २२; १७.

प्रत्यक्ष अनुभव किया था कि ये कर्मकाण्ड लोक-जीवन को किसी प्रकार की भावात्मक प्रेरणा नहीं देते, उनमें अब वह शक्ति शेष नहीं रह गयी है। अब वे केवल रूढ़ियाँ हैं, वाह्याडम्बर हैं, जिनको लोक अन्धविश्वास के कारण ढोता आ रहा है। इसी कारण सन्तों ने अपने साहित्य में प्रचलित कर्मकाण्डों का तीखा विरोध किया है। उन्होंने लोक-जीवन के बीच में रहकर उसकी बुराइयों को पैनी दृष्टि से देखा है और उनकी अवहेलना की है। उन्होंने इस बात का अनुभव किया कि लोक की दृष्टि में टोना-टोटका, भूत-प्रेत, पीर-पैगम्बर, मन्दिर-मस्जिद, पूजा-नेवाज, तथा तीर्थ-व्रत-रोजा आदि में तात्विक अन्तर नहीं है। अतः उन्होंने इस सबका समान रूप से खण्डन किया है। परन्तु इस प्रकार खण्डन करने के माध्यम से उनका तत्कालीन समाज में जो स्थान था, उसका स्वरूप भी आ गया है।

सन्तों ने लोक-जीवन की इस स्थिति की आलोचना करते समय भी इस बात पर बल दिया है कि लोक में इस विभ्रम की स्थिति का दायित्व धर्माधिकारियों का ही है जिसको ब्राह्मण, मुल्ला, शास्त्री, पण्डित तथा शेख आदि अनेक रूपों में उन्होंने सम्बोधित किया है। कबीर की खण्डात्मक प्रतिभा अत्यधिक थी, अतः उन्होंने अपने समय के कर्मकाण्डों का सर्वाधिक वर्णन किया है।[१] दादू, कबीर की तरह मन्दिर-मस्जिद, रोजा-नेवाज, पूजा-पाठ पर व्यङ्ग करते हुए कहते हैं कि "जब लोक का वास्तविक ज्ञान हो तब इनका क्या महत्व व्यर्थ हो जाता है।"[२] कर्मकाण्डों की इस प्रकार की चर्चाओं के अन्तर्गत सन्त-साहित्य में लोक-जीवन की झाँकी मिल जाती है।

इस प्रकार के सन्दर्भों में लोक-जीवन की स्थिति का काफ़ी विस्तृत और सूक्ष्म सङ्केत सन्निहित है। कबीर के अनुसार—"पण्डित वेद पढ़ और गुन कर आत्मा के ज्ञान को भूल गये। इस अपने आप के भेद को नहीं जान सके। संध्या समय तर्पण और कष्ट कर्म करते हैं, इस प्रकार अनेक रूपों में धर्म का पालन करते हैं। चार युग तक गायत्री का अध्ययन कराया, परन्तु पूछो जाकर, उन्होंने मुक्ति क्यों नहीं पाई।"[3] इसी प्रकार जहाँ संध्या-तर्पण से मुक्ति नहीं, उसी प्रकार रोज़ा-नेवाज़ भी वाह्याडम्बर हैं, उनसे भी कुछ नहीं सधता।[४] वस्तुतः सन्त-जीवन में सच्चाई और ईमानदारी को बहुत

१—क० ग्र०, पद १९९, १४२, २५० परि० ६१; इसमें नवग्रह, यज्ञोपवीत, चौका आदि का वर्णन है. २—दादू की वाणी, १४४, ५३. ३—कबीर बीजक, पृ० ५१, ३५. ४—क० ग्र०, पद २५५.

मान देते हैं। यदि यह नहीं तो पूजा-पाठ और रोज़ा-नेवाज़ सब झूठे हैं, दिखावट है और दूसरों को धोखे में डालना है।[१] इसी प्रकार श्राद्धादिक के विषय में इनका मत है कि लोक में जिन्दा रहते अपने पितरों को डण्डा मारते हैं और मरने पर परलोक के लिये कर्मकाण्ड करते हैं।[२]

इन सन्तों के वचनों से सिद्ध होता है कि ये कर्मकाण्ड में निहित प्रतीकार्थ से अपरिचित नहीं थे। उनको यह अवश्य ज्ञात था कि लोग इस अर्थ को पूर्णतः भूलकर इनका निर्वाह करते हैं, इसीलिये इनकी निरर्थकता की घोषणा उन्होंने की है—"मन मूंडा नहि केस मुंडाया। मुंड मुडाया फूल का बैठे, काननि पहरि मजसा।"[३] इसके साथ ही उनको यह भी विश्वास था कि जप-तप, यम-नियम, इड़ा-पिंगला, आसन-ध्यान-धारणा-समाधि आदि का चक्कर व्यर्थ है, कौन रात-रातभर जगकर स्वर्ग-नरक की आशा में भटके, वस्तुतः जीवन सत्यनिष्ठा के आधार पर व्यतीत करना ही सार्थक है।[४] सन्त दरिया (बि०) विविध प्रकार की वेष-भूषा, जनेऊ, तिलक, कुण्डल, जटा, व्याघ्र-चर्म आदि को केवल ऊपरी सजावट की वस्तु मानते हैं जिससे लोग संसार में भ्रम और ठगी फैलाते हैं।[५] वास्तविक मार्ग (पन्थ) सन्तों ने जिसे निरूपित किया है उसमें इस प्रकार के कर्मकाण्डों का न केवल महत्व है, वरन् ये उसके प्रतिकूल भी पड़ते हैं।

इस प्रकार सन्तों ने कर्मकाण्डों के खण्डन के प्रसङ्ग में तत्कालीन कर्म-काण्डों की विस्तृत परिपाटियों का उल्लेख किया है जिसके माध्यम से उस समय के लोक-जीवन के विश्वास पर प्रकाश पड़ता है। साथ ही सन्तों ने इसके प्रत्याखान के साथ जिस सत्य जीवन की पद्धति का निरूपण किया है उसमें लोक-जीवन के स्वस्थ-तत्वों की स्वीकृति भी है, अतः दोनों दृष्टियों से सन्त-साहित्य महत्वपूर्ण है।

सामाजिक तथा लौकिक-जीवन—ऊपर की दृष्टि से ऐसा लगना स्वाभाविक है कि सन्त साहित्य से सामाजिक तथा लोक-जीवन का क्या सम्बन्ध ? सन्त, जिस जीवन को महत्व देते हैं वह आध्यात्मिक जीवन है। उन्होंने सांसारिकता की अवहेलना और विगर्हणा की है, अतः उनके साहित्य में जीवन का स्वरूप किस प्रकार मिल सकता है ? परन्तु पिछली विवेचना से

१—क० ग्र० पद ३३९. २—वही, ३५६. ३—वही परि० साखी पद १०५; १३४. ४—सु० ग्र०; पृ० १५४; ७, ८. ५—दरि० (बि०); अनु० पृ० १२१; १५. १.

यह स्पष्ट हो चुका है कि सन्तों की दृष्टि लोक-पलायन की कभी नहीं रही। उन्होंने लोक और समाज को त्यागा नहीं है, उसकी समस्याओं से अपनी आँखे बन्द नहीं की हैं। यद्यपि सन्त-साहित्य में लोक-जीवन के किसी पक्ष का अथवा सामाजिक व्यवस्था के किसी रूप का विधिवत् या सचेष्ट वर्णन नहीं मिल सकेगा, पर कई प्रकार से इस साहित्य के लोक-जीवन तथा समाज पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है।

पहली स्थिति में सन्तों ने जिस प्रकार धर्म तथा साधना के क्षेत्रों में कर्मकाण्ड की परम्परा तथा रूढ़ि का विरोध किया है, उसी प्रकार सामाजिक व्यवस्था पर भी अपनी दृष्टि रखी है। वास्तव में सन्तों ने सदा ही भेद-मूलक, ऊँच-नीच भावना से आक्रान्त तथा मान-विधि मूल्यों से विच्युत समाज की खरी आलोचना की है। सन्तों की भावना, मात्र इतनी नहीं थी कि 'जाति पाँति पूछे नहीं कोई, हरि का भजै सो हरि का होई।'—उनके सामने सामाजिक व्यवस्था के प्रति इतना भाव ही नहीं था कि साधना के मार्ग में जाति-पांति का महत्व नहीं है। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपनी निश्चित मान्यताओं और विश्वासों को व्यक्त किया है। वे समाज की प्रचलित व्यवस्था के अनेक पक्षों के विरोधी थे और उन्होंने उनका खण्डन भी किया है। साथ ही उन्होंने समाज की एक ऐसी सहज व्यवस्था की रूपरेखा भी प्रस्तुत की है जिसमें उनकी दृष्टि से व्यक्ति के विकास का मार्ग साधनात्मक जीवन है। पर, जैसा कि कहा गया है, यह साधना, अपने आप सामाजिक जीवन की अस्वीकृति पर आधारित नहीं है।

जिस प्रकार धर्म के क्षेत्र में सन्त, हिन्दू-मुसलमान तथा शैव-शाक्त-वैष्णव आदि के अन्तर को केवल ऊपरी, आडम्बरपूर्ण तथा भ्रामक मानते हैं, उसी प्रकार वे ब्राह्मण-शूद्र के ऊँच-नीच के अन्तर में मनुष्य की विडम्वना समझते हैं--'जे तू बाभन बभनी जाया, तौ आन बाट ह्वै काहे न आया।'[1] प्राय: सभी सन्तों ने चारों वर्णों के विभाजन को व्यर्थ माना है और एक भ्रामक प्रपञ्च के रूप में उसकी कड़ी आलोचना की है। इस प्रकार के प्रसङ्गों में समाज की एक झाँकी मिल जाती है और उनकी अपनी दृष्टि भी सम्मुख आती है।

इसके अतिरिक्त सन्तों ने दृष्टान्त, प्रतीकों, उदाहरणों तथा रूपकों आदि में तत्कालीन सामाजिक स्थिति के अनेक सन्दर्भ सम्मिलित किये हैं।

१—क०ग्र०; पृ०१०२; ४१.

कबीर के रूपकों में जुलाहे का बहुत महत्व है, उनके ताने-बाने का उनमें अधिक विस्तार है जिसका उनको सूक्ष्म ज्ञान है। इस प्रकार के प्रसङ्गों में सामाजिक तथा लोक-जीवन की विविध सामग्री का प्रयोग किया गया है। पर इसके साथ ही कभी-कभी सन्तों ने अपने समाज की वास्तविक स्थिति को व्यक्त करने का उपक्रम भी किया है।[१] इससे विविध जातियों, पेशों और वर्गों की स्थिति का पता चलता है और उनके रहन-सहन तथा आचार-व्यवहार के भी सङ्केत मिलते हैं। अनेक प्रकार की सामग्री, प्रसाधनों, उपकरणों का उल्लेख भी यत्र-तत्र हुआ है। विविध उत्सव, त्योहार, संस्कार आदि के विस्तार भी आ गये हैं।

लोक संस्कृति का स्वरूप—सन्त-साहित्य, लोक तथा समाज से गहन रूप में सम्पृक्त रहा है, ऐसा पिछले अनुच्छेदों से सङ्केत मिलता है। जीवन की व्यापक अभिव्यक्ति की सीमाएँ संस्कृति के रूप में जानी-समझी जाती है। पर सन्त-साहित्य में किस संस्कृति का क्या स्वरूप है, यह प्रश्न उठ सकता है। इसका अन्तिम उत्तर इस प्रबन्ध के अन्त तक अपने आप मिल जायगा। पर यहाँ हम सम्भावनाओं का सङ्केत पिछले विवेचन के आधार पर भी कर सकते हैं।

सन्त मूलतः शास्त्रीय परम्पराओं, मूल्यों, मर्यादाओं के विरोधी थे, ऐसा कहा जाता है। इसी के साथ यह भी स्पष्ट है कि वे जनता के बीच प्रचलित मूढ़ाग्रहों, अविश्वासों, कुप्रथाओं आदि के भी उतने ही विरोधी थे। यह अवश्य है कि अपने विरोध में उन्होंने दोनों का स्वरूप सम्मुख रखा है, परन्तु जनता के किसी स्तर को उद्घाटित करना साहित्य की अपनी सांस्कृतिक उपलब्धि नहीं मानी जा सकती। वह तो समाज का प्रतिबिम्ब-मात्र माना जायगा। सन्त-साहित्य को केवल इसी सीमा पर कहीं देखा जा सकता है। यह अवश्य है कि अनेक प्रकार से अनेक प्रसङ्गों तथा अनेक सम्दर्भों में जनता के जीवन-स्तर का रूप इसमें मिल जाता है, पर सन्त-साहित्य इसके आगे जाता है।

सन्तों ने भारतीय लोक-जीवन की व्यापक सांस्कृतिक चेतना को एक ओर ग्रहण और आत्मसात् किया है और दूसरी ओर उपलब्धि पर अपने युग में उसका संचरण भी किया है। उन्होंने अपनी इस लोक-सांस्कृतिक

१—क० ग्र०; पृ० २१७; ३३९। दरिया अनुशीलन; धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी; पृ० २३; २.

दृष्टि से आदर्श राज्य-व्यवस्था की कल्पना की है, समाज और व्यक्ति के सम्बन्धों की उदारमानवतावादी व्याख्या प्रस्तुत की हैं, धर्म को रूढ़ियों से मुक्त कर एक ओर उसे मानवीय तत्व से समन्वित किया है और दूसरी ओर साधनोपरक भावानुभूति से सक्रिय किया है तथा, दर्शन को जीवन के अनुभव और समझ के स्तर पर प्रतिष्ठित किया है और साहित्य के स्पन्दनों को जीवन के उच्छ्वासों और स्पन्दनों से एकरस कर दिया है । वस्तुतः सन्त-काव्य की समस्त भावभूमि और उपलब्धि, लौकिक पृष्ठभूमि पर ही प्रतिष्ठित है।

द्वितीय प्रकरण

सन्त-काव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

१३६८ ई० से १५२६ ई० तक (सैयद-लोदोवंश)—हिन्दी के प्रारम्भिक सन्तों का समय चौदहवीं शताब्दी से माना जा सकता है, क्योंकि परम्परा में कबीर का जन्म-काल १३६८ ई० स्वीकृत है। इसके पूर्व के सन्त प्रमुखतः हिन्दी के नहीं हैं। यह काल तुर्क-अफ़गान शासन-काल के अन्तर्गत सैयद तथा लोदीवंश के राज्यकाल में आता है। जिस समय सन् १३६८ ई० में कबीर का जन्म हुआ था, तुग़लक वंश के नुसरत शाह का (१३९४ ई० से १३९९ ई० तक) दिल्ली पर अधिकार था और इसी वर्ष तैमूर का प्रसिद्ध हमला भी हुआ था। इसके पूर्व खिलजी तथा तुग़लक वंश के सुल्तानों ने उत्तरभारत को अपने अधिकार में करके दक्षिण में दूर तक विजय-यात्राएँ की थीं और पुराने राजवंशों को पराजित किया था। परन्तु अलाउद्दीन खिलजी (१२९५ ई०-१३१६ ई०) के इन प्रयत्नों को राजपूताना में राणा हम्मीर की शक्ति ने सफल नहीं होने दिया। बाद में मुहम्मद तुग़लक (१३२५ ई०—१३५१ ई०) ने भी राजपूतों को पराजित करने का तथा दक्षिण में अपनी शक्ति के विस्तार का प्रयत्न किया। परन्तु अनेक बार विजय प्राप्त करने के बावजूद सुल्तानों के द्वारा इन क्षेत्रों का आधिपत्य स्थायीरूप से नहीं ले आया जा सका।

तुग़लक वंश के साथ तुर्क-अफ़गान की राज्य शक्ति का पतन प्रारम्भ हो जाता है। इनके विरुद्ध जो शक्तियाँ कार्य कर रही थीं, उनमें एक ओर स्वयं उनके अमीर-उमरावों के षड्यन्त्र चल रहे थे, दूसरी ओर प्रान्तीय सूबेदार अवसर पाकर अपनी शक्ति बढ़ा लेते थे। वस्तुतः यह स्थिति मध्यकाल में निरन्तर चलती रही है। हिन्दू राज्यशक्तियाँ तथा राजपूत सामन्त, दिल्ली की

नोट—ऐतिहासिक विवरण के लिए हि० सा० इ०; हि० अनु०; मध्य-युग का इतिहास—डॉ० ई० प्र०; हि० सा० बृ० इति०—डॉ० राजबली पाण्डेय तथा अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थों से सहायता ली गयी है।

शक्ति से समझौता नहीं कर सके थे और निरन्तर अवसर की ताक में थे कि उनको स्वाधीन होने का कब मौक़ा मिलता है। अन्त में विदेशी शक्तियों के आक्रमण ने भी दिल्ली की राज्य-शक्ति को अस्थिर कर दिया था। मुहम्मद तुग़लक के शासन-काल के अन्तिम समय में ही अनेक मुस्लिम सूबेदार गुजरात, मालवा, जौनपुर आदि में स्वतन्त्र हो गये थे। इन अनेक कारणों से दिल्ली की जर्जर सल्तनत पर सन् १३९८ ई० के तैमूरलङ्ग के आक्रमण ने उसे छिन्न-भिन्न कर दिया। परिणामस्वरूप सैयद और लोदी वंशों के सुल्तानों का राज्य दिल्ली-आगरा के क्षेत्रों तक ही सीमित रह गया। उत्तरभारत के विभिन्न प्रदेशों में हिन्दू तथा मुस्लिम शासक स्वतन्त्र हो गये। एक बार बहलोल लोदी (१४५१ ई०-१४८९ ई०) दिल्ली की शक्ति को पुनः सङ्गठित करने का प्रयत्न किया। उसने जौनपुर के शर्की राज्य को पराजित किया। इसके साथ ही मध्यदेश के अनेक कालपी, कन्नौज तथा सम्भल जैसे प्रदेशों को पुनः अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। इस काल में जौनपुर राज्य की काफी प्रसिद्धि थी और इब्राहीम शाह शर्की (१४०२ ई०-१४३६ ई०) की कला-प्रियता के कारण जौनपुर इस काल में साहित्य, कला और विद्या का अच्छा केन्द्र रहा।

बहलोल लोदी के पुत्र सिकन्दर लोदी (१४८८ ई०-१५१७ ई०) ने भी पिता के समान ही अपनी राज्य-शक्ति के विस्तार का प्रयत्न किया, पर तत्कालीन परिस्थितियों के कारण उसको सफलता नहीं मिल सकी। इब्राहीम लोदी (१५१७ ई०-१५२६ ई०) के समय मेवाड़ की राजपूत शक्ति महत्वपूर्ण हो चुकी थी। यहाँ के सिसोदिया वंश का प्रभुत्व रापूजताने में बढ़ गया था। इस वंश के राणासांगा ने मालवा, गुजरात तथा दिल्ली की शक्तियों से भी लोहा लिया था। इसने अपनी शक्ति ग्वालियर, धौलपुर, बुन्देलखण्ड और बघेलाखण्ड तक फैला ली थी। ऐसे ही समय में १५२६ ई० में बाबर का आक्रमण दिल्ली में हुआ, जिसमें इब्राहीम लोदी को पराजित होना पड़ा। परन्तु दिल्ली की शक्ति हाथ में आ जाने पर भी बाबर के मार्ग में राणासांगा की शक्ति आती थी। साँगा बाबर से मुठभेड़ करने के लिये स्वयं भी उत्सुक था। बाबर के खिलाफ राणासाँगा को राजपूत राजाओं के साथ ही तुर्क-अफ़गान सरदारों का सहयोग प्राप्त था। परन्तु इस सम्मिलित विशाल शक्ति के विरुद्ध बाबर को अपने युद्ध-कौशल तथा तोपों के प्रयोग के कारण असाधारण ऐतिहासिक विजय प्राप्त हुई।

सांस्कृतिक दृष्टि से सातवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक का काल बहुत उथल-पुथल का समय माना जा सकता है। राजनीतिक इतिहास में इस पिछले काल को राजपूत-काल कहा जाता है। हर्ष के समय की धार्मिक सहिष्णुता और समन्वय की भावना राजपूत-काल में अनेक धार्मिक विश्वासों, मतवादों तथा सम्प्रदायों के विकास में परिवर्तित हो चुकी थी। तुर्कों के भारत में प्रवेश के साथ इस देश में इस्लाम-धर्म का आगमन भी हुआ। आक्रमणकारियों के रूप में इस्लाम-धर्म तथा शक्ति ने यहाँ के निवासियों को प्रारम्भ में स्तब्ध तथा हतप्रभ कर दिया। उन्होंने धार्मिक आवेश तथा धन के लोभ से प्रेरित होकर मन्दिर तोड़े तथा ज़ज़िया जैसे कर लगाये। परन्तु धीरे-धीरे यह भी स्पष्ट होने लगा कि इस प्रकार के सङ्घर्ष में न किसी राज्यसत्ता की स्थापना हो सकती है और न ऐसी शक्ति का कोई योगदान ही हो सकता है। धीरे-धीरे तुर्क इस देश में स्थायी रूप में बस रहे थे और यहाँ के लोगों के साथ सम्पर्क स्थापित करना उनके लिए आवश्यक होता जा रहा था।

हिन्दू-मुस्लिम सङ्घर्ष और सम्पर्क के इस युग में एक ओर यदि विरोध, विद्वेष तथा तनाव की स्थिति थी तो दूसरी ओर इनके आधार पर सहिष्णुता और समन्वय का दृष्टिकोण भी विकसित हो चला था। मुसलमानों की राजनीतिक शक्ति के विकास के साथ ही देश में नव मुस्लिमों की संख्या बढ़ती जा रही थी। वस्तुतः ये भारतीय मुसलमान ही धीरे-धीरे विदेशी तुर्कों तथा भारतीयों के बीच की कड़ी बन गये। इस्लाम-धर्म स्वीकार करने के बावजूद भी ये मुस्लिम-संस्कृति का विकास अपने ही देश की संस्कृति के रुचि में करने के पक्ष में थे। इस सम्मिलन का प्रभाव संस्कृति के विविध क्षेत्रों में समान रूप से देखा जा सकता है।

कट्टरतावादी मुसलमानों को छोड़कर जनता के बीच में ऐसे अनेकानेक मुसलान थे जो धर्म-परिवर्तन के बाद भी संस्कारों की दृष्टि से प्राचीन परम्परा का पालन करते थे। शिक्षित वर्ग भी इस वातावरण के प्रभाव से बच नहीं सका। फ़ारसी में, भारतीय शैली में प्रभूत साहित्य रचा गया। इस साहित्य में भारतीय संस्कृति के अनेक तत्व मिलते हैं। इस प्रकार के साहित्य की रचना करने वालों में खुसरू का नाम महत्वपूर्ण है। इस काल में संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद फ़ारसी में किया गया जिससे सांस्कृतिक आदान-प्रदान का मार्ग प्रशस्त हुआ।

इन शताब्दियों (तेरहवीं, चौदहवीं) में धार्मिक आवेश के कारण तुर्कों ने मन्दिरों तथा मूर्तियों को ध्वस्त किया। इस शासक-वर्ग ने पिछली शताब्दियों की समुन्नत मूर्तिकला को धक्का पहुँचाया। इन कलाओं को न कोई संरक्षण प्राप्त हो सका और न कोई प्रोत्साहन ही। परन्तु जब तुर्क-सुल्तानों ने इमारतें बनवाना शुरू किया तो उनको अपनी विचारधारा को व्यक्त करने के लिए भारतीय कलाकारों की सहायता लेनी पड़ीं। परिणामस्वरूप इस काल में भारतीय वास्तु-कला में एक नई शैली का प्रारम्भ हुआ, जिसका वाह्याकार इस्लामी था परन्तु अन्तरात्मा भारतीय। हिन्दू कलाकारों को इस नई भावाभिव्यक्ति के लिये मुस्लिम भावनाओं को समझने का प्रयत्न करना पड़ा। आगे चलकर शिल्पियों की जातियों ने हिन्दू-मुसलमानों को निकट लाने का महत्वपूर्ण प्रयत्न किया।

चौदहवी शताब्दी के मध्य तक बढ़ती हुई तुर्कों की शक्ति जब पन्द्रहवीं शताब्दी में पतनोन्मुख हुई तब हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के विकास का एक नया वातावरण तैयार हुआ। राजकीय सत्ता के विनाश के साथ आतङ्क का कठोर बन्धन भी नष्ट हो गया और जनसमाज के बहुमुखी विकास का एक नया अवसर आया। तुर्की साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर बंगाल, जौनपुर, मालवा तथा गुजरात आदि प्रदेशों में जिन राज्यों का उदय हुआ उनके सांस्कृतिक प्रयत्नों में हिन्दू-मुस्लिम सम्मिलित संस्कृति अभिव्यक्त हुई है। यह प्रभाव इनके वास्तुकला सम्बन्धी प्रयोगों में स्पष्टतः देखा जा सकता है। शासकवर्ग में न होकर भी हिन्दुओं में नवीन जागृति परिलक्षित होती है और सांस्कृतिक क्षेत्र में उन्होंने अपना अधिकार पुनः प्राप्त करना शुरू कर दिया।

धर्मों, जातियों तथा सम्प्रदायों से आक्रान्त इस युग के समाज में समन्वयात्मक भावना के नवीन आन्दोलन घटित हो रहे थे। भारतीय सूफ़ी-सम्प्रदाय इसी प्रकार की धार्मिक भावना को लेकर चला था। सूफ़ी-सन्त सरल और आडम्बरहीन जीवन व्यतीत करने के पक्ष में थे और साधनापद्धति प्रेम-प्रेरक थी। जनता इनके जीवन तथा इनकी साधना से आकर्षित तो थी ही, इनकी सिद्धियों ने भी इसको कम आकर्षित नहीं किया था। ये साधक, श्रद्धा का महत्व स्वीकार करते थे, जाति और धर्म का भेद नहीं मानते थे। सूफ़ी प्रेममार्ग के सहारे दोनों धर्मों की जनता एक-दूसरे के निकट आ सकी जिसके कारण आपस में विचार-विनिमय तथा भावनाओं के आदान-प्रदान का मार्ग भी प्रशस्त हुआ।

इसी काल में दक्षिण के रामानुजाचार्य, रामानन्द तथा वल्लभाचार्य जैसे आचार्यों के द्वारा परम्परा से चली आने वाली भक्तिभावना को शास्त्रीय तथा दार्शनिक आधार मिल चुका था। इनके प्रयत्नों से दक्षिण के अलावार सन्तों की भक्ति-भावना एक विशाल आन्दोलन के रूप में सम्पूर्ण भारत में परिव्याप्त हो गई। इस आन्दोलन की भी कई धाराएँ और उपधाराएँ थीं जिन्होंने भारतीय जन-जीवन के अनेक स्तरों को समानरूप से प्लावित किया है। युग की माँग के अनुसार इस आन्दोलन में मानवीय तत्वों को विशेष आग्रहपूर्वक स्थापित किया गया। इसके समता और समन्वय के दृष्टिकोण ने व्यापक मानव-धर्म का प्रतिपादन किया। परिणामस्वरूप यदि एक ओर जाति-भेद, वर्ण-भेद, धर्म तथा सम्प्रदाय के भेद को स्वीकार कर लिया गया तो दूसरी ओर सामाजिक क्षेत्र में आचरण पर अधिक बल दिया गया। यद्यपि भक्ति-आन्दोलन की पम्परागत चिन्ताधाराओं का समग्र इतिहास भारतीय संस्कृति के इतिहास से सघन रूप से सम्बद्ध रहा है, पर इस काल में इसकी प्रगति को तीव्र करने के लिये अनेक प्रकार के इस्लाम-धर्म का सहयोग भी स्वीकार किया जा सकता है। भक्ति-आन्दोलन के अन्तर्गत ऐसी धाराएँ भी हैं जो सूफ़ी-प्रेमसाधना और हिन्दू भक्तिभावना के बीच में प्रवाहित हैं। भक्ति-मार्ग की इस नवीन धारा में समन्वय तथा सामञ्जस्य का वह प्रवेग निहित था जिसमें सभी धर्मों और सम्प्रदायों को उज्ज्वल कर देने की शक्ति थी। इस धारा के विचारकों की व्याख्या परम्परा से भिन्न थी। इस दृष्टि से कबीर ने दार्शनिक शब्दावली को एक नया अर्थ प्रदान किया है और साधना-पद्धति को एक नया रूप दिया है। वस्तुतः कबीर और नानक के व्यक्तित्व और दृष्टिकोण को चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है।

× × ×

कबीर—इनका जन्म तैमूर के आक्रमण के वर्ष १३९८ ई० में बनारस में माना जाता है।[१] वस्तुतः इस काल के सङ्केत में एक गम्भीर युगदृष्टि निहित मानी जा सकती है। अधिकांश विद्वान् कबीर को जुलाहा जाति का मानते हैं। यह प्रश्न अलग है कि संभवतः उनका पालन-पोषण जुलाहे के घर में हुआ अथवा उन्होंने जन्म ही जुलाहे के घर में लिया।[२] जुलाहा जाति के

१—स० सा० : डॉ० भुनेश्वर : सं० प० सा० पृ० धर्म० अभि० ग्र० पृ० ७९. २—क० ग्र०, पृ० १३१, १३४ : सं० कबीर, पृ० ६७ : डॉक्टर हजारीप्रसाद, कबीर प्रस्ताव, पृ० ९.

होने में भी कबीर का अपने युग की ही दृष्टि से महत्व सिद्ध होता है और इनके विद्रोही व्यक्तित्व को आधार भी मिलता है। नीरू एवं नीमा नामक जुलाहा-दम्पति सर्वसम्मति से कम से कम इनके पोषक पिता-माता माने जाते हैं।[1] चेतनदास नामक साधु के 'प्रसङ्ग पारिजात' से यह पता चलता है कि पीपा, सेना, रैदास तथा अन्य के साथ कबीर, स्वामी रामानन्द के शिष्यों में थे।[2] कबीर के आसपास के क्षेत्रों में विचरण करने के सन्दर्भ भी मिलते हैं—'झूँसी की यात्रा, गोमती तीर वाली पीताम्बर पीर के दर्शनार्थ गमन और शेखतक़ी से भेंट'। कुछ अन्य सूत्रों से इनकी गुजरात, भड़ोंच तथा पंढहरपुर की यात्राओं के सन्दर्भ भी मिलते हैं।[3]

कबीर के जन्म के समान ही उनकी मृत्यु भी अपने युग की हिन्दू-मुस्लिम समन्वय की भावना का प्रतिनिधित्व करती है। कबीर ने काशी में मरना अस्वीकार कर मगहर में जाकर 'राम के निहोरा' को चुनौती दी थी। इसके अतिरिक्त कबीर की समाधि रत्नपुरी तथा जगन्नाथपुरी में होने के साक्ष्य अबुल फ़ज़ल की 'आइने अकबरी' और 'खुलासा तवारीख़' में मिलते हैं।[4] सम्भवतः ये साक्ष्य कबीर के व्यक्तित्व की व्यापकता के प्रतीक हैं।

कबीर के जीवन के सम्बन्ध में विशेष सूचनाएँ नहीं मिलतीं। परन्तु अनेक सन्दर्भों से इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि कबीर गृहस्थ-जीवन में रहते हुए अपनी साधना में संलग्न थे। लोई नामक स्त्री को उनकी पत्नी कहा जाता है जो उनके व्यक्तित्व की मस्ती और व्यवसाय के प्रति उपेक्षा से उद्विग्न रहती थी। जिस सामाजिक स्तर से उनका सम्बन्ध था, उसमें आर्थिक स्थिति का खराब होना स्वाभाविक था, विशेषकर जब वे अपनी बुनाई का पेशा मनोयोगपूर्वक स्वीकार नहीं कर सकते थे। उनके पारिवारिक जीवन में पुत्र-पुत्रियों की कल्पना भी की जाती है, यद्यपि इस विषय में निश्चित प्रमाण जुटाना आसान नहीं है। कबीर के जीवन सम्बन्धी इन किञ्चित् सङ्केतों के आधार पर उनके युग और व्यक्तित्व के द्वन्द्व को भली-

---

१—रे० अहमदशाह : दि बीजक आव कबीर, पृ० ४. २—स्वामी रामानन्द और प्रसंग पारिजात हि० रा० १९३२. ३—डॉ० सरनाम० कबीर एक विवेचन, पृ० ६६ और ८४. ४—स० कबीर, पृ० १६९, ६ : वही०, पृ० ७२ : डॉ० सर० कबीर एक वि०, पृ० ६७ : दविस्ताने मज़ाहिब पृ० २०० : कबीर एक वि० से उद्धृत, पृ० ६७.

भाँति ग्रहण किया जा सकता है। कबीर की मृत्यु १५१८ ई० में मानी जाती है।[1]

रैदास—रैदास का जन्म कबीर से कुछ पूर्व १३८८ ई० में और मृत्यु १५१८ ई० में माना जाता है। इस प्रकार इनकी आयु १३० वर्ष ठहरती है। वस्तुतः सन्तों की आयु को उनके अनुयायियों ने बढ़ाकर ही कहा है। इनकी माता का नाम धुरबिनिया और पिता का नाम रग्घु था। ब्रिग्स ने इनकी पत्नी का नाम लोना दिया है। कबीर के समान यह भी गृहस्थ थे और अपना पैतृक पेशा—जूते-गाँठना और मरे हुए जानवरों को ढोना—किया करते थे। जाति के ये चमार थे। अपने जीवन-काल में रैदास ने विस्तृत क्षेत्र में यात्राएँ की थीं—यह गुड़गाँव, रोहतक, गुजरात तथा राजस्थान में विशेष रूप से पाये जाने वाले इनके अनुयायियों से सिद्ध होता है। धार रियासत के माड़ोंगढ़ तथा चित्तौड़ के कुम्भ श्याम के मन्दिर के पास रैदास की छतरियाँ हैं। वियोगीहरि के अनुसार, मद्रास के तिरुपति तीर्थ-स्थान में बालाजी पर्वत के नीचे बैकुण्ठ-कोल नामक स्थान पर रैदास की गद्दी और समाधि बनी हुई है।[2]

धन्ना—इनका जन्म १४१५ ई० में राजस्थान टांक के इलाके के धुवन गाँव में माना जाता है जो दिल्ली छावनी से २० मील दूर है। ये जाति के जाट माने जाते हैं और स्वामी रामानन्द के शिष्यों में इनकी भी गिनती है।[3]

पीपा—इनका जन्म सन् १४२५ ई० में माना जाता है। ये गाँगरोन गढ़ के राजा थे जो आमोद-प्रमोद के जीवन के बीच साधु-सेवा में संलग्न रहते थे। पहले ये देवी के उपासक थे, बाद में रामानन्द के सम्पर्क में आने के बाद निर्गुणोपासक बन गये। इनकी द्वारिकापुरी की यात्रा के चिह्न-स्वरूप पीपावट का वृहत् मठ आज भी वर्तमान है।[4]

सेना—प्रो० रानाडे के अनुसार इनका समय सन्१४४८ ई० के आस-पास माना जाता है। ये वाधींगढ़ नरेश के सेवक थे और नाई का काम करते थे।[5]

नानकदेव—नानक का जन्म इस शताब्दी के मध्य सन् १४६९ ई० में रावी नदी के किनारे पञ्जाब के तलवण्डी नामक स्थान में हुआ था। इनके

१—परशुराम चतुर्वेदी, उ० भा० स० प०, पृ० १६७ : स० कबीर, पृ० ७३ : डा० मोहन सिंह क० हि० बायोग्राफ़ी, पृ० ३२. २—रवि० उ० का० ज्वालापुर, पृ०७७, ७८, ८१. ३—स० का० संग्रह पृ० २२८. ४—उ० भा० स० प०, पृ० २३३. ५—से० पंथि० इन साइक्लोपीडिया आव ऐथिक्स एण्ड रिलीजन, भा० २, पृ० ३८४.

पिता कालूचन्द पटवारी थे जो खेती-बारी का काम भी करते थे। इनको संस्कृत और फ़ारसी की शिक्षा दी गई परन्तु पुस्तकों से अधिक इनको एकन्तवास और विचार करने का अभ्यास प्रिय था। अपनी बहन के विवाह होने पर ये अपने बहनोई के पास सुल्तानपुर (पञ्जाब) चले गये। इनके बहनोई जयराम ने दौलत खाँ लोदी के यहाँ इनकी नौकरी मोदीखाने में लगा दी। परन्तु इस नौकरी में उनका मन अधिक नहीं लग सका। इनका विवाह अठारह वर्ष की आयु में गुरदासपुर निवासी मुल्ला नामक व्यक्ति की पुत्री सुलखनी के साथ हुआ जिससे उनके दो पुत्र श्रीचन्द और लक्ष्मीचन्द हुए। पारिवारिक जीवन के प्रति भी नानक प्रायः उदासीन थे और ये अपने संगीतज्ञ साथी मर्दाना के साथ भ्रमण करते रहते थे। भ्रमण करते समय सैयदपुर (वर्तमान अमीनाबाद) में इन्होंने लालो नामक बढ़ई के यहाँ भोजन किया और यह सिद्ध किया कि सन्तों के मार्ग में ब्राह्मण और शूद्र में अन्तर नहीं है। यहाँ से कुरुक्षेत्र और हरिद्वार होते हुए दिल्ली, पीलीभीत, काशी, कामरूप तथा जगन्नाथपुरी की यात्रा के बाद वापस लौटे। इनके अजोधन व पाकपहन की ओर शेख फ़रीद से मिल जाने का उल्लेख भी हुआ है।[१]

इस प्रकार प्रस्तुत काल में कबीर से लेकर नानक तक प्रारम्भिक सन्तों का युग माना जा सकता है। इस युग में उत्तरभारत में भक्ति-आन्दोलन जिस रूप में सङ्कुटित हो रहा था, सन्तों का उसमें महत्वपूर्ण योगदान था। पीपा, रैदास, सेना जैसे सन्तों में साधना और भक्ति का रूप दक्षिण की वैष्णव-भावना के निकट था। कबीर का विद्रोही और दुर्धर्ष व्यक्तित्व इस युग की सांस्कृतिक चेष्टा की परम उपलब्धि माना जा सकता है। एक ओर उन्होंने अनेक चिन्ताधाराओं तथा साधना की परम्पराओं से अनेक तत्वों को आत्मसात् किया है तो दूसरी ओर समस्त सामाजिक तथा धार्मिक रूढ़ियों का खुला विद्रोह किया है। वे मानवीय धर्म की घोषणा करने वाले इस युग के समर्थ व्यक्तित्व थे। साथ ही नानकदेव में इस युग की सहिष्णुता, उदारता, तथा समन्वय बुद्धि का उत्कृष्ट विकास मिलता है।

१—निर्गुण का० दर्शन सि० ना० ति०, पृ० २३५ : धर्मेन्द्र अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ० ८२, ८३ : सं० का० सं०, पृ० २३५ से २३७.

१५२६ ई० से १६५८ ई० तक (बाबर से शाहजहाँ)—राणासाँगा को परास्त करने के बाद बाबर को राजस्थान में राजपूत शक्ति को पराजित करने में कठिनाई नहीं हुई। इसके बाद उसने बङ्गाल और बिहार के सूबेदारों और शासकों को पराजित किया। उसकी मृत्यु के समय १५३० ई० में पूर्व में बङ्गाल तक तथा दक्षिण में मलाया तक के सब प्रदेश उसकी अधीनता में आ चुके थे। परन्तु अभी तक बाबर की शासन-व्यवस्था भलीभाँति जम नहीं सकी थी। बिहार में शेरखाँ का विद्रोह था और दूसरी ओर गुजरात में शासक बहादुरशाह ने उत्तरभारत में हुमायूँ पर आक्रमण किया। इस आक्रमण को रोकने में इधर हुमायूँ की शक्ति लगी हुई थी और उधर शेरखाँ ने अपनी शक्ति बिहार में बढ़ा ली थी। अन्त में १५४० ई० में उसने हुमायूँ को परास्तकर दिल्ली का अधिकार प्राप्त कर लिया। उसने शेरशाह के नाम से सूरी वंश की राजसत्ता स्थिर की। अपनी शासन की योग्यता के कारण वह शीघ्र ही पञ्जाब, सिन्ध और मालवा को भी अपने राज्य में मिला सका। वह अपनी शासन-व्यवस्था के लिये भारतीय इतिहास में बहुत प्रसिद्ध है।

शेरशाह की मृत्यु (१५४५ ई०) के बाद सूरी वंश का राज्य देश में बहुत दिन तक नहीं रह सका। हुमायूँ ने ईरान के शाह की सहायता से अपनी शक्ति पुनः सङ्गठित कर ली थी और उसने काबुल तथा कन्धार को जीत कर १५५६ई० में शेरशाह के वंशज सुलतान सिकन्दर शाह को हराकर दिल्ली पर अधिकार कर लिया। अगले ही वर्ष सन् १५५६ में हुमायूँ की मृत्यु हो गई और अकबर को बचपन में ही राज्य का दायित्व ग्रहण करना पड़ा। उस समय तक मुग़लों का शासन उत्तर-पश्चिम भारत, पञ्जाब, दिल्ली, आगरा और उनके निकटवर्ती प्रदेशों तक ही सीमित रहा। परन्तु पूर्व में बङ्गाल और जौनपुर, पश्चिम में मालवा और सिन्ध तथा राजपूताना की अनेक रियासतें स्वतन्त्र हो चुकी थीं। इधर सूर वंशी अफ़गानों की शक्ति भी पूर्णतया नष्ट नहीं हुई थी। आदिलशाह सूर ने अपनी शक्ति सङ्गठित कर अपने हेमू नामक सेनापति की सहायता से आगरा तथा दिल्ली के प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया। पर अन्ततः १५५६ ई० में पानीपत के युद्ध में अकबर ने हेमू को परास्त कर दिल्ली और आगरा को पुनः अपने अधिकार में कर लिया।

अकबर ने अपनी शासन-व्यवस्था दृढ़ करने के साथ ही उत्तर भारत में अपने आधिपत्य के विस्तार की चेष्टा की। उसके सामने मुख्यतः दो शक्तियाँ

थीं जिनसे उसे लोहा लेना था। एक ओर राजपूतों की शक्ति और दूसरी ओर तुर्क अफ़गानों की शक्ति। मुग़ल और तुर्क-अफ़गान एक धर्म के होने पर भी राज्यसत्ता की प्रतिद्वन्द्विता में एक-दूसरे के शत्रु थे। ऐसी स्थिति में अकबर ने भारत में अपनी शासन-व्यवस्था को दृढ़ करने के लिए राजपूतों का सहयोग प्राप्त करने का उद्योग किया, जिसमें उसे सफलता भी मिली। अकबर ने क्रमशः मालवा तथा जौनपुर के अफ़गानी सूबेदारों को परास्त किया। उसके बाद उसने ग्वालियर और गोंडवाना के राजपूत शासकों को अपनी नीति के बल से जीता। राजपूत राजवंशों में मेवाड़ के राणाप्रताप ने अवश्य अकबर से सङ्घर्ष निरन्तर जारी रखा था। अन्य राजपूत राजा अकबर की नीति से संतुष्ट थे और उन्होंने अकबर के अन्तर्गत ऊँचे-ऊंचे पद स्वीकार कर लिये थे।

अकबर अपनी उदार नीति के लिए इतिहास में प्रसिद्ध है। उसने प्रसिद्ध तीर्थ-स्थानों में यात्रियों के तीर्थयात्रा-कर हटा दिये। १५६४ ई० में उसने हिन्दुओं से जज़िया कर वसूलना भी बन्द कर दिया। इस प्रकार हिन्दू-मुसलमान की एकता की भावना, जो विकसित हो रही थी, अकबर में उसी की परिणति देखी जा सकती है। अब तक तुर्क-अफ़गान काल में भारत में मुस्लिम वर्ग का शासन था, परन्तु अकबर के समय में ऐसे साम्राज्य की नींव पड़ी जिसमें धर्म के इस विभेद की दृष्टि नहीं थी। उसकी शासन-व्यवस्था में टोडरमल, भगवानदास तथा मानसिंह जैसे लोगों का दीवानी तथा सैनिक, दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण स्थान था। सम्पूर्ण मध्यप्रदेश के शासन को दृढ़ करने के बाद अकबर ने बङ्गाल, गुजरात, काश्मीर तथा बिलोचिस्तान पर भी विजय प्राप्त किया और दक्षिण में भी अपना राज्य विस्तार किया।

१६०५ ई० में अकबर की मृत्यु के उपरान्त मुग़ल-साम्राज्य की सत्ता उसके पुत्र सलीम के हाथ में आई जो जहाँगीर के नाम से प्रसिद्ध है। जहाँगीर की माँ राजपूत थी और उसमें हिन्दू रक्त विद्यमान था। स्वभावतः वह अपने पिता की उदार नीति के पक्ष में था। उसके युग में उत्तरभारत की शासन-व्यवस्था प्रायः स्थिर रही है। दक्षिण में अवश्य मुग़ल-शासन के विस्तार के लिये उसे अनेक युद्ध करने पड़े हैं। १६२६ ई० में जहाँगीर की मृत्यु के बाद उसका पुत्र शाहजहाँ मुग़लराज्य-सिंहासन पर बैठा। दक्षिण में उसे साम्राज्य विस्तार में सफलता प्राप्त हुयी और १६३३ ई० में उसने अहमदनगर

के निजाम शाही को परास्त किया तथा बीजापुर एवं गोलकुण्डा की राज्य शक्तियों को भी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया। वस्तुतः जहाँगीर तथा शाहजहाँ, दोनों के शासनकाल में मुग़ल साम्राज्य की नीति प्रायः अकबर की ही नीति रही और उत्तरभारत तथा मध्यदेश में अपेक्षाकृत शान्ति और व्यवस्था कायम रही। इस बीच में मेवाड़ के राजवंश तथा बुन्देलखण्ड की राज्य-शक्ति ने स्वतन्त्र होने के प्रयत्न अवश्य किये। जहाँगीर तथा राणाप्रताप के पुत्र अमरसिंह में अनेक युद्ध हुए, अन्त में दोनों पक्षों में सन्धि हो गई। बुन्देलखण्ड से जहाँगीर तथा शाहजहाँ को निरन्तर युद्ध करना पड़ा।

× × ×

मुग़ल-साम्राज्य के अभ्युदय काल में भारतीय संस्कृति का एक नया चित्र सामने आता है। सुल्तानों के समय से शासन सत्ता के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति का प्रारम्भ माना जा सकता है। क्रमशः यह प्रवृत्ति बढ़ती गई है। बाबर, हुमायूँ तथा शेरशाह सूरी के विचार उदार थे। इस कारण, यद्यपि उनका उद्देश्य साम्राज्यवाद था, परन्तु उन्होंने उसका आदर्श बदल दिया था। साम्राज्य को स्थापित करने का आधार अब भी सैनिक शक्ति थी, पर अब शान्ति का उद्देश्य केवल यह न था कि इसके सहारे साम्राज्य विस्तार किया जा सके और सम्राट के आतङ्क का आभास कराया जा सके। इन सम्राटों का ध्यान सर्वप्रथम जनता को सुखी और सम्पन्न करने की ओर गया। राजनीतिक-सम्बन्धी यह नया दृष्टिकोण शेरशाह तथा अकबर के भूमिकर सम्बन्धी सुधारों से स्पष्ट होता है। शेरशाह शासन-व्यवस्था के क्षेत्र में मौलिक कल्पना का व्यक्ति था। उसने किसानों के अधिकारों के रक्षा का विशेष ध्यान रखा। उसी का अनुकरण कर अकबर ने ऐसे नियम बनाये जिसका अनुसरण करना सरकारी कर्मचारियों के लिये अनिवार्य था। इस वातावरण में हिन्दू-मुसलमानों की धार्मिक भावना को वास्तविक आदान-प्रदान की भूमि मिल सकी।

इस शताब्दी में सुख और व्यवस्था के साथ साहित्य और कला को विकास का समुचित अवसर मिल सका तथा फ़ारसी भाषा और साहित्य की विशेष उन्नति हुई। फ़ारसी के सरकारी भाषा घोषित होने के कारण इसके प्रसार को विशेष प्रोत्साहन मिला। भारतीय फ़ारसी शैली का आरम्भ सुल्तान काल में अवश्य हुआ था पर उसके पूर्ण विकास का युग यही है। हिन्दू-मुस्लिम

संस्कृतियों की एकता की दृष्टि से अकबर ने रामायण, महाभारत, गीता तथा योगवासिष्ठ जैसे ग्रन्थों का अनुवाद फ़ारसी में करवाया। परिणामस्वरूप फ़ारसी के विद्वान् संस्कृत-भाषा और साहित्य के निकट आये और उनके विचार अधिक उदार हुए। अकबर ने धार्मिक उदार दृष्टि के परिणामस्वरूप सीकरी में इबादतख़ाना की स्थापना की थी। वस्तुतः इस युग की उदार नीति और व्यापक सहिष्णुता की भावना का समकालीन संस्कृति की उदार मानवतावादी दृष्टि से घना सम्बन्ध था।

इस युग के वास्तुकला सम्बन्धी प्रयोगों में भी सांस्कृतिक सम्मिलन की यह भावना परिलक्षित होती है। अकबर ने सीकरी में जो पञ्चमहला बनवाया था वह बौद्ध शैली में है, जोधाबाई के महल पर राजपूती कला की छाप है। इसी प्रकार यहाँ सजावट, अलङ्करण आदि में भी सम्मिलित संस्कृति की छाप देखी जा सकती हैं। परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि इस काल की वास्तु-कला में अनुकरण हुआ है, वस्तुतः विभिन्न परम्पराओं का आधार ग्रहण कर इस काल के शिल्पी ने अपने मौलिक व्यक्तित्व की खोज का भी प्रयत्न किया है।

सुल्तानों के युग में चित्रकला इस्लाम-धर्म के सिद्धान्तों के विरुद्ध होने के कारण राज्याश्रय प्राप्त नहीं हो सका था। यद्यपि हिन्दुओं में इसकी परम्परा चली आ रही थी। अकबर ने इस क्षेत्र में भी प्रयोग किया। इरानी चित्रकार, कहानियों को पुस्तकों में चित्रित करने की कला में श्रेष्ठ थे, उसके विपरीत भारतीयों में भित्ति-चित्रों की परम्परा समुन्नत रही थी। अकबर ने भारतीय चित्रकारों को संरक्षण प्रदान कर ईरानी-भारतीय चित्र-शैली का सूत्रपात किया। ईरानी प्रभाव से हिन्दू चित्रकारों ने ग्रन्थों को अलङ्कृत करने की कला सीखी। इस प्रकार इस युग में चित्रकला के क्षेत्र में भी भारतीय तथा ईरानी प्रभाव को सम्मिलित रूप में देखा जा सकता है।

इस युग की धार्मिक सहिष्णुता और उदारता के वातावरण में निर्भीक तथा स्वतन्त्र चिन्तन का अवसर मिला। इस्लाम-धर्म तथा शक्ति के आतङ्क के समाप्त होने से हिन्दुओं की ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र की समुन्नत परम्पराओं को पुनः अवसर मिल सका। स्वयं हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत विचारों के सङ्घर्ष की जो परम्परा पिछली शताब्दियों से चली आ रही थी, उसको गतिशील होने का मुख्य अवसर मिल सका। पिछले युग में ही कबीर तथा नानक जैसे

सन्तों ने धार्मिक-क्षेत्र में नवीन क्रान्ति उपस्थित की थी। निम्न वर्ग का नेतृत्व करने वाले सन्तों ने इस युग में अधिक निर्माणात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। इसका कारण यह है कि द्विजधर्मियों तथा शास्त्र की परम्परा को मानकर चलने वालों ने भी इस युग में समन्वय का मार्ग स्वीकार कर लिया था। उन्होंने हिन्दू-धर्म को वैष्णव भावना के नये उन्मेष में नवीन शक्ति प्रदान की और तत्कालीन नवीन विचारधारा को शास्त्रीय आवरण पहनाया। इस प्रकार इस युग में भक्ति की निर्गुण और 'सगुण धारायें एक-दूसरे के बहुत निकट आ चुकी थीं।

संस्कृति के क्षेत्र में सोलहवीं शताब्दी में सामञ्जस्य, सङ्कलन और सम्मिश्रण की भावना अपने चरम उत्कर्ष तक पहुँच चुकी थी। सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही इस युग की प्रक्रियायें परिलक्षित होने लगती हैं। सोलहवीं शताब्दी के राज्याश्रय में शास्त्रधर्मी और समाज में लोक-धर्मी, दोनों ही परम्पराओं का पूर्ण विकास हो सका था। परन्तु सत्रहवीं शताब्दी में अनुकरण की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। शासक और सामन्तवर्ग के पास ऐश्वर्य-विलास के साधन एकत्र हो चुके थे और उन्होने अपनी इसी प्रवृत्ति की प्रेरणा से अपने युग की कलाओं को संरक्षण प्रदान किया। अकबर ने सांस्कृतिक तत्वों को उनके गतिशील रूप में पहचाना था जब कि जहाँगीर की दृष्टि ऐश्वर्य-विलास से प्रेरित अलङ्करण की थी। उसके काल में साहित्य तथा कला के विविध रूपों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ, परन्तु उनमें शाहजहाँ के समय तक अलङ्करण तथा आलङ्कारिकता की प्रवृत्ति अधिकाधिक विकसिक होती गई है। इनकी अपेक्षा कल्पना तथा भावना के तत्वों का ह्रास देखा जाता है।

इस युग में अकबर के समय की सामञ्जस्य तथा समन्वय की धार्मिक एवं सामाजिक प्रवृत्ति धीरे-धीरे लुप्तप्राय होती गई। धार्मिक क्षेत्र में पुनः सङ्घर्ष का वातावरण दिखलाई देता है। जहाँगीर तथा शाहजहाँ दोनों ही बादशाह अकबर की अपेक्षा अधिक सङ्कीर्ण थे, यद्यपि इन्होंने धर्म को राजनीति के ऊपर प्रतिष्ठित नहीं होने दिया। इस धार्मिक सङ्कीर्णता के युग में वैष्णवभक्ति-आन्दोलन की व्यापक भावना को लेकर चलने वाले व्यक्तियों के नाम पर अनेक सम्प्रदाय और मत चल पड़े। नानक के पन्थ में धीरे-धीरे अनेक शाखाएँ तो विकसित हुईं थीं, गुरु अर्जुन के समय से इसने सिख-मत के रूप में राजसी आवरण धारण कर लिया और इस

मत के गुरुओं से दिल्ली की राजशक्ति का सङ्घर्ष चलता रहा। इसी प्रकार सन्तों के अनेक सम्प्रदाय इस युग में ही शुरू हो चुके थे।

× × ×

धरमदास—इस युग के अन्तर्गत सर्वप्रथम कबीर के शिष्य धरमदास को स्वीकार किया जा सकता है। इनका समय सोलहवीं शताब्दी माना गया है। ये कबीर की छत्तीसगढ़ी शाखा के प्रवर्तक माने जाते हैं। ये कंसोधन बनिया जाति के थे और पहले मूर्ति-पूजक थे। तीर्थाटन करते हुए ये मथुरा और वृन्दावन गये और कहते हैं कि पहली बार कबीर से इनकी भेंट काशी में हुई। अन्त में कबीर ने स्वयं बाँधवगढ़ जाकर इनको अपना शिष्य स्वीकार किया। इन्होंने अपनी पत्नी तथा अपने लड़के के साथ पारिवारिक जीवन व्यतीत किया और इनके बाद इनका पुत्र चूड़ामणि इनकी गद्दी पर बैठा।[1]

अङ्गददेव—इनका पहला नाम लहिना था और इनका जन्म १५०४ ई० में फीरोज़पुर जिले के भतेदीसराँय नामक स्थान पर फेरू नामक व्यापारी के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम दयाकुंवरि था। इनका विवाह इसी गाँव की खीरी नामक लड़की के साथ हुआ, जिससे इनके दो पुत्र और एक पुत्री का जन्म हुआ। मुग़लों के आक्रमण के कुछ समय बाद भतेदी सराँय नष्ट हो गई और लहना के पिता अपने परिवार सहित तरनतारन तहसील के खण्डूर नामक गाँव में चले गये। गाँव वालों के साथ एक बार ज्वालामुखी भगवती के दर्शन के लिए यात्रा करते समय करतारपुर में नानकदेव से इनकी भेंट हुई। वहाँ गुरु नानक से प्रभावित होकर ये उनके शिष्य हो गये। धीरे-धीरे इनकी भक्ति और साधना का प्रभाव नानकदेव पर इतना गहरा पड़ा कि इन्होंने अपने पुत्रों के बजाय अपनी गद्दी इनको ही सौंपी। गुरु की आज्ञा से ये खण्डूर में ज़ाकर रहने लगे। ये गुरु के सबद 'आसा-दी-वार' का पाठ कर रोगियों को रोग-मुक्त करते थे, अतिथियों को भोजन कराते थे और बच्चों के साथ खेलते थे। शेरशाह से पराजित होने के बाद हुमायूँ ने इनसे मिलकर आशीर्वाद ग्रहण किया, ऐसा कहा जाता है। इन्होंने १५३२ ई० में गुरुमुखी लिपि में नानक की वाणी का सङ्कलन कराया और १५५२ ई० में इनकी मृत्यु हुई।[2]

१—सं० का० पृ० २७६, २८० : धर्मेन्द्र अभि०, पृ० ८७. २—स० सु० सा०, पृ० १०१ : उ० भा० सं० प०, पृ० ३०१, ३०२.

अमरदास—इनका जन्म १४७९ ई० में अमृतसर से कुछ दूर बसरका नामक ग्राम में हुआ था। ये जाति के खत्री थे और इनके पिता का नाम तेजभान और माता का नाम बहुतकुँवरि था। ये अपने चार भाइयों में सबसे बड़े थे। तेईस वर्ष की अवस्था में मनसा देवी से इनका विवाह हुआ जिनसे दो पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं। पहले ये वैष्णव-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। नानक की वाणी का आकर्षण बढ़ने से इनके मन में गुरु अङ्गद का शिष्यत्व ग्रहण करने की भावना जागी। गुरु अङ्गद की पुत्री बीबी अमरू, जो इनके भतीजे से बियाही थी, उसकी सहायता से गुरु अङ्गद से इनकी भेंट हुई और ये उन्हीं के पास शिष्य रूप में रहने लगे। अन्ततः इनकी सेवा से प्रसन्न होकर गुरु अङ्गद ने इनको नियम-पूर्वक अपना शिष्य स्वीकार कर लिया। ये सांसारिक कार्य करते हुए भी ईश्वर की भक्ति में लीन रहते थे और इनके लिए बादशाह या फ़क़ीर समान थे। इनके अनुसार जिस प्रकार कीचड़ से कमल उत्पन्न होकर भी अपनी पङ्खुड़ी सूर्य के प्रति खिलाये रहता है उसी प्रकार मनुष्य को सांसारिक कार्यों में संलग्न रहकर भी ईश्वर के प्रति चित्त लगाना चाहिये। सन् १५५२ में ये गुरू की गद्दी पर बैठे और इनकी मृत्यु १५७४ ई० में हुई। इन्होंने अपनी गद्दी जेठा को सौंपी जो गुरु रामदास के नाम से प्रसिद्ध हुये।[1]

सिंगा जी—इनका जन्म मध्यप्रदेश की रियासत बड़वानी के खजूर-गाँव में १५१९ ई० में हुआ। इनके पिता का नाम भीमागोली और माता का नाम गौराबाई था। ये जाति के ग्वाले थे और बचपन में भैंस चराया करते थे। २१ वर्ष की अवस्था में (१५४० ई०) इन्होंने भीमगढ़ निमाड़ के राव साहब के यहाँ एक रुपया मासिक पर चिट्ठी-पत्री ले जाने की नौकरी कर ली। परन्तु बचपन से ही इनका मन विरक्त था। एक बार चिट्ठी लेकर घोड़े पर जाते समय इन्होंने मेलावाँ गाँव के पास ब्रह्मगीर महाराज का एक पद्य सुना जो उनके शिष्य मनरङ्गीर गा रहे थे। इससे प्रभावित होकर ये नौकरी छोड़कर मनरङ्गीर के शिष्य हो गये। इन्होंने वहीं ८०० भजनों की रचना की। कहते हैं, किसी आज्ञा के उल्लङ्घन करने के कारण गुरु ने इनसे कहा था कि तुम जीते जी अपना शकल न दिखाना। इसी कारण चालीस वर्ष की आयु में १६५५ ई०

१—उ० भा० सं० प०, पृ० ३०६, ३०७ : स० का०, पृ० २५७, २५८.

में इन्होंने जीवित समाधि ले ली। निमाड़-क्षेत्र में सिंगा जी के भजनों का व्यापक प्रभाव रहा है।[1]

रामदास—इनका जन्म १५३४ ई० में लाहौर में हरिदास नामक खत्री के यहाँ हुआ। बचपन में ये चना बेचने का काम करते थे। इनके रूप और गुण को देखकर गुरु अमरदास ने अपनी कन्या इनको व्याह दी थी। इनका बचपन का नाम जेठा था। विवाह के बाद ये अपने श्वसुर के पास शिष्य की भाँति रहने लगे। अपने श्वसुर व गुरु अमरदास की आज्ञा से रामदास ने गोयन्दवाद से पचीस मील दूरी पर एक 'सन्तोष सर' नामक तालाब बनवाया और यहीं अपने रहने का स्थान भी निश्चित किया। इसके पूर्व इन्होंने ही 'अमृतसर' नामक एक और तालाब बनवाया था, जहाँ अमृतसर नगर विकसित हुआ है। रामदास के तीन पुत्रों में अर्जुनदेव सबसे अधिक आज्ञाकारी थे और अन्ततः सबसे छोटे होने पर भी पिता का उत्तराधिकार इन्हें प्राप्त हुआ। इनकी मृत्यु १५८१ ई० में पैंतालीस वर्ष की अवस्था में हुई।[2]

शेख फ़रीद—इनका जन्म सन् १५०० ई० के आस-पास माना जाता है। 'खुलास तुन्तवारीख' के आधार पर मैकालिफ़ ने इनकी मृत्यु सन् १५५२ ई० में मानी है। उस समय तक अपने गुरू की गद्दी पर ये चालीस वर्ष तक बैठ चुके थे। इनके दो लड़के बताये जाते हैं और सूफ़ियों में शेख़सलीमचिश्ती फ़तहपुरी का नाम प्रसिद्ध है। इनका जन्म दीपालपुर के निकट बसे हुए किसी कोटिवाल नामक गाँव में हुआ था और इनकी समाधि सरहिन्द में अभी तक वर्तमान है। ये पाकपट्ट (मान्टगुमरी जिले का अजोधन गाँव) की मूलगद्दी के संस्थापक बाबा फ़रीद अर्थात् शेख़ फ़रीरुद्दीन चिश्ती व शक्करगञ्ज के शिष्य-परम्परा में थे। कहा जाता है कि नानकदेव ने इनसे भेंट की थी। 'गुरुग्रन्थ साहब' में इन्हीं शेख़ फ़रीद की रचनाएँ सङ्कलित हैं।[3]

दादू—दादू का जन्म सन् १५४४ ई० में माना जाता है। इनके जन्म-स्थान के विषय में एक परम्परा अहमदाबाद को स्वीकार करती है तो दूसरी काशी के पास जौनपुर को बताती है। इनके गुरु बाबा वृद्धन, रामानन्द की शिष्य-परम्परा में छठे स्थान पर आते हैं। एक मत के अनुसार

१—स० का०, पृ० २६७, २६८. २—उ० भा० स० प०, पृ० ३०८. ३—स० का०, पृ० २५२.

इन्होंने लोदीराम नागर ब्राह्मण के यहाँ अहमदाबाद में जन्म लिया था। अठारह वर्ष की अवस्था तक वहाँ रहकर ६ वर्ष तक ये मध्यदेश में भ्रमण करते रहे। इसके बाद सांभर स्थान में कुछ दिन रहकर आमेर पहुँचे। उस समय मानसिंह के पिता भगवानदास वहां के राजा थे। दादू १४ वर्ष तक आमेर में रहने के बाद मारवाड़, बीकानेर आदि राज्यों में घूमते हुए नारायण में आये और यहीं सन् १६०३ ई० में इनकी मृत्यु हुई। फुलेरा के पास नारायण दादूपन्थियों का तीर्थ-स्थान है। इन्होंने देश के काफ़ी क्षेत्रों में यात्राएँ की थीं।[1]

बषना—दादू के शिष्यों में बषना प्रमुख और प्रिय शिष्य थे। ये कवि तथा सङ्गीतज्ञ भी थे। इनका जीवन-काल १५५३ ई० से १६४३ ई० तक माना जाता है। ये जाति के मीरासी थे और दादू की भाँति ही गृहस्थ थे। इन्होंने दादू से सांभर में दीक्षा ली थी और बाद में नारायणनगर में रहने लगे। इनकी भाषा से यह सिद्ध होता है कि ये मारवाड़ के रहने वाले थे।[2]

हरिपुरुष—हरिदास निरञ्जनी दादू के प्रधान शिष्यों में अन्यतम गिने जाने वाले प्रागदास के शिष्य थे। इस बात का प्रमाण मिलता है कि इन्होंने प्रागदास से १५९९ ई० में दीक्षा ली। ये अपने अनुयायियों में हरिपुरुष के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका जन्म डीडवाणा परगने के कापड़ोद गाँव में हुआ था। ये जाति के क्षत्रिय थे। इनका समय पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में पड़ता है। प्रारम्भ में ये वन में यात्रियों की लूटमार करते थे और अन्त में किसी साधु के उपदेश से ये सन्मार्ग पर आये। इसके बाद ही नागौर, अजमेर, टोडा, जयपुर, शेखाबाटी होते हुए डीडवाणे पहुँचे। बहुत समय के उपरान्त वहीं १६४३ ई० में इनकी मृत्यु हुई।[3]

अर्जुनदेव—इनका जन्म गुरु रामदास की पत्नी बीबी मानी से १५६३ ई० में गोयन्दवाल में हुआ। इनके नाना गुरु अमरदास इन्हें बहुत मानते थे। इनका विवाह जालन्धर के मेंवाँ गाँव में रहने वाले किशनचन्द की पुत्री गङ्गा से हुआ था। अर्जुनदेव ने अपने पिता के द्वारा बनवाये हुए तालाबों को बँधाने का काम किया। इन्होंने हरमन्दर नाम का मन्दिर १५७९ ई० में बनवाया। ये गुरु रामदास के मरने के बाद १५८१ ई० में गुरुगद्दी पर

१—आ० क्षितिमोहन सेन, स० सा० वि०, पृ० १०३ से १०७ : धर्म० अभि० पृ० ८९. २—बषना वा०, पृ० २, ३ : सं० का० वि०, पृ० ३०९, ३१०. ३—हरि० पु० बा०, पृ० ग से त : सं० का०, पृ० ३२१.

बैठे। सन् १५६५ ई० में बड़ाली नामक गाँव में इनकी पत्नी गङ्गा से हरिगोविन्द नामक पुत्र पैदा हुआ। अर्जुनदेव ने ही १६०४ ई० में प्रसिद्ध भक्तों के पदों का सङ्कलन कराया जो बाद में 'ग्रन्थ साहब' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अपने पुत्र हरगोविन्द के रिश्ते को लेकर इनमें तथा बादशाह के दीवन चन्दू-शाह में वैमनस्य हो गया। साथ ही खुसरू के विद्रोह में सहायता देने के अपराध में जहाँगीर ने इन्हें कारागार में डाल दिया और वहीं इनकी मृत्यु सन् १६०६ ई० में तैंतालीस वर्ष की आयु में हुई। वास्तव में यहीं से दिल्ली की राज्यशक्ति और सिक्खों की शक्ति का संघर्ष प्रारम्भ होता है।[1]

हरगोबिन्द—इनका जन्म १५६५ ई० में बड़ाली नामक गाँव में हुआ था। कारावास में पिता की मृत्यु की प्रतिक्रिया इनके मन पर बहुत अधिक हुई। परिणामस्वरूप इन्होंने अपने पन्थ को एक सङ्गठित रूप में परिणित कर दिया। प्रारम्भ से नानकदेव का पन्थ धार्मिक जीवन और उन्नति पर आधारित था, परन्तु अर्जुनदेव के समय से ऐसी राजनीतिक घटनाएँ हुईं जिससे आगे आने वाले गुरुओं को अपने पन्थ को सैनिक सङ्गठन में परिवर्तित कर देने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। हरगोविन्द ने सन् १६०६ ई० में अमृतसर के स्वर्ण-मन्दिर में 'तख्त अकाल दुर्ग' की नींव डाली, जहाँ पर आज तक महत्वपूर्ण शास्त्र सुरक्षित रखे रहते हैं। उन्होने सेली और दुपट्टा के स्थान पर तलवार और सैनिक पोशाक ग्रहण की और सेली को अपने संग्रहालय में सुरक्षित रख दिया। उन्होंने अपने शिष्यों को आदेश दिया कि वे गुरु-दक्षिणा में धन न देकर शस्त्र एवं घोड़ों का उपहार दिया करें। ये मुग़ल सेना में अधिकारी रहे और साथ ही कई बार मुग़ल सेना से इनके युद्ध भी हुए। तीसरी बार मुग़ल सेना ने १६२१ ई० में सिख सेना को परास्त किया और ये पर्वतों की ओर चले गये। इनकी मृत्यु १६४५ ई० में करतारपुर में हुई।[2]

रज्जब—दादू के शिष्यों में रज्जब महत्वपूर्ण हैं। इनका जन्म साङ्गानेर के प्रतिष्ठित पठान वंश में सन् १५६७ ई० में हुआ। इनके पिता जयपुर के महाराज की सेना में नायक थे। बचपन से व्यायाम, कुश्ती तथा शस्त्रास्त्र के प्रयोग के अभ्यास के कारण इनका शरीर सशक्त और सुडौल

१—उ० भा० स० प०, पृ० ३०८ : भा० इ० रूप खा, पृ० १४०.
२—उ० भा० का० प०, पृ० ३१८ : भा० इ० की रूपरेखा पृ० १४१.

था। कहते हैं कि आमेर के किसी पठान के घराने में इनकी सगाई तय हुई और जब ये मौर बाँधकर विवाह करने जा रहे थे तभी इनके कान में दादू की वाणी पड़ी, जिसके प्रभाव से रज्जब के मन में वैराग्य की भावना जागृत हो गई और ये दादू के शिष्य हो गये। रज्जब और वषना, दोनों गुरु-भाइयों की भेंट का भी उल्लेख किया जाता है। अन्तिम समय में रज्जब जङ्गल में चले गये जहाँ इनकी मृत्यु सन् १६८३ ई० में हुई।[1]

मलूकदास—इनका जन्म इलाहाबाद जिले के कड़ा नामक कस्बे में १५७४ ई० में हुआ। इनके पिता सुन्दरदास कक्कड़ी खत्री थे। इनके भतीजे एवं शिष्य सुथरादास ने एक परिचयी लिखी है जिससे इनके जीवनवृत्त का पता चलता है। इनके तीन भाइयों की भी चर्चा की गई है। बचपन से ही वे उदार वृत्ति के तथा साधुओं का आदर करने वाले थे। इनके गुरु के बारे में मतभेद है। कुछ लोग इनको विट्ठलदास का शिष्य मानते हैं और कुछ लोग देवनाथ नामक महात्मा का शिष्य। कुक के अनुसार मलूकदास रामानन्द शिष्य-परम्परा के किसी कोल्ह नामक महात्मा के शिष्य थे, पर इसका कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। इनका जीवन प्रायः कड़ा में ही बीता और इनकी मृत्यु वहीं सन् १६८२ ई० में हुई। मलूकदास का प्रभाव अपने जीवन काल में बहुत विस्तृत था। इनके अनुयायी पटना से लेकर काबुल तक फैले हुए थे। इनकी गद्दियाँ अनेक क्षेत्रों में स्थापित हुई थीं जिससे इनका प्रभाव प्रकट होता है।[2]

सुन्दरदास—इनका जन्म सन् १५९६ ई० में खण्डेलवाल जाति में जयपुर राज्य की पहली राजधानी धोसा नगर में हुआ था। इनके जीवन काल में अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और औरङ्गजेब—चार मुगल बादशाहों का समय पड़ता है। इनकी मृत्यु १६९९ ई० में तिरानबे वर्ष की अवस्था में हुई। ये अपने गुरु दादू के सम्पर्क में पाँच-छः वर्ष की अवस्था में आये थे। इनकी शिक्षा की व्यवस्था इनके गुरु भाई रज्जब तथा जीवन साहब ने १६०७ ई० में काशी में की। इनका अध्ययन सन् १६२६-२७ ई० तक चलता रहा जिसमें इन्होंने साहित्य तथा दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया। इसके बाद बारह वर्ष का समय योग-साधना में बिताया। अध्ययन के बाद ये काशी से शेखावाटी में

१—उ० भा० सं० प०, पृ० ४१८–४ : स० सु० सा०, पृ० ५१०, ५११ : स० का०, पृ० ३६९, ३७०. २—धर्म० अभि० ग्र०, पृ० ९२ : स० का०, पृ० ३५१ : मलूकबानी, पृ० ७.

लौट आये। उस समय इस क्षेत्र में जगजीवनदास, सन्तदास, भीषण और वषना जैसे सन्त रहते थे। यहाँ के फतहपुर क्षेत्रमें इनकी ख्याति फैल गई और यहाँ के नवाब अलफ़ खाँ ने भी इनको सम्मान दिया। इन्होंने पूर्व में बङ्गाल, बिहार, उड़ीसा, दक्षिण में गुजरात और मालवा, उत्तर में बद्रिकाश्रम तथा सम्पूर्ण मध्यप्रदेश में भ्रमण किया। इनकी रचनाओं से इनके अध्ययन, भाषाओं के ज्ञान तथा भ्रमण-शीलता का परिचय मिलता है। अन्तिम समय में सुन्दरदास जयपुर के समीप साङ्गनेर नामक स्थान में चले गये और वहीं इनकी मृत्यु १६८९ ई० में हुई।[1]

प्राणनाथ—इनका जन्म काठियावाड़ प्रदेश के जामनगर स्थान के क्षत्रिय परिवार में सन् १६१८ ई० में हुआ। इनके पिता क्षेम इस क्षेत्र के ज़मींदारों में से एक थे। ये बाल्यावस्था से ही अपना जन्म-स्थान छोड़कर साधुओं के साथ विचरने लगे। देश-भ्रमण तथा साधुओं के सत्सङ्ग से इन्होंने अरबी, फ़ारसी तथा हिन्दी की अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। हिन्दू धर्म के 'वेदादि धर्मग्रन्थों', इस्लाम धर्म की 'कुरान' इसाइयों की 'इञ्जील' और यहूदियों की 'तोरेत' जैसी पुस्तकों के अध्ययन के द्वारा इन्होंने अपने विचारों को परिपक्व और व्यापक बना लिया था। इन्होंने सिन्धु, गुजरात, महाराष्ट्र, मालवा और काठियावाड़ प्रदेशों में विस्तृत भ्रमण किया था। इनके गुरु देवचन्द अथवा निजाबन्दाचार्य ने जामनगर में राधाकृष्ण का एक मन्दिर बनवाया था। गुरू के देहान्त के बाद ये कुछ दिन तक एकान्तवास करके महाराज ठाकुर के नाम से गद्दी पर बैठे। देशाटन की इनकी इच्छा अदम्य थी। कहते हैं कि इन्होंने अरब देश की यात्रा भी की थी। बुन्देलखण्ड के महाराज छत्रसाल से इनकी भेंट का उल्लेख उनके दरबारी कवि गोरेलाल ने किया है। छत्रसाल इनके शिष्य भी हो गये थे। इन्होंने धार्मिक एकता पर निरन्तर बल दिया है और इसी दृष्टि से इन्होंने कालपी नगर में एक विशाल सभा का आयोजन भी किया था। इनकी पत्नी इन्द्रामती विदुषी थीं और अनेक भाषाओं

१—सु० ग्र० भूमिका, पृ० ६० : सु० दर्शन, पृ० ३ : सुथरादास की प०, पृ०१६ : रि० पा० आफ़ मु०, पृ० १२० : हि० सा० का आ० इति० : डॉ० रामकुमार : पृ०. ३९९ : उ० भा० सं० प०, पृ० ४२८, ४२९ : धर्म० अभि० ग्र०, पृ० ९४, ९५.

की ज्ञाता थीं। दम्पत्ति ने मिली-जुली भाषा में चौदह ग्रन्थ लिखे जिसमें 'कुलज़मे शरीफ़' अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी मृत्यु १६६४ ई० में हुई।[१]

१६५८ ई० से १८०० ई० तक (उत्तर मुगल काल) सन् १६५८ ई० में शाहजहाँ के जीते ही अपने भाइयों को गृहयुद्ध में परास्त कर और पिता को कैद कर औरङ्गजेब ने मुग़ल-साम्राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली। औरङ्गजेब ने अकबर की उदार नीति का त्याग किया और इस्लामी धार्मिक भावना से प्रेरित होकर भारतवर्ष को इस्लामी राज्य में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया। मुग़ल-साम्राज्य की आधारशिला धार्मिक सहिष्णुता और उदारता पर प्रतिष्ठित थी। अकबर ने अपने राज्य को राजपूत राजाओं और सामन्तों की सहायता से सुसंङ्गठित किया था। औरङ्गजेब ने इस नीति को पूर्णतः अस्वीकार किया। उसने भेद-भाव की नीति को अपनाकर अपनी राज्य-व्यवस्था में मुसलमानों को हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक प्रश्रय देना प्रारम्भ किया। हिन्दुओं को इस प्रकार अपने विरुद्ध कर लेना औरङ्गजेब के लिए अहितकर सिद्ध हुआ। उसके विरुद्ध अनेक हिन्दू शक्तियों का सङ्गठित हो जाना स्वाभाविक था। मथुरा के समीप जाटों ने, नारनौल के समीप सत्तनामी सम्प्रदाय ने, राजपूताना में दुर्गादास राठौर के नेतृत्व में राजपूतों ने, पञ्जाब में सिक्खों के गुरू तेग़बहादुर ने, बुन्देलखण्ड में छत्रसाल के नेतृत्व में और दक्षिण में मराठा शक्ति को सङ्गठित कर शिवा जी ने मुग़ल शक्ति के प्रति विद्रोह किया। इसके अतिरिक्त औरङ्गजेब को दक्षिण की शक्तियों से भी निरन्तर सङ्घर्ष करना पड़ा।

औरङ्गजेब के राज्य-काल के अन्तिम समय में मुग़लों की शक्ति क्षीण होती जा रही थी और अन्य अनेक शक्तियाँ सङ्गठित होती जा रही थीं। सन् १६८० ई० तक (अपनी मृत्यु के समय तक) शिवाजी ने मराठा शक्ति को समुचित रूप से सङ्गठित कर लिया था। औरङ्गजेब ने अपनी शक्ति को निरन्तर अपने प्रयत्नों से मुग़ल साम्राज्य को किसी-न-किसी प्रकार संभाल रखा था परन्तु उसके निर्बल उत्तराधिकारियों के लिए सम्भव नहीं हो सका। शिवाजी के उत्तराधिकारी सम्भाजी के बाद पेशवाओं ने मराठा शक्ति को अधिक सङ्गठित कर लिया था। बालाजी

१—हिन्दी अनु०, वर्ष ११, अङ्क १, पृ० ३० : ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ६३, अङ्क २, पृ० १३७.

विश्वनाथ (१७१३ ई०-१७२० ई०), बाजीराव (१७२० ई०-१७४० ई०) तथा बालाजी बाजीराव (१७४० ई०-१७६१ ई०) ने अपने अधिकार क्षेत्र को दक्षिण से बढ़ाकर उत्तरभारत के विविध क्षेत्रों तक प्रसारित किया।

पञ्जाब में सिक्खों की शक्ति सङ्गठित हो रही थी और उनका राज्य-शक्ति के रूप में आविर्भाव हो रहा था। मथुरा तथा आगरे के प्रदेशों में जाटों ने राज्य स्थापित किया। इसके अतिरिक्त अनेक प्रान्तीय सूबेदार दिल्ली की उपेक्षा कर स्वतन्त्र राजाओं और सामन्तों के समान आचरण करने लगे। इसी काल में १७३६ ई० में ईरान के बादशाह नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया। तत्कालीन दिल्ली का बादशाह मुहम्मदशाह इस आक्रमण का मुकाबला करने में असमर्थ था। इस आक्रमण से दिल्ली की शक्ति और भी क्षीण हो गई और मुग़ल बादशाह नाम के लिये रह गये। इसी समय अहमदशाह अब्दाली ने १७५७ ई० में पुन: आक्रमण किया और उसने दिल्ली को बुरी तरह लूटा। सन् १७६१ ई० में उसने पुनः मराठों की शक्ति के विरुद्ध आक्रमण किया। इस समय तक मरहठों की सत्ता पञ्जाब तक स्थापित हो चुकी थी। किन्तु अब्दाली और मरहठों के इस सङ्घर्ष में मराठों को पराजित होना पड़ा और इससे उनकी शक्ति को बहुत अधिक धक्का लगा।

जिस समय भारत की राज्य-शक्तियाँ इस प्रकार सङ्घर्ष कर रही थीं, उस समय समुद्र के मार्ग से आने वाली यूरोपीय जाति में अंग्रेज अपने कौशल से अधिक शक्तिशाली हो चुके थे। मराठा शक्ति के पतन के साथ-ही-साथ अंग्रेज़ों की शक्ति भारत में अधिकाधिक बढ़ती गई और अठाहरवीं शदी तक वे भारत की प्रधान राज्य-शक्ति बन चुके थे। इस समय दिल्ली में मुगल बादशाहों का शासन होने पर भी उनकी शक्ति निष्क्रिय हो चुकी थी। अवध, बङ्गाल तथा दक्षिण की सूबेदारियाँ स्वतन्त्र होकर अपनी अलग राज्य-सत्ता स्थापित कर चुकी थीं। अठाहरवीं सदी के मध्य-भाग में मराठा-शक्ति के विभिन्न केन्द्र ग्वालियर, नागपुर, इन्दौर, बड़ौदा तथा महाराष्ट्र में स्थापित हो चुके थे। राजपूताना तथा बुन्देलखण्ड के राजपूत अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने के प्रयत्न में थे। पञ्जाब में सन १७६१ ई० में मराठा शक्ति के समाप्त होने पर सिक्खों

ने अपनी राज्य-शक्ति स्थापित कर ली थी। इसी प्रकार मथुरा तथा आगरा के क्षेत्रों में जाट-राज्य स्थापित हो चुके थे। ऐसी स्थिति में सारा देश अनेक राज्य-शक्तियों में विभाजित तथा विशृंखलित हो चुका था।

× × ×

मध्ययुग में सांस्कृतिक चेतना का मूल केन्द्र धर्म को माना जा सकता है। पिछले साधकों, सन्तों, भक्तों तथा आचार्यों ने धार्मिक जीवन को ही सांसारिक जीवन की आधार-शिला स्वीकार की थी। जिन सन्तों और आचार्यों ने जीवन में साधना, आचरण तथा भक्ति को महत्व दिया था, लोक के व्यावहारिक पक्ष में उन्हीं के नाम पर साम्प्रदायिक सङ्गठनों का सूत्रपात्र हुआ। इनके नाम पर अनेक सम्प्रदाय और अनेक गद्दियाँ स्थापित हुई। यद्यपि इन सबके पीछे आचरण तथा साधना की समान उदात्तभावना विद्यमान थी, परन्तु इस प्रकार के सम्प्रदायों के सङ्गठन से एकता की भावना खण्डित हुई और साथ ही संकीर्ण दृष्टियों को प्रोत्साहन मिला। इसके साथ ही औरङ्गजेब की धार्मिक नीति ने हिन्दू-मुसलमानों के बीच की खाई को और भी अधिक विस्तृत कर दिया। यह ऐतिहासिक परिस्थिति की ही बात है कि दारा जैसे सहिष्णु तथा उदार दृष्टिकोण के व्यक्ति के स्थान पर औरङ्गजेब जैसे असहिष्णु और कट्टरपन्थी व्यक्ति को राजनीतिक सङ्घर्ष में सफलता प्राप्त हुई।

सांस्कृतिक दृष्टि से इस विशृङ्खलता के काल में विलास और ऐश्वर्य की प्रवृत्ति अपने पतनोन्मुखी स्तरों तक विकसित हो चुकी थी। इसी के परिणाम स्वरूप साहित्य में शृङ्गार, अलङ्करण, अनुकरण तथा रूढ़िवादिता की दृष्टि अधिकाधिक विकसित होती गई है। इस काल के फ़ारसी साहित्य में भी अनुकरण, चमत्कार और वैचित्र्य का आग्रह दिखाई देता है। मूर्तियों के शृङ्गार में इतनी वृद्धि हुई कि उसमें मूर्ति का अपना सौन्दर्य विलीन हो गया। सत्रहवीं शताब्दी की वास्तुकला तथा चित्रकला में इस शृङ्गार की भावना की प्रचुरता का प्रभाव वस्तुतः परिलक्षित होता है।

अठारहवीं शताब्दी में ऐश्वर्य और विलासिता की भावना अपने पतन की सीमा पर पहुँच चुकी थी। प्रतापी मुग़लवंश के उत्तराधिकारी, सम्राट् जहाँदारशाह के समान शृङ्गारी, विलासी तथा पौरुषहीन हो गये थे। इतिहासकारों ने इसे वेश्याओं और हिजड़ों का युग कहा है। शासक-वर्ग के

जीवन का प्रभाव उसके अमीर-उमराव तथा सामन्तों पर भी पड़ना आवश्यक था। उनकी रुचि भी पौरुषहीन विलासिता की ओर प्रवृत्त हुई। उनके संरक्षण में साहित्य तथा कला का पतनोन्मुखी होना अनिवार्य था। रुढ़िवाद का आडम्बर इस युग की प्रमुख विशेषता हो गई। परन्तु इस ह्रासोन्मुखी परिस्थिति में भी जनता का जीवन धर्म और साधना की उन परम्पराओं पर अधिकतर चल रहा था जिनका सूत्रपात भक्ति-आन्दोलन ने किया था। परन्तु ये परम्पराएँ भी रूढ़िवादी, सङ्कीर्ण और साम्प्रदायिक हो चुकी थी।

× × ×

तेगबहादुर—गुरु तेग़बहादुर का जन्म सन् १६२१ ई० में हुआ था। १६५५ ई० में ये गुरु की गद्दी पर आसीन हुए। उस समय इनकी अवस्था तैंतालिस वर्ष की थी। अपने भाई भीममल के कारण इनको किरतपुर त्याग कर, आनन्दपुर बसना पड़ा और उन्हीं के कारण यात्रा के लिये निकल पड़ने पर विवश होना पड़ा। मार्ग में कड़ा मानिकपुर में इनकी मलूकदास से भेंट हुई जहाँ से ये इलाहाबाद और बनारस भी गये। बनारस में रेशमकटरा नामक मुहल्ले में इनके ठहरने का उल्लेल किया जाता है, वहाँ शत्रुकोठा नामक स्थान में आज तक इनके जूते तथा जामा सुरक्षित हैं। इनके समय से दिल्ली की शासनसत्ता से सिक्खों का सङ्घर्ष प्रारम्भ हो चुका था। एक बार औरङ्गजेब से सन्धि हो जाने पर ये मुग़ल-सेना के साथ कामरूप के युद्ध में गये थे और वहाँ इन्होंने सन्धि भी करा दी थी। बाद में औरङ्गजेब के धार्मिक नीति के कारण इनको बन्दीगृह में जाना पड़ा। क़ैद से छुटकारा पाने के प्रयत्न का मिथ्या दोष लगाकर इनका दण्ड और भी कठोर कर दिया गया। इन्हे लोहे के पिंजड़े में क़ैद रखा गया और वहीं १६७५ ई० में प्राणदण्ड दिया गया। इस प्रकार गुरु तेग़बहादुर के समय से मुग़ल शासन शक्ति और सिक्खों का निरन्तर चलने वाला सङ्घर्ष शुरू हो जाता है।[1]

गोविन्द सिंह—जब इनके पिता तेग़बहादुर सैनिक अभियान में कामरूप गये हुए थे, उसी समय सन् १६६६ ई० में इनका जन्म पटना में हुआ। तेग़बहादुर पटना होते हुए आनन्दपुर वापस चले गये पर गोविन्द सिंह का

१—श्री० गु० ग्र० दर्शन, पृ० २६ : स० का०, पृ० ३४०, ३४१।

बचपन माता के साथ पटना में ही बीता। वहीं इन्होंने तैरना, तीर चलाना, नाव खेना तथा युद्ध करना आदि भलीभाँति सीखा। फिर ये पटना से मिर्जापुर, बनारस, अयोध्या तथा लखनऊ होते हुए अपने पिता के पास आनन्दपुर पहुँचे। अपने पिता की कठोर यातनाओं के कारण इन्होंने अपने पन्थ में आध्यात्मिक शक्ति के साथ सैनिक शक्ति को भी आवश्यक समझा। इन्होंने धार्मिक सम्प्रदाय को सैनिक शक्ति में परिवर्तित कर दिया। हर सिक्ख के लिए शस्त्र धारण करना अनिवार्य कर दिया। सिक्ख धर्म के पाँच चिह्न—कङ्घा, कड़ा, केश, काछा और कृपाण—इन्हीं के द्वारा प्रचलित किये हुए हैं। गोविन्दसिंह को औरङ्गजेब से युद्ध करना पड़ा। औरङ्गजेब की मृत्यु के बाद सन् १७०७ ई० में बहादुरशाह से इनकी मित्रता हो गई। गोविन्दसिंह ने किशनगढ़ में पाँच पयादों द्वारा खालसा-सम्प्रदाय की नींव डाली। बदेड़गाँव में किसी पठान ने इनके पेट में तलवार गुभा दी थी। इनका यह घाव बहादुरशाह के हकीम के द्वारा ठीक कर दिया गया था, परन्तु धनुष की प्रत्यञ्चा चढ़ाते समय उस घाव के खुल जाने से १७०८ ई० में इनकी मृत्यु हो गई।[1]

धरनीदास—माँझी गाँव जिला सारन (बिहार) के कायस्थ वैष्णवकुल में धरनीदास का जन्म सन् १६५६ ई० में हुआ था। ये अपने पाँच भाइयों में सबसे बड़े थे। धरनीदास स्थानीय नवाब के यहाँ दीवान के पद पर नियुक्त थे। पिता की मृत्यु पर इन्हें बहुत ही दुःख हुआ और पारिवारिक जीवन में इनकी विरक्तिभाव को और भी दृढ़ कर दिया। नौकरी का त्याग कर इन्होंने रामानन्द के शिष्य विनोदानन्द का पातेसुर जिला मुजफ्फरपुर में शिष्यत्व ग्रहण किया। इसके बाद इन्होंने अपना जीवन भक्तिभावना में ही व्यतीत किया और इनके भजन का स्थान रामनगर के नाम से विख्यात हुआ।[2]

यारीसाहब—कहते हैं यारी साहब शाही घराने के थे और जाति के मुसलमान थे। ये दिल्ली में अपने गुरु बीरू साहब की सेवा में रहा करते थे। इनकी समाधि दिल्ली में है। इनका समय अनुमानतः सन् १६६८ ई० से १७१३ ई० के बीच माना जाता है। सम्भवतः ये मलूकदास और प्राणनाथ के समकालीन रहे हों।[3]

१—श्री गु० दर्शन पृ० २७ : सं० का०, पृ० ४१३ : स० के चार ग्र०; पृ० ३१८. २—उ० भा० की स० प० पृ० ५५८, ५६० : धर्मं० अभि० ग्र० पृ० १००. ३—यारी बा० पृ० ३, ४.

केशवदास—केशवदास, यारी साहब के प्रसिद्ध शिष्यों में से थे। ये जाति के बनिया थे। इन्होंने अपनी अमीघूंट में यारी साहब को गुरु माना हैं। इनका समय सन् १६९३ ई० से १७६८ ई० तक माना जाता है।[1]

बुल्ला साहब—यारी साहब के प्रसिद्ध पाँचवें शिष्य बुल्ला साहब गाजीपुर जिले के भुड़कुड़ा नामक गाँव के निवासी थे। ये जाति के कुर्मी थे। कहा जाता है कि ये गुलाल साहब के यहाँ हल जोता करते थे। इनकी अलौकिक भक्ति देखकर गुलाल साहब इनके शिष्य हो गये थे। इनका समय सन् १६३२ ई० से १७०९ ई० तक माना जाता है। ७० वर्ष की आयु में इन्होंने शरीर छोड़ा। जहाँ ये कुटी बनाकर रहा करते थे, वह आज भी रामवन के नाम से प्रसिद्ध है।[2]

दरिया साहब (बिहार वाले)—दरिया नाम के दो सन्त हुए हैं—एक बिहार तथा दूसरे मारवाड़ में। बिहार वाले दरिया साहब का जन्म शाहावाद जिला के धरकन्धा नामक गाँव में एक मुस्लिम कुल में हुआ था। इनका जीवनकाल सन् १६७४ ई० से सन् १७८० ई० तक माना जाता हैं, जिसके अनुसार इनकी आयु १०६ वर्ष की ठहरती है। इनका विवाह ९ वर्ष की आयु में हो गया था। इनकी पत्नी का नाम रायमती था। इनके पुत्र ठेकारदास थे। पन्द्रहवें वर्ष इन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया था और तीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने उपदेश देना आरम्भ कर दिया था। कहा जाता है कि क़ासिमअली ने दरिया साहब को धरकन्धे में १०१ बीघा जमीन दी थी। अनुमान किया जा सकता है कि यह क़ासिमअली कदाचित् मीरक़ासिम रहा होगा जो सन् १७६० से १७६३ ई० तक सूबा बंगाल का गवर्नर था। वह सन् १७६०–६१ ई० में पटना में रहा था। यहाँ से मुख्य केन्द्र ससराम को बनाकर उसने भोजपुर (जिला शाहाबाद) के विद्रोहियों का दमन किया था। दरिया साहब अपने जीवन के अन्त में धरकन्धे में ही रहे, केवल कुछ दिनों के लिये काशी, मगहर, गाजीपुर और लहठान (जिला शाहाबाद) में जाकर उपदेश दिये।[3]

दरिया (मारवाड़ वाले)—इनका जन्म मारवाड़ के जैतारन नामक गाँव में सन् १६७६ ई० में हुआ था। ये जाति के धुनिया मुसलमान थे।

१—केशव की अमी०, पृ० २. २—बु० वा० भूमिका : डॉ० त्रिगुणायत, शोधप्रबन्ध, भूमिका. ३—दरि० बि० अनु०, पृ० ८ : सं० का०, पृ० ४३२ : धर्मे० अभि० ग्र०, पृ० ९८.

जब ये सात वर्ष के थे, इनके पिता का देहान्त हो गया और ये परगना मेड़ता में रैन नामक गाँव में अपने नाना के यहाँ रहने लगे जिनका नाम कमीच था। इन्होंने प्रेम जी से बीकानेर के खिमा नगर गाँव में दीक्षा ली थी। इनकी मृत्यु सन् १७५८ ई० में ८२ वर्ष की अवस्था में हुई।[1]

गुलाल साहब—इनका जन्म १६९३ ई० तथा मृत्यु १७९३ ई० में अनुमानित की जाती है। ये जाति के क्षत्रिय थे और बंसहरि, परगना सदियाबाद, तहसील व जिला गाजीपुर के रहने वाले थे। इनकी उदारता का पता इसी से चलता है कि अपने एक नीच टहलुए के अध्यात्म ज्ञान से प्रभावित होकर उसके शिष्य बन गये। बुल्ला साहब के ठाकुर और मालिक होते हुए भी जब ये उनसे प्रभावित होकर उनके चरणों में गिरे तो बुल्ला साहब ने इन्हें अपना शिष्य स्वीकार करने के बाद इन्हीं को गद्दी पर बैठने का अधिकारी बनाया।[2]

जगजीवन साहब—जगजीवन नामक कई सन्तों का उल्लेख मिलता है। परन्तु सबसे अधिक ख्याति बुल्ला साहब के शिष्य जगजीवन साहब की ही है। इनका जन्म बाराबंकी जिले के सरहदा नामक गाँव में सरयू नदी के किनारे कोटवा से दो कोस की दूरी पर एक क्षत्रिय कुल में सन् १६८२ ई० में हुआ था तथा ७९ वर्ष की आयु में सन् १७६१ ई० में शरीरान्त हुआ था।[3]

दूलनदास—जगजीवन साहब के कई शिष्य थे जिनमें प्रधान हिन्दू शिष्यों में दूलनदास प्रसिद्ध हो गये हैं। दूलनदास एवं देवीदास के नाम इनके गुरु जगजीवन साहब के लिखे कुछ पद्यमय पत्र भी मिलते हैं। इनका समय सन् १६६० ई० से सन् १७७८ ई० तक तथा इनकी आयु ११८ वर्ष की मानी जाती है। कहा जाता है कि अन्त समय तक इन्होंने अपनी ज़मीन्दारी का काम नहीं छोड़ा था।[4]

चरनदास—इनका जीवन-काल १७०३ ई० से १७८२ ई० तक माना जाता है। ७९ वर्ष की आयु में इन्होंने दिल्ली में शरीर छोड़ा, जहाँ मृत्यु-स्थान पर इनकी समाधि बनी हुई है। इनके जन्म के समय औरङ्गजेब का राज्य था। इनकी शिष्या सहजोबाई ने अपनी रचना 'सहजप्रकाश'

१—दरि० सा० मा०, पृ० २ : धर्मं० अभि० ग्र०, पृ० ९८. २—गुलाल बा०, पृ० २, ३ : सं० का०, पृ० ४२०. ३—सं० का०, पृ० ४२७ : धर्मं० अभि० ग्र०, पृ० १०१. ४—दूलन० बा०, पृ० २ : सं० का०, पृ० ४४०.

में इनके जन्म-स्थान मेवात के अन्तर्गत डेहरा का वर्णन किया है। ये दूसर जाति के थे। इनके पिता का नाम मुरली और माता का नाम कुञ्जी था। इनका जन्म का नाम रणजीत था किन्तु गुरू ने चरनदास रख दिया। इनके जन्मस्थान डेहरा में इनकी माला, वस्त्र तथा टोपी सुरक्षित हैं। उसी के पास बने मन्दिर में इनके चरण-चिह्न भी हैं जहाँ प्रतिवर्ष वसन्त पञ्चमी को मेला लगता है।[1]

सहजोबाई तथा दयाबाई—दोनों का जन्म-स्थान मेवात प्रदेश का डेहरा नामक गाँव माना जाता है। दोनों गुरु-बहनें थी और दिल्ली में जाकर रहने लगी थीं। ये दोनों गुरु की सजातियाँ थीं। दोनों आजन्म अविवाहित रहीं। सहजोबाई हरिप्रसाद की पुत्री थीं। सहजो का जीवन-काल सन् १६८३ से १७६३ ई० तक तथा दया का १६९८ ई० से १७९३ ई० तक गाना जाता है।[2]

गरीबदास—बावरी पन्थी गरीबदास का जन्म रौहतक ज़िले में छुड़ानी नामक गाँव में सन् १७१७ ई० में हुआ था। ये जाति के जाट जमीन्दार थे। जीवन भर खेती-बारी का काम करते रहे, साधुवेष कभी धारण नहीं किया। बचपन में १२-१३ वर्ष की आयु में ही किसी साधु से प्रभावित हो गये। इनके चार लड़के और दो लड़कियाँ थीं। इनका देहान्त छुड़ानी में ही सन् १७७८ ई० में ६१ वर्ष की आयु में हुआ था। वहाँ इनकी समाधि है तथा वहीं पर इनकी पगड़ी, जूता, लोटा, कटोरी, पलङ्ग, जामा आदि अभी तक सुरक्षित हैं। इन्होंने अपने समय में एक मेला लगाया था जो अभी तक छुड़ानी में लगता है। इन्होंने गौ-वध बन्द करने तथा अनाज पर कर लगाने का तीव्र विरोध किया था। ये चरनदास के समकालीन थे। दिल्ली में उनके पास आकर ठहरने का उल्लेख भी मिलता है।[3]

पानपदास—पानप पन्थ के प्रवर्तक पानपदास का जन्म सन् १७१९ ई० में हुआ था। इनके माता-पिता ने इन्हें दुर्भिक्ष के कारण बचपन में ही छोड़ दिया था, अतः तिरखान जाति के किसी व्यक्ति ने इनका पालन-पोषण किया था और बचपन में हीं इन्हें राजगिरी का काम सिखाया था। इन्होंने कुछ संस्कृत और फ़ारसी का भी अभ्यास कर लिया था। अपना

१—धर्मे० अभि० ग्र०, पृ० १०४, १०५ : सं० का०, पृ० ४७०.
२—सहजो बा०, पृ० ५ : दया बा०, पृ० ४, ५. ३—गरीब० बा०, पृ० १, ३ : धर्मे० अभि० ग्र०, पृ० १०९ : सं० का०, पृ० ४५२.

राजगिरी का काम करते हुए इनकी किसी कबीर पन्थी से भेंट हो गई, साथ ही किसी महात्मा की चर्चा सुन उनके दर्शन के लिये अलवर राज्य के अन्तर्गत तिजारा नामक गाँव में मिलने गये और वहीं उनके शिष्य हो गये। बिजनौर ज़िले के धामपुर नामक स्थान पर ये रहते थे तथा राजगिरी का काम करते थे। वहीं रहते-रहते इन्होंने मेरठ, सरधना और दिल्ली आदि कई नगरों की यात्रा की। धामपुर में ही ५४ वर्ष की आयु में इनकी मृत्यु सन् १७७३ ई० में हो गयी। वहीं पर इनकी समाधि भी है।[1]

रामचरन—इनका जन्म जयपुर राज्य के अन्तर्गत ढूंढ़ाण प्रदेश के मालपुरा के पास सूरसेन अथवा सोड़ों गाँव में सन् १७१९ ई० में हुआ। ये वैश्य जाति के थे। अपनी ३१ वर्ष की आयु में ये मेवाड़ प्रान्त के दाँतड़ा नामक गाँव में महात्मा कृपाराम के शिष्य हो गये। महात्मा ने इनके बचपन का नाम रामकृष्ण से रामचरन रख दिया। ये अधिक समय तक विचरते तथा अपने अनुभव की रचना करते उदयपुर के मालवाड़ा गाँव में जाकर बस गये। इनका देहान्त ७९ वर्ष की अवस्था में सन् १७९८ ई० में हुआ।[2]

पलटू साहब—पलटू का जन्म फैज़ाबाद के नागपुर जलालपुर में हुआ था। ये जाति के बनिया थे। ये अधिकतर अपने पुरोहित गोविन्द जी के साथ रहते थे। पीछे गोविन्द जी भीखा साहब से जगन्नाथपुरी की राह में दीक्षा ली और लौटकर पलटू को उपदेश दिया। इनका प्रधान केन्द्र अयोध्या ही था। पलटू साहब बराबर गृहस्थाश्रम में ही रहे और गुरूपदीष्ट 'सात शब्द योग' का अभ्यास कर बहुत ही ऊँची स्थिति प्राप्त की। इनका जीवनकाल सन् १७६३ ई० के आस-पास नबाब सुजाउद्दौला के समय का माना जाता है।[3]

भीखा साहब—गुलाल साहब के दो शिष्यों में से भीखा साहब का जन्म ज़िला आजमगढ़ के परगना मुहम्मदाबाद वर्तमान खानपुर बोहना गाँव में हुआ था। इन्होंने बचपन से ही साधुओं के साथ बैठना आरम्भ कर दिया था। माता-पिता ने जब इनका विवाह बचपन में करना चाहा तो ये घर से निकल गये और काशी में जाकर ज्ञानार्जन करना चाहा, परन्तु कुछ दिन बाद अपनी जन्मभूमि को ही चल दिये। रास्ते में गाजीपुर के

१—पा० बोध, भूमिका : उ० भा० की सं० परम्परा, पृ० ६१३.
२—उ० भा० की प०, पृ० ६१८ : सं० का०, पृ० ५०५. ३—पलटू० बा०, पृ० १, ३ : धर्म० अभि० ग्र०, पृ० ११०.

सैदपुर भीतरी परगने के अमुआ गाँव में पहुँचे । वहाँ किसी देव मन्दिर में गुलाल साहब की बनाई हुई ध्रुपद सुनाई पड़ी । उन्होंने गाने वाले से उस पद के रचयिता का पता पूछा तथा वहीं रहकर गुलाल साहब के शिष्य बन गये । गुलाल साहब के मरने पर ये ही उनके उत्तराधिकारी बने । ये सन् १७६० में उनकी गद्दी पर बैठे । ३१ वर्ष तक गद्दी का कार्यभार सँभाल कर सन् १७९१ ई० में परमधाम चले गये ।[1]

तुलसी साहब—हाथरस वाले साहेब पन्थ के प्रवर्तक तुलसी साहब का जन्म सन् १७९३ ई० से १८४३ ई० तक माना जाता है । ये ८० वर्ष तक जीवित रहे । इनका दूसरा नाम साहेब भी था । इनका अधिकांश जीवन अलीगढ़ जिले के हाथरस गाँव में बीता । परन्तु इतना अवश्य है कि ये हाथरस से बाहर एक कम्बल ओढ़े हाथ में डण्डा लिए दूर-दूर शहरों में चले जाते थे । तुलसी साहब दक्षिणी ब्राह्मण थे और पूना के युवराज का नाम श्यामराव था । १२ वर्ष की अवस्था में इच्छा के विरुद्ध इनकी शादी कर दी गयी । इसी बीच एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ । राज्याभिषेक के दिन युवराज ने पूना छोड़ दिया और चुपके से घोड़े की सवारी कर भाग निकले । निराश पिता ने मझले पुत्र बाजीराव को गद्दी दी । हाथरस में अब भी इनकी समाधि है ।[2]

× × ×

उपर्युक्त संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे अध्ययन की सीमा अर्थात् सन्तकाव्य का विस्तारकाल पन्द्रहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक है । इस विस्तृत चार शताब्दियों के काल में उत्तरीभारत के राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में कई मोड़ परिलक्षित होते हैं । जिन प्रमुख तीन कालों के अन्तर्गत ये शताब्दियाँ विभाजित की गई हैं उनका मुख्य आधार राजनीतिक होकर भी सांस्कृतिक विकास-क्रम से सम्बद्ध है । इन कालों के अन्तर्गत जिन सन्तों का विवेचन किया है, ये स्वयं इन सांस्कृतिक चेष्टाओं के अङ्ग माने जा सकते हैं ।

१—भी० बा०, पृ० ६ : सं० का०, पृ० ४८६. २—तु० बा० भूमिका : सं० का०, पृ० ५३६ : धर्म० अभि० ग्र०, पृ० ११३ : तु० घ० रा०, पृ० ३,४.

सन्त, भारतीय सांस्कृतिक चेतना के इस स्तर से मुख्यतः सम्बन्द्ध रहे हैं जो लोकपरक अधिक है। इन्होंने जिस प्रकार शास्त्रीय परम्पराओं से विद्रोह कर उनका त्याग किया है, उसी प्रकार ये राजनीतिक प्रभाव से दूर रहे हैं। यही कारण है कि इनके काव्य को राजनीतिक इतिहास के साथ बहुत सम्बद्ध करके देख पाना सरल नहीं है। वैसे तो हिन्दी का सम्पूर्ण भक्ति-साहित्य अपने युग के राजनीतिक और उसके साथ ही उससे सम्बद्ध शिष्ट जीवन से अलग और अप्रभावित रहा है, परन्तु सन्तों का साहित्य तो इस क्षेत्र में और भी अधिक लोकसम्पृक्त है। परन्तु देश की राजनीतिक परिस्थितियाँ सम्पूर्ण युग के जीवन को उनके स्तरों पर प्रेरित और उत्प्रेरित करती रहती हैं। यही नहीं, वरन् देश के समग्र जीवन का प्रभाव देश की राजनीतिक व्यवस्था पर भी पड़ता रहता है। यह अन्योन्याश्रित सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप में सदा स्थापित न भी किया जा सके, पर एक गहरे स्तर पर इनकी क्रिया-प्रक्रिया को देखा जा सकता है।

वस्तुतः इसी गहरे स्तर पर सन्त-काव्य में सम्पूर्ण युगजीवन को ग्रहण किया जा सकता है। इसी स्तर पर देश की राजनीतिक परिस्थितियों का आभास भी इस साधनापरक तथा लोकसम्पृक्त काव्य में पाया जा सकता है। इसकी अपेक्षा सामाजिक, धार्मिक तथा नैतिक चेष्टाओं को इस काव्य में देख पाना अधिक आसान है। आगे के प्रकरणों में इस काव्य के माध्यम से युगजीवन के विविध लौकिक पक्षों पर विचार किया जायगा। एक सम्भावना इस आगे के अध्ययन में यह भी हो सकती है कि इन विभिन्न युगों के सन्तों के काव्य के आधार पर प्रस्तुत अध्ययन के द्वारा इन युगों के जीवन का अन्तर भी परिलक्षित हो सकता है, परन्तु यह सामग्री जीवन के इतने सामान्य और व्यापक तथ्यों को ही प्रस्तुत करती है कि इसके आधार पर इन युगों के अन्तर को सदा स्पष्ट करना सम्भव नहीं हो सका है।

सन्त काल का विभाजव

[प्रथमकाल—१३६८ ई० से १५३० ई०]

सैयद लोदी वंश		कबीर-नानक	
नुसरतशाह	१३६४ ई०-१३६६ ई०	कबीर	१३६८ ई०-१५१८ ई०
नुसरतसाह	१३६६ ई०-१४१२ ई०	रैदास	१३८८ ई०-१५१८ ई०
खिज्रखाँ	१४१४ ई०-१४२१ ई०	धन्ना	१४१५ ई०

मुइजुद्दीन	१४२१ ई०-१४२३ ई०	पीपा	१४२५ ई०
मुहम्मदशाह	१४३३ ई०-१४४५ ई०	सेना	१४४८ ई० के आसपास
आलमशाह	१४४५ ई०-१४५१ ई०	नानक	१४६९ ई०-१५३८ ई०
बहलोल लोदी	१४५१ ई०-१४५८ ई०		
सिकन्दर लोदी	१४८८ ई०-१५१७ ई०		
इब्राहीम लोदी	१५१७ ई०-१५२६ ई०		
बाबर	१५२६ ई०-१५३० ई०		

[द्वितीयकाल—१५३० ई० से १६५८ ई०]

हुमायूँ-शाहजहाँ		**धरमदास-प्राणनाथ**	
हुमायूँ	१५३० ई०-१५४० ई०	धरमदास	तिथि अज्ञात
शेरशाह	१५४० ई०-१५४५ ई०	अङ्गददेव	१५०४ ई०-१५५२ ई०
इस्लामशाह	१५४५ ई०-१५५२ ई०	अमरदास	१४७९ ई०-१५७४ ई०
आदिलशाह	१५५२ ई०-१५५३ ई०	सिंगा जी	१५१९ ई०-१५५९ ई०
इब्राहीम सूर	१५५३ ई०-१५५४ ई०	रामदास	१५३४ ई०-१५८१ ई०
सिकन्दरशाह	१५५४ ई०-१५५५ ई०	शेख फ़रीद	१५०० ई०-१५५२ ई०
हुमायूँ	१५५५ ई०-१५५६ ई०	दादू	१५४४ ई०-१६०३ ई०
अकबर	१५५६ ई०-१६०५ ई०	बषना	१५५३ ई०-१६४३ ई०
जहाँगीर	१६०६ ई०-१६२७ ई०	हरिपुरुष	१५९९ ई० : दीक्षा का समय : १६४३ ई०
शाहजहाँ	१६२७ ई०-१६५८ ई०	अर्जुनदेव	१५६३ ई०-१६०६ ई०
		हरगोविन्द	१५९५ ई०-१६४५ ई०
		रज्जब	१५६७ ई०-१६८९ ई०
		मलूक	१५७४ ई०-१६८२ ई०
		सुन्दर	१५९६ ई०-१६८९ ई०
		प्राणनाथ	१६१८ ई०-१६९४ ई०

[तृतीयकाल—१६५८ ई० से १८०६ ई०]

औरङ्गजेब-गोरशाह आलम		**तेग़बहादुर-तुलसी**	
औरङ्गजेब	१६५८ ई०-१७०७ ई०	तेग़बहादुर	१६२१ ई०-१६७५ ई०
बहादुरशाह	१७०७ ई०-१७१२ ई०	गोविन्दसिंह	१६६६ ई०-१७०८ ई०

जहाँदारशाह	१७१२ ई०-१७१३ ई०
फर्रुखसियर	१७१३ ई०-१७१९ ई०
मोहम्मदशाह	१७१९ ई०-१७४८ ई०
अहमदशाह	१७४८ ई०-१७५४ ई०
आलमगीर	१७५४ ई०-१७५९ ई०
गोरशाहआलम	१७५९ ई०-१८०६ ई०

धरनी	१६५६ ई०
यारी	१६६८ ई०-१७१३ ई०
केशव	१६९३ ई०-१७६८ ई०
बुल्ला	१६३२ ई०-१७०९ ई०
दरिया बि०	१६७४ ई०-१७८० ई०
दरिया मा०	१६७६ ई०-१७५८ ई०
जगजीवन	१६८२ ई०-१७६१ ई०
दूलन	१६६० ई०-१७७८ ई०
चरनदास	१७०३ ई०-१७८२ ई०
सहजो	१६८३ ई०-१७६३ ई०
दया	१६९८ ई०-१७९३ ई०
गुलाल	१६९३ ई०-१७९३ ई०
गरीब	१७१७ ई०-१७७८ ई०
पानप	१७१९ ई०-१७७३ ई०
रामचरन	१७१९ ई०-१७९८ ई०
पलटू	१७९३ ई० के आसपास
भीखा	१७९१ ई० के आसपास
तुलसी	१७९३ ई०-१८४३ ई०

तृतीय प्रकरण

राजनीतिक-सन्दर्भ

सन्त-साहित्य के माध्यम से भारतीय-संस्कृति धारा का एक विशिष्ट स्तर पर सञ्चरण हुआ। यह धारा यद्यपि दर्शन, धर्म तथा साधना के तत्त्वों को लेकर अधिकांश में प्रगतिशील हुई है, पर संस्कृति के अन्य तत्त्वों का समाहार इसके अन्तर्गत पूर्णतः परिलक्षित होता है। कबीर ने इस नवीन सांस्कृतिक चेतना का जो गत्यात्मक प्रवर्तन किया है, वह आगे चलकर बाद के सन्तों की परम्परा में क्रमशः ह्रासोन्मुखी तथा पतनोन्मुखी होकर परम्परागत तथा रुढ़िवत होता गया है। भारतीय विचारधारा की बलवती धारणा संसार त्याग की रही है। इस भावना को भारतीय संस्कृति के विभिन्न युगों में भिन्न स्तरों पर ग्रहण किया गया है और इस भावना से सदा जीवन के व्यावहारिक पक्षों से अलग रहने की ही प्रेरणा मिलती है। वैराग्यप्रवण बौद्धधर्म ने संसार की क्षणिकता और नश्वरता से मुक्त होकर मनुष्य को निर्वाण-मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा दी थी। परन्तु आरम्भ से ही यह धार्मिक आन्दोलन सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं के क्षेत्र में भी विद्रोही स्वर को उठाता रहा है। इसी परम्परा में वज्रयानी, सिद्ध तथा नाथ पन्थी साधक आते हैं जिन्होंने विचारों और साधना के क्षेत्र में विद्रोही भावनाओं का नेतृत्व तो किया ही, पर साथ ही सामान्य व्यवस्था के विरुद्ध उनका आक्रोश और विद्रोह भी समानान्तर चला। यदि इतिहास की राजनीतिक प्रक्रिया का गहन अध्ययन प्रस्तुत किया जाय तो यह भी प्रमाणित हो सकता है कि इन साधकों की उग्र विचारधाराओं ने इन युगों के राजनीतिक विचारों को भी गहरे स्तर पर स्पर्श किया है, और इनके चिन्तन में स्वतन्त्रता, विद्रोह और परम्पराओं का शिखरण तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों की प्रतिक्रिया के रूप में भी समझा जा सकता है।

सन्त-परम्परा इसी विद्रोही तथा स्वतन्त्र विचारधारा से सम्बन्द्ध है, इनका सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टिकोण इसी से प्रभावित और स्फुरित

लगता है। समस्त सामाजिक, नैतिक तथा राजनीतिक मान्यताओं, परम्पराओं तथा आदर्शों को इन साधकों ने आन्तरिक साधना के क्षेत्र की अपेक्षा सीमित और हेय माना। उन्होंने सांसारिक शासन-व्यवस्थाओं के ऊपर आध्यात्म की आन्तरिक व्यवस्था को प्रतिस्थापित किया है। उनकी इस आध्यात्मिक चेतना ने इनको अपने राजनीतिक परिवेश के प्रति उपेक्षाशील भले ही कर दिया हो, परन्तु उसके प्रति उनमें पर्याप्त सजगता है। सन्तों की स्वतन्त्र-चेतना में उनकी समसामयिक राजनीतिक परिस्थितियों का एक प्रकार से प्रभाव स्वीकार किया जा सकता हैं। मुस्लिम राज्य के साथ यदि एक ओर शासकीय दृष्टि से धार्मिक असहिष्णुता का रूप मिलता है तो दूसरी ओर मुस्लिम धर्म के भारत में प्रवेश के साथ धार्मिक आचार-विचार तथा कर्मकाण्डों के क्षेत्र में अधिक स्वच्छन्दता की स्थिति परिलक्षित होती है। "बारहवीं शताब्दी में पठानों के आक्रमण से समस्त उत्तरापथ पददलित हुआ था और उसकी प्रलयङ्कर गति ने प्राचीन संस्कार, धर्म, आदर्श और व्यवहार को ध्वस्त कर दिया था; परन्तु वैष्णव-धर्म ने नये आवेश के साथ सम्पूर्ण भारत की सांस्कृतिक चेतना को सङ्गठित करने का दायित्व वहन किया। इस आन्दोलन में सन्तों ने अपने व्यक्तित्व की प्रखरता से वैष्णव मानवधर्म को एक नवीन भावभूमि प्रदान की है जिसमें लोक-जीवन की प्रवेगपूर्ण प्राणवत्ता को आत्मसात् किया गया है।"[१]

सन्तों की परम्परा का प्रारम्भ वैष्णव आन्दोलन की सघनतम प्रक्रिया से शुरू होता है और अनेक प्रणितियों में होता हुआ इसका क्रम उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक चला आता है, जो मुग़लसाम्राज्य के अन्तिम अवसान का समय था। जैसा कि प्रथम प्रकरण में प्रदर्शित किया गया है, इस बीच भारतीय राजनीति में अनेक उत्थान-पतन हुए, परन्तु सन्तों में इसका विशेष प्रभाव परिलक्षित नहीं होता। यहाँ यह स्पष्टतः ध्यान देना चाहिये कि सन्तों की परम्परा का दृष्टिकोण राजनीति और राजसत्ता के प्रति मात्र-विवशता का नहीं रहा हैं—'कोउ नृप होइ हमें का हानी, चेरि छाँड़ि न होइबि रानी' की भावना सन्तों की नहीं हैं। वस्तुतः सन्त जिस आध्यात्मिक सत्य के आग्रही रहे हैं, उसके विश्वास से निर्भीक होकर लौकिक राजाओं और सम्राटों को अवहेलना की दृष्टि से देखने में समर्थ हुए हैं।

१—**म० यु० वै० सं० रामरतन भटनागर; हिन्दी अनुशीलन, धीरेन्द्र वर्मा विशेषाङ्क, पृ० २५०.**

उनकी दृष्टि में बादशाह और फ़कीर का अन्तर है ही नहीं। इस निर्भीकता और आत्मविश्वास के परिणामस्वरूप औरङ्गजेब के समय में कई सन्तों और सन्तों के सम्प्रदायों ने राज्य-शक्ति की बढ़ी हुई उच्छृङ्खलता के विरुद्ध चुनौती देने का साहस भी किया है।

सामान्यतः समस्त वैष्णव आन्दोलन की प्रवृत्ति राज्य शक्तियों से निरपेक्ष हो जाने की रही है। बारहवीं शताब्दी तक धर्म, साहित्य और कलाओं को जो राज्याश्रय प्राप्त हुआ था, वह इस आन्दोलन के लिये न सुलभ था न अपेक्षित ही। सन्तभावधारा इस आन्दोलन के अन्तर्गत सबसे अधिक ओजस्विनी और प्रखर रही है। इसी कारण अन्य क्षेत्रों के समान राजनीति व शासनसत्ता के प्रति अन्तर्निहित विद्रोह की भावना प्रारम्भ से ही इसमें परिलक्षित होती है। उन्होंने केवल अपनी उदासीनता व्यक्त नहीं की है, वरन् आग्रहपूर्वक वे लौकिक राजसत्ता को स्वीकार ही करते हैं। ये बार-बार इस बात की घोषणा करते हैं कि सांसारिक राजा और सम्राट् की उन्हें चिन्ता नहीं, उनका 'बादशाह' वह है जिसके दरबारी नवग्रह हैं, जिसके सामने धर्मराज प्रतिहारी के समान खड़ा रहता है, लक्ष्मी जिसका शृङ्गार करती हैं और जिसके कोटि-कोटि कोतवाल नगर-नगर के क्षेत्रपाल हैं।[1] इस राजा की कल्पना के सामने सभी लौकिक राजा, राव, छत्रपति आदि गली के कूड़े के समान भस्म हो जाते हैं और उसका 'तलबी' सभी को बाँधकर ले जाने की सामर्थ्य रखता है।[2]

इसी प्रकार सन्तों ने आध्यात्मिक बादशाह या राजा की परिकल्पना में तत्कालीन राजाओं का सन्दर्भ प्रस्तुत किया है और सन्तों की दृष्टि में तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था तथा सिद्धान्त भी इसी प्रकार सन्निहित हुए हैं। इन्होंने आध्यात्मिक राजा और राजसत्ता के वर्णन में न केवल अपने युगजीवन के तत्सम्बन्धी प्रतीकों को ग्रहण किया है, वरन् इस प्रकार के रूपकों तथा भावाभिव्यक्तियों में इनकी आलोचना भी सन्निहित हो गई है। एक ओर आध्यात्मिक सत्ता के वर्णन के प्रसङ्ग में अपने समकालीन राजकीय शासन व्यवस्था का विस्तृत आश्रय लिया है तो दूसरी ओर इनकी विचारधारा में आदर्श राज्य की कल्पना भी सन्निहित हो गई है। यह तो है ही कि वह आध्यात्मिक बादशाह, शाहों का शाहन्शाह है, पर उसका वैभव,

१—क० ग्र०; पृ० २०३; प० ३४०. २—वही; पृ० ११५; प० ८५ तथा पृ० ११७; प०६२.

ऐश्वर्य और साम्राज्य बिना लाव-लश्कर, दीवान-उमरावों के चलता है।[१] इस सुल्तान के बारे में नानक की भावना है कि वह शून्य सिंहासन पर आरूढ़ है, वह ऐसा है जिसका न शरीर है, न घर है, न महल है और न जिसको किसी के प्रति प्रेम है।[२] वस्तुतः सन्त ऐसे 'छत्र, चंवर, हाथी, घोड़ा, रथ तथा सिंहासन से हीन बादशाह की कल्पना इसलिये करते हैं कि इस लौकिक ठाट-बाट वाले ऐश्वर्यशाली वीर, सूरमा, अमीर-उमराव, खान आदि एक क्षण में इन सबको त्यागने को विवश हो जाते हैं।'[३]

नानक उस 'सिकदार' या 'बादशाह' की चिन्ता नहीं करते जिसके पैरों में जञ्जीर पड़ी है।[४] धरमदास के अनुसार "असली बादशाह तो वह है जिसके सामने समस्त राजनीति समाप्त हो जाती है, केवल विवेक (जग-मति) से इसे समझा जा सकता है"।[५] यह भावना सभी सन्तों में समान रूप से परिव्याप्त है। सामान्यतः सन्तों ने आध्यात्मिक परमतत्त्व की कल्पना व्यापक और परात्पर भले ही की हो, परन्तु एक सीमा तक मुस्लिम ऐकेश्वर-वाद और दूसरे तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर उन्होंने बारम्बार आध्यात्मिक बादशाह की कल्पना लौकिक बादशाह के समकक्ष रखी है। वस्तुतः इस प्रकार सन्त अपने आध्यात्मिक आराध्य के वैभव, ऐश्वर्य और उसकी विराटता को व्यञ्जित करने का प्रयत्न करते हैं। यह अवश्य है कि सन्तों की आध्यात्मिक बादशाहत ऐकेश्वरवाद की कल्पना से उद्भूत होकर भी अद्वैत और शून्य तत्त्व में पर्यवसित हो जाती है, पर जान पड़ता है कि अपने समय की राजकीय शासन व्यवस्था के प्रति उपेक्षाशील और अवहेलनापूर्ण होकर भी जागरूक अवश्य थे, क्योंकि आध्यात्मिक बादशाही के रूपक में इन्होंने सम्पूर्ण राजकीय उपकरणों का व्यापक प्रयोग किया है, जिनके आधार पर तत्कालीन राज्य-व्यवस्था का एक सीमा तक पुनर्गठन करना असम्भव है। साथ ही इन सन्दर्भों के आधार पर सन्तों के राजनीतिक सिद्धान्त और मान्यताओं सम्बन्धी दृष्टि पर भी विचार किया जा सकता है।

१—नानक; गु० ग्र० सा०; पृ० १३५१; म०१. २—वही; पृ० १३२७ म० १. ३—वही; पृ० १३८७; म० ५. ४—वही; पृ० ८५१. ५—धरम० पृबा०; ० ७१; प० ६.

राजनीतिक दृष्टि, सिद्धान्त और मान्यताएँ—सन्तों की दृष्टि राजनीति के सम्बन्ध में तीन स्तरों पर विवेचित की जा सकती है जैसा कि सङ्केत किया गया है। उनकी प्रमुख दृष्टि आध्यात्मिक साम्राज्य का अनेकानेक रूपकों में सन्तों ने वर्णन किया है। इस साम्राज्य की, जो कि वास्तविक रूप में उनका अपना है, व्यापक परिकल्पना को विविध रूपों में प्रस्तुत करने में थी। उनकी अन्य दोनों राजनीति सम्बन्धी कल्पनाएँ अन्तर्निहित हो गई हैं। एक ओर इस आध्यात्मिक साम्राज्य की तुलना में नगण्य, उपेक्षणीय, विकृतिपूर्ण लौकिक साम्राज्य है और इन्हीं दोनों के माध्यम से एक ऐसे सुराज्य या रामराज्य की व्यञ्जना भी स्पष्ट है।

लौकिक साम्राज्य अथवा निरङ्कुश राजतन्त्र—सन्तों के काव्य में आध्यात्मिक सन्दर्भ के अन्तर्गत जिस लौकिक राजसत्ता का सङ्केत मिलता है वह प्राय: निरङ्कुश है। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी भावना का मूल स्रोत तत्कालीन राजनीतिक स्थिति और शासन की व्यवस्था है। सन्तों के समानान्तर भारत में मुस्लिम साम्राज्य-स्थापन के प्रयत्न चलते रहे और इन प्रयत्नों में मुग़लों को पूर्व सीमित सफलता मिली है पर मुग़लसाम्राज्य अपने देशव्यापी उत्कर्ष पर पहुँचकर ही विशृङ्खलित हुआ है। हमारे आलोच्य सन्तों का अधिकांश काल अफ़गान बादशाहों से प्रारम्भ होकर मुग़लसाम्राज्य के पतन तक है। ऐसी स्थिति में सन्तों की विचारधारा में 'राजाओं के राजा' तथा 'शाहों के शहन्शाह' की कल्पना स्वाभाविक है। ये बार-बार आध्यात्मिक साम्राज्य के विश्वव्यापी विस्तार की चर्चा करते हैं और इस सन्दर्भ में तत्कालीन बादशाहों की साम्राज्य-विस्तार की आकांक्षा व्यञ्जित हुई है, ऐसा माना जा सकता है। इस शक्तिसम्पन्न सम्राट के सामने राजा, राणा, राव, छत्रपति नगण्य हैं।[1] उससे विद्रोह करने वाला 'तलव' किया जाकर ऐसी कैद में पड़ सकता है. जहाँ से मुक्ति नहीं। "यह सम्राट सिंहासनारूढ़ होता है और जिसकी सत्ता के उद्घोष के लिये नौबत बजती रहती है। जिसकी आज्ञा से सुल्तान, दीवान, मन्त्री परिचालित होते हैं अर्थात् उसका प्रबन्ध उसकी आज्ञानुसार ही दीवान, मन्त्री और सूबेदारों के माध्यम से चलता है'।[2]

१—क०; पृ०; पृ० ११५; ८५. २—गु० ग्र० सा०; पृ० १३२७; म० १.

सन्तों में इस बादशाह की सत्ता की चेतना विद्यमान है. यद्यपि वे इस लौकिक सत्ता की अवहेलना और उपेक्षा ही करते हैं। पर आध्यात्मिक सन्दर्भों में सम्राट की सत्ता सम्बन्धी विविध उपकरणों—सिंहासन, छत्र, चँवर हाथी, घोड़े, फौज आदि का उल्लेख करते हैं (इनकी चर्चा आगे प्रसङ्गानुसार की जायेगी) । इसी प्रकार जिनके माध्यम से समस्त शासन-व्यवस्था चलती है, उनका भी निरन्तर उल्लेख मिलता है। वह हाथी, घोड़ा तथा रथ की सेनाओं से आसमान के व्यापक प्रसार के नीचे दिशाओं की सीमाओं में अपने राज्य को विस्तृत करना चाहता है और अपनी विजय-दुन्दुभि को सर्वत्र बजाना चाहता है ।[1] सन्तों के युग में दिल्ली की केन्द्रीय शक्ति का सङ्गठन और विघटन होता रहा है, "अतः इनकी राज्य सम्बन्धी परिकल्पना में बादशाह शासन-व्यवस्था और न्याय का पूर्ण अधिकारी होता है और उसकी इच्छानुसार ही यह समस्त व्यवस्था चलती है । उसके सामने अन्य साधारण राजा, मीर और उमराव 'मिथिआ' ही हैं" ।[2] बादशाह की चर्चा में दिल्लीपति का उल्लेख कई बार मिल जाता है ।[3] दिल्ली की राजसत्ता के बारे में अठारहवीं शताब्दी के सन्त अधिक जागरूक जान पड़ते हैं । चरणदास के समान गुलाल साहब ने (१७६० ई०) । "दिल्ली के केन्द्र से आगरा और लाहौर के शासन का उल्लेख किया है" ।[4]

बादशाह की अदालत अन्तिम न्यायालय है और सम्पूर्ण राज्य का बोझ उसका अपना है । यह राज्य शक्ति (सेना), व्यवस्था तथा न्याय के आधार पर केन्द्रीय राज्यसत्ता के द्वारा परिचालित होता है ।[5] शक्ति के आधार पर विभिन्न सूबों को काबू में रखा जाता है और चतुर्दिक् राज्य की रक्षा का भार सेना पर होता है । ऐसा भी लगता है कि राज्य, विभिन्न सूबों की खाद्य-समस्या पर भी दृष्टि रखता था और आवश्यकता पड़ने पर एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में खाद्य-सामग्री वितरित की जाती थी ।[6] विभिन्न सूबों में शासन करने के लिये सेनायें नियुक्त रहती थीं । इन सूबों में से प्रधान सूबों में मुग़ल-काल में प्रायः शहज़ादे सूबेदार हुआ करते थे और अनेक बार इनसे बादशाह

१—भी० वा० भु०; पृ० ६१: २६२. २—गु० ग्र० सा०; पृ० १२१४. म०२. "मिथिआ राज जोबन अरु उमरे मीर मालक अरु खान". ३—रा० चरण० बा०; पृ० ८२५:८. ४—गु० सा० बा० भु०; पृ० २४८:५६४. ५—गु० सा० बा० भु०; पृ० ४५६:१२१६. ६—भी० बा० भु०; पृ०३७.५.

को शङ्का होती थी। वे अपनी शक्ति का सङ्गठन और विद्रोह भी करते थे। इसी प्रकार अन्य राजा, उमराव या सूबेदार भी राज्य की व्यवस्था के लिये समस्या बन जाते रहे हैं। इन सबको शक्ति, क्षमा, लोभ और क्रोध के माध्यम से वश में रखा जाता है।[1]

इस निरङ्कुश शासन सत्ता के अन्तर्गत अन्याय, अत्याचार तथा भ्रष्टाचार की स्थितियाँ भी विद्यमान हैं। प्रारम्भिक सन्तों ने लौकिक-राज्य की भावना का तिरस्कार, विशेषकर उसकी शक्ति और वैभव की भावना को लेकर किया है। परन्तु बाद के सन्तों में राज्य की इन विडम्बनाओं के भी अनेकानेक सङ्केत मिलते हैं। सम्भवतः मुग़लसाम्राज्य के विकेन्द्रित होने के साथ ही शासन-व्यवस्था शिथिल होती गयी और अन्याय तथा भ्रष्टाचार बढ़ता गया है, उसी का प्रभाव सन्तों के काव्य में देखा जा सकता है। सन्त रामचरण, लौकिक राज्य-व्यवस्था को रावण का राज्य कहते हैं, अर्थात् उसमें न्याय-अन्याय का विवेक नष्ट हो गया है।[2] इसी प्रकार पलटू (१७७० ई०) कहते हैं—

> आंधर नगर के बीच भया धमघूसन राजा।
> करे नीच सब काम चले दस दिसि दरवाजा॥
> अधरम आठों गांठि न्याय बिनु धींगम सूदा।
> टकमि हमारि गुलाम आप को भयो असूदा॥[3]

इसमें अव्यवस्था तथा भ्रष्टाचार का यथार्थ चित्रण है। इसी प्रकार चरनदास (अठारहवीं शती मध्य) छल, बल और झूठ का प्रपञ्च करने वाले लोभी कानूनगो और मोह में फँसे हुए मुकद्दम तथा मद एवं तृष्णा में संलग्न आमिलों का उल्लेख करते हैं।[4]

रामराज्य के आदर्श की व्यञ्जना—सन्तों ने लौकिक राज्य की अस्वीकृति पर आध्यात्मिक राज्य की अपनी परिकल्पना की है। पर जैसा कहा गया है, इन दोनों ही स्थितियों के मध्य में सन्तों के द्वारा स्वीकृत रामराज्य या आदर्श-राज्य की व्यञ्जना को भी ग्रहण किया जा सकता है। समसामयिक राजनीतिक चेतना की सीमाओं के अन्तर्गत सन्तों की राज्य सम्बन्धी आदर्श कल्पना परम शक्तिशाली शासन-सत्ता पर ही आधारित है,

---

१—भी० बा० भु०; पृ० ६१:२६२. २—रामचरण बा०; पृ० ६३ : २२.
३—पलटू बा० भा० १; पृ० ८६ : २२८. ४—चरनदास बा०; पृ० ३ : ५.

परन्तु इस परम सत्ताधारी का शासन न्याय की आदर्श भावना पर ही स्थित है। कबीर के अनुसार 'राजा राम' ही वास्तविक सम्राट् हैं और उसी की व्यवस्था को स्वीकार करने का वे आग्रह भी करते हैं। अनेक राजाओं के अधिकार में विभक्त प्रपञ्चपूर्ण राज्य-व्यवस्था प्रजा के लिये अहितकर ही है।[1] इस शक्तिसम्पन्न सत्ता के अन्तर्गत माया (सम्पूर्ण अव्यवस्था) के प्रपञ्च से प्रजाजन की रक्षा सहज ही हो जाती है।[2]

यह परम सत्ताधारी आदर्श है, जिसका शासन सत्य और विवेक के न्याय पर आधारित है। सन्तों का आदर्श शासक वही है जिसने पाँच तत्वों को जीता हो, अर्थात् जो अपने को सांसारिक दुर्बलताओं, कमियों और दोषों से अलग रख सकता हो। उसकी आदर्श स्थिति राजाओं के बीच पञ्च की भाँति है, वह अन्य बादशाह को अधिकृत करने वाला बादशाह मात्र नहीं है, वरन् पञ्च की भाँति तटस्थ भाव से सब का समुचित नियमन करने वाला हैं। यह बादशाहों का बादशाह दण्डनीति के भ्रम के आधार पर शासन नीति का परिचालन करने वाला न हो कर अपनी व्यवस्था के अन्तर्गत 'भ्रमभेद और भय' को दूर करने वाला है। वस्तुत. इस भावना में प्रजाजनों के व्यक्तित्व की वह स्वीकृति है जो अपने स्वतन्त्र विकास के आधार पर लोकतान्त्रिक व्यवस्था की आधारभूमि प्रस्तुत करती है। जो शासन-व्यवस्था नागरिकों के व्यक्तित्व को भय, भ्रम तथा भेद के आधार पर विघटित करती है वह सन्तों के आदर्श-राज्य के अनुकूल नहीं है, इसी कारण सन्तों की की राज्य सम्बन्धी आदर्श भावना को लोकतान्त्रिक व्यवस्था के मूल-स्रोत के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। गाँधी जैसे विचारकों ने इस सत्य को स्वीकार किया। यह शासन व्यवस्था अपनी सत्ता को अधिकार के रूप में व्यक्त नहीं करती और न अपने को उद्घोषित करने में ही विश्वास करती है। इसका भाव सहज ही यह स्वीकार किया जा सकता हैं कि यह व्यवस्था वाह्य नियन्त्रण की अपेक्षा आन्तरिक अनुशासन में विश्वास करती है।[3]

सन्तों ने राज्यसत्ता के न्यायमूलक आधार में विवेक और ज्ञान को महत्वपूर्ण स्वीकार किया है। उन्होंने ज्ञानी राजा का दीवान विवेक बतलाया

१—क० बी०; पृ० २०३ : ५६. २—क० ग्र०; पृ० १२० : १००.
३—नानक गु०ग्र०; पृ० १२१४; म० २; ३५ : ५८.

है, यह राजा सन्तोष के सिंहासन पर आरूढ़ है और अपने ज्ञान की 'ज्योति' के प्रकाश में प्रजाजनों के लोभ और मोह का निवारण करता है। वस्तुतः विवेक के माध्यम से ही ऐसी न्याय दृष्टि सम्भव है जो प्रजाजनों के व्यक्तित्व को लोभ, मोह से मुक्त कर स्वतन्त्र विकास से प्रेरित कर सकती है। वस्तुतः यह न्याय मात्र दण्डविधान के लिये अथवा प्रजाजनों के स्वार्थों की रक्षा के लिये न होकर उनके व्यक्तित्व के विकास के लिये है।[1]

व्यवस्था के सम्बन्ध में भी सन्तों की धारणा इसी प्रकार आन्तरिक अनुशासन के आदर्श पर आधारित है। यह राज्यसत्ता क्षमा और सन्तोष के आधार पर परिचालित है, नाम की घोषणा से प्रेरित है तथा अन्तर और वाह्य (तन और मन) के सहज अनुशासन पर प्रतिष्ठित है। इस राज्य का सिपाही 'शब्द' है अर्थात् नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों की प्रेरणा देने वाला है।[2] इस राज्य को 'प्रेम, प्रीति और हित' पर आधारित मानकर दीवान बख्शी आदि बुद्धिमान् और शीलवान् माने गये हैं और सिपाही को 'धर्म, कर्म तथा सन्तोष माना गया है। इसी प्रकार 'पटवारी, कारिन्दा आदि शासन व्यवस्था के विभिन्न अङ्गों को 'धैर्य, नियम, दया, क्षमा तथा देन्य' आदि के माध्यम से और 'सुमति जेवरि' अर्थात् विवेक की माप से व्यवस्था परिचालित करने का निर्देश किया गया है।[3] इस राज्य में 'सुरति' बन्धन के माध्यम से व्यवस्था चलाई जाती है तथा आदर्श कल्पना के अनुसार यह बन्धन नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का माना जा सकता है।

इस शासन का वास्तविक खजाना 'सतगुरु' और 'नाम' है,[4] कभी 'व्रत' और 'योग' को भी राज्य की सम्पत्ति माना गया है।[5] सन्त 'सत्य' को भी इस राज्य का कोष स्वीकार करते हैं। इस प्रकार सन्तों के अनुसार राज्यसत्ता जिस कोष के आधार पर व्यवस्थित होनी चाहिये वह जीवन के नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों से सम्पन्न है। इसका भाव यह ग्रहण किया जा सकता है कि आदर्श राज्य व्यवस्था धन और सम्पत्ति के विभाजन और वितरण के आधार पर न होकर मानवीय मूल्यों पर आधारित होनी अपेक्षित है।

इस राज्य में शत्रु की कल्पना केवल यम के रूप में की गई है। वह नश्वरता का प्रतीक माना जा सकता है। इस राज्य के सम्मुख शत्रु पर ही

१—धरम० वा०; पृ० ६ : ३. २—गुलाल; महात्माओं की वाणी; भु०: पृ० २४८:६६४. ३—चरनदास वा०; पृ० ३:५. ४—धरम० बा०; पृ० ६:३. ५—गुलाल; महात्माओं की वाणी; भु०; पृ० १२६:६२२.

विजय प्राप्त करने का उद्देश्य है। जो राज्यसत्ता व्यक्ति के विकास की सम्पूर्ण सम्भावनाओं को स्वीकार करके चलती है, उसका शत्रु की कल्पना से मुक्त होना स्वाभाविक है। वह दूसरे राज्यों की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण नहीं करना चाहता और न उसको शत्रु का ही भय है, क्योंकि सम्पत्ति और अधिकार के उन नियमों पर वह नहीं चलता जो सभी सङ्घर्षों के मूल में निहित है। नैतिक और मानवीय मूल्यों की व्यवस्था के लिये प्रयत्नशील राज्यसत्ता 'राम नाम का वख्तर' धारण किये बिना 'फौज' के सत्य और अहिंसा के माध्यम से विजय प्राप्त कर सकती है।[1]

इस प्रकार सत्य के इस राज्य में असत्य वहिष्कृत माना गया है। इसमें प्रजाजन 'तीन' (गुण) और 'पाँच' (तत्व) के आतङ्क से सहज ही मुक्त रहते हैं। वस्तुतः यहाँ गुण तथा तत्वों से मुक्त होना व्यक्ति के विकास के लिये आवश्यक रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसी दृष्टि से इस रास्ते में यम की पराजय का डङ्का पीटा जाता है और द्वेष-ताप से मुक्त होकर लोक आनन्दित होता है। यह तभी सम्भव है जब एक ऐसे 'साहब' का हुक्म चलता है जिसकी राजनीति, धर्म (मानवीय मूल्य) पर प्रतिष्ठित है, जिसको झूँठ भाता नहीं और जो सत्य का प्रचार करता है।[2] ये सन्त निरन्तर ऐसे शत्रुओं से सङ्घर्ष करने के लिये प्रेरित करते हैं जो व्यक्ति की अपनी सीमाएँ हैं और व्यक्तित्व के विकास के लिये जिनका अतिक्रमण करना आवश्यक है। इस आदर्श राज्य में सामान्य लौकिक राज्यों का अन्याय, अत्याचार, दुराचार, घूस, छल, प्रपञ्च आदि का किञ्चित् स्थान नहीं है। सन्त लौकिक राज्यसत्ताओं की इन विकृतियों तथा विडम्बनाओं का निर्देश करते हुए सदा अपने रामराज्य की कल्पना को फिर से पूर्णतः मुक्त रूप में स्वीकार करते हैं।[3]

सन्तों की राज्यसत्ता सम्बन्धी इस परिकल्पना के साथ जब उनकी विश्व-बन्धुत्व की भावना तथा उनके मानवतावाद को रखकर देखा जाता है, तब हमारे सामने राज्यसत्ता की जो आदर्श व्यञ्जना प्रस्तुत होती है, वह मौलिक रूप से लोकतान्त्रिक भावना के निकट है। इसमें लोकतन्त्र के तीन सिद्धान्तों—स्वतन्त्रता, समानता तथा विश्वबन्धुत्व की परिव्याप्ति देखी जा सकती है। वस्तुतः सन्त, व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सामाजिक और राजनीतिक सन्दर्भों से

१—गु० बा०; भु०; पृ० १५६:४२२. २—गु० बा०; भु०; पृ० ३४।८७५. ३—च० बा०; भा० १; पृ० ६३।१०.

प्रारम्भ कर आध्यात्मिक स्तर पर सङ्गठित करते हैं। इसी कारण इनकी लोकतान्त्रिक भावना अन्ततः व्यक्तित्व के विकास के आध्यात्मिक ऊँचाइयों में प्रतिष्ठत होती है। युग सन्दर्भ के कारण उन्होंने व्यापक और सर्वोपरि राज्यसत्ता के रूप में अपने आध्यात्मिक रामराज्य की कल्पना की है, परन्तु जिन मूल्यों पर यह व्यवस्था आधारित है, वे व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से व्यक्ति को पूर्ण स्वाधीनता प्रदान करते हैं।

आध्यात्मिक साम्राज्य—सन्तों की साधना का क्षेत्र आध्यात्मिक है। जैसा कि कहा गया है, अन्य सभी सन्दर्भ उनकी इसी आध्यात्मिकता को प्रतिपादित करने के लिये आये हैं। उन्होंने समस्त संसार को माया के रूप में भ्रमात्मक स्वीकार किया है, अतः लौकिक राज्यसत्ता, राज्य-व्यवस्था तथा उसके वैभव के प्रति उनके मन में नितान्त उपेक्षा और अवहेलना की भावना है। इस लौकिकता से अलग वे अलौकिक साम्राज्य की कल्पना करते हैं जिसका वास्तविक राजा राम है, यह दाशरथि सुत राम न होकर सन्तों का आध्यात्मिक पूर्णशक्तिसम्पन्न सम्राट् है। इस आध्यात्मिक साम्राज्य की दो समानान्तर परिकल्पनाएँ सन्तों में मिलती हैं। एक कल्पना के अनुसार यह 'राजा राम' सन्तों के एकमात्र आशा-स्थल हैं। इससे अलग होकर व्यक्ति लौकिक-जीवन में चौपड़ की मोहरों के समान भटकता फिरता है। अतः सन्तों के अनुसार इस राजा के आध्यात्मिक साम्राज्य में प्रवेश करना ही वास्तविक जीवन है। इसी से समानान्तर अद्वैतवादी भावना के अनुकूल सन्तों में इस साम्राज्य के सम्बन्ध में यह परिकल्पना भी मिलती है कि पाँच तत्वों और तीन गुणों को जीतकर लौकिक माया के प्रपञ्च से मुक्त होकर आत्मा स्वयं ब्रह्मस्वरूप में उस आध्यात्मिक राज्य की स्वयं बादशाह हो जाती है।[१]

इस प्रकार सन्त लौकिक जीवन को उसकी मायात्मक क्षणिकता के कारण त्याज्य और क्षणिक मानते हैं, उसी प्रकार लौकिक राज्यसत्ताओं की सीमाओं के आधार पर अपने पूर्ण सत्य और न्याय पर प्रतिष्ठित आध्यात्मिक साम्राज्य की स्थापना करते हैं। अपनी शक्ति के आधार पर यह आध्यात्मिक सत्ता ब्रह्माण्ड का नायकत्व करती है, ग्रह-नक्षत्रों को निर्देश और उनका

१—क० ग्र०; पृ० १९; ११ : क० बी०; पृ० २०३; ५६ : गु० ग्र०; पृ० १२१४; म २; ३५; ५८.

नियन्त्रण करती है और उसी के सङ्केत पर समस्त चराचर सञ्चालित होते हैं। सांसारिक राजाओं की शक्ति और ऐश्वर्य उस अलौकिक राज्य के सम्मुख नगण्य है, अतः वास्तविक राजा वही है, और बाकी राज्य सब झूठे हैं। वस्तुतः इस अलौकिक राजा के राजकीय उपकरण नक्षत्र, तारे, आसमान, सूर्य, चन्द्रमा आदि हैं।[1] परन्तु इस प्रकार अलौकिक सत्ता की स्थापना की प्रवृत्ति सन्तों में कम ही है। इसके ऐश्वर्य और वैभव की अलौकिकता का वर्णन लौकिक राज्यसत्ताओं की नगण्यता को व्यक्त करने की दृष्टि से ही किया गया है।

सन्तों का आध्यात्मिक साम्राज्य वस्तुतः आन्तरिक अर्थात् आत्मिक है और इसी कारण इस साम्राज्य की स्थापना में सम्राट् और प्रजाजन का तात्विक अन्तर मिट जाता है। जिस प्रकार सन्त अपनी साधना की पद्धति में आत्मा और ब्रह्म को एकमेक मानते हैं, उसी प्रकार उनके आध्यात्मिक राज्य में शासित और शासक का अन्तर मिट जाता है। वे स्वयं इस साम्राज्य के आकांक्षी हैं और इसमें प्रवेश करने के साथ ही वे इस राज्य के अधिकारी हो जाते हैं। इस साम्राज्य का अधिकार वे पाँच तत्वों और तीन गुणों को जीतकर अर्थात् सांसारिकता से मुक्त होकर ही प्राप्त कर सकते हैं। बिना भ्रम और मोह को दूर किये इसमें प्रवेश सम्भव नहीं।[2] यह शासनसत्ता आन्तरिक जीवन का क्षेत्र है। वस्तुतः ज्ञान, विवेक जैसे शासन-व्यवस्था के साधन, इस आध्यात्मिक साम्राज्य की स्थापना के माध्यम ही हैं। इसमें सन्तोष पर आसीन होकर लोभ, मोह से मुक्त होकर मृत्यु रूपी शत्रु को पराजित कर सन्त-व्यवस्था को उपलब्ध करता है। इसी प्रकार सतगुरु के नाम का खजाना, सहज का बिछौना, शब्द के सिपाही, सुरति का जञ्जीरा सभी इस व्यवस्था को प्राप्त करने के उपकरण और साधन ही हैं। वस्तुतः 'ज्योति' (आन्तरिक प्रकाश) का जगमगता हुआ छत्र और मुक्ति की झारी भी इस आध्यात्मिक मनोराज्य में विचरण करने के लिये उपकरण बन जाते हैं।[3] ज्ञान के खड्ग से अज्ञान के अरि को पराजित कर इस राज्य को सीधे झेलकर ही प्राप्त करना है। इस कार्य को शब्द-गोली के रूप में मन को बेध कर देता है।[4] इस प्रकार शब्द, मन की

१—दरि० बा०; मारवाड़; पृ० १५; ३८ : भी० बा०; पृ० ६१; २६२. २—गु० ग्र०; पृ० १२१४; २; ३५, ५८. ३—ध० बा०; पृ० ६; ३. ४—रज्जब वा०, पृ० २६; ७५.

समस्त लौकिक बाधाओं को छिन्न-भिन्न कर आध्यात्मिक साम्राज्य की स्थापना में सहायक होता है। नाम के निशान को लेकर किये जाने वाले इस युद्ध में सन्तों को अपने तन और मन को सहज रूप में सञ्चालित करना होता है और क्षमा तथा सन्तोष के द्वारा पाँचों इन्द्रियों के चोरों को क्षण भर में भगा देना होता है और इस प्रकार अगम स्थान पर नाम के ध्वनित होने पर सन्त इस आध्यात्मिक साम्राज्य की आनन्दोपलब्धि करता है।[1] फिर अनुभव के तख्त पर सोऽहम् के चँवर के नीचे श्वेत मणियों के मुकुट को सिर पर धारण कर सन्त इसी आनन्द का उपभोग करता है।[2]

इस शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत सन्त विना किसी फौज, सेना या कटक के केवल राम नाम के बख्तर को धारण कर निर्भय राज्य करता है। उसको व्रत-योग के अतिरिक्त किसी धन-सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं होती। उसके राज्य में मुल्क और परगना नहीं हैं और न रैयत के रूप में लोग ही बसते हैं। वहाँ तो सङ्ग-साथ भी कोई नहीं है। यह साम्राज्य राम के वैभव से ही परिपूर्ण है।[3] अन्ततः सन्तों के लिये यह आध्यात्मिक साम्राज्य साधनापरक अनुभूति मात्र रह जाता है जिसमें लौकिकता के सभी सन्दर्भ और शारीरिक जीवन के सभी सम्बन्ध विनष्ट हो जाते हैं। इस अनुभव की स्थिति में लौकिक दुःख-सुख, पाप-पुण्य तथा न्याय-अन्याय की समस्त भावनाएँ भी विलीन हो जाती हैं, वह मात्र अनुभव (आनन्द) का क्षेत्र रह जाता है।[4]

राजनीतिक परिस्थितियाँ तथा वातावरण—परिस्थिति—सन्त लौकिक जीवन के प्रति उपेक्षाशील रहे हैं, उन्होंने किसी लौकिक सत्ता को स्वीकार नहीं किया है। उनकी इस लोक निरपेक्ष स्थिति के कारण उनके काव्य में किन्हीं विशिष्ट राजनीतिक सन्दर्भों को पाना सम्भव नहीं है। पहले ही कहा जा चुका है कि ये अपने 'राजाराम' और आध्यात्मिक साम्राज्य के सामने किसी समकालीन राजा-महाराजा को कुछ भी नहीं गिनते थे। ऐसी स्थिति में उनके काव्य में राजनीतिक घटनाओं अथवा परि-स्थितियों का सङ्केत न मिलना स्वाभाविक है। प्रतीकों तथा रूपकों

१—गु० बा० भु०, पृ० २४८; ५६४. २—के० बा० भु०; पृ० २६७; ६५६. ३—गु० बा०; पृ० १५६; ४२२. ४—या० बी०, पृ० ११; २.

में प्रयुक्त अनेक तत्कालीन बातों से इस युग के वातावरण का आभास अवश्य मिलता है।

जिन कतिपय ऐतिहासिक सन्दर्भों का उल्लेख सन्त-काव्य में मिलता है, उनमें सिकन्दर लोदी के द्वारा कबीर को बँधवाकर हाथी के सामने फेंका जाना भी है। इस घटना का अन्य कोई ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं है परन्तु प्रियादास ने भक्तमाल की टीका में कबीर तथा सिकन्दर लोदी के साक्षात्कार का उल्लेख किया है और उनके द्वारा रचित घनाक्षारी से यही व्यञ्जित होता है कि कबीर ने काजी के कहने पर ही बादशाह की अवहेलना की थी।[1] कबीर ने भी इस घटना का वर्णन किया है जिससे लगता है कि राजाज्ञा से काजी ने राजसत्ता की अवहेलना के अपराध में कबीर को बँधवाकर हाथी के सामने डलवाया था, परन्तु निर्भीक और ईश्वर पर विश्वास करने वाले कबीर का हाथी ने कुछ नहीं बिगाड़ा वरन् उसने नमस्कार किया। इस रहस्य को अज्ञान अन्धकार के कारण काजी भी नहीं समझ सका।[2] सिकन्दर लोदी और कबीर के साक्षात्कार का और उसके द्वारा कबीर को सजा देने का उल्लेख अन्यत्र भी मिलता है। कबीर को जञ्जीरों में बाँधकर पानी में डाला गया और वे हरि का स्मरण करते हुए जल की तरङ्गों के ऊपर आ गये। कबीर जैसे उदण्ड, निर्भीक तथा सत्यनिष्ठ व्यक्ति का सिकन्दर लोदी जैसे निरंकुश शाशक के द्वारा दण्डित किया जाना स्वाभाविक है।[3]

भारतवर्ष पर बाबर का आक्रमण सन् १५२६ ई० में हुआ और उस समय गुरु नानक जीवित थे। मुगलों के इस आक्रमण का वर्णन नानक ने किया है। यह वर्णन पर्याप्त विस्तार में है और इससे उस आक्रमण का पर्याप्त परिचय मिलता है। नानक ने मुग़ल और पठानों के इस युद्ध का आतङ्क-कारी वर्णन किया है। सम्भवतः यह बाबर के १५२१ ई० में अमीनाबाद पर किये गये आक्रमण का वर्णन है जिसको नानक ने स्वयं देखा था। इस आक्रमण में पठान बुरी तरह परास्त हुए और मुग़लों के आतङ्क से प्रजाजन की (विशेषकर स्त्रियों का वर्णन है) दुदर्शा हुई। इस आक्रमण में पठानों के घोड़े और अस्तबल, तलवारों की म्यानें, रथ, लाल वर्दी आदि का कहीं पता

१—आचार्य सूरज प्र०; कबीरदास का जीवन-वृत; धर्मेन्द्र अभिनन्दन ग्रन्थ; पृ० २७०. २—सन्त कबीर; डॉक्टर रामकुमार वर्मा; सा० भवन इलाहाबाद; पृ० १६७; ४. ३—क० ग्र०; पृ० २०३.

नहीं चला। स्त्रियों के दर्पण, उनका शृङ्गार, केशराशि तथा माँग का सिन्दूर सब अस्त-व्यस्त हो गया। जिन स्त्रियों का महलों में निवास था, उन्हें साधारण स्थानों में बैठने की जगह नहीं रही। जो स्त्रियाँ गरी, छुहारा, खातीं और पलङ्ग पर विराजती थीं, उनकी मुक्तामालाएँ टूटकर बिखर गई।' आगे नानक ने मुग़लों की तोपों और पठानों की हाथियों की सेना का उल्लेख किया है जिनके कारण मुग़लों की विजय हुई और पठान पराजित हुए।[१] नानक के अनुसार बाबर ने खुरासान पर समुचित रीति से शासन किया क्योंकि वह उसको अपना समझता था। परन्तु हिन्दुस्तान पर उसका आक्रमण यम के समान आतङ्ककारी रहा। इस युद्ध में इतनी मार-काट तथा तूफ़ान मचा कि नानक की कोमल आत्मा दयार्द्र हो उठी और उन्होंने ईश्वर से प्रार्थना की थी कि—"हे परमात्मा, क्या तुझे इस दारुण स्थिति पर दया नहीं आती। तू तो सभी का कर्तार है, निरपराध पर आक्रमण करने वाले शक्तिशाली पर तुम्हारा न्यायपूर्ण क्रोध प्रकट होना चाहिये।"[२] यहाँ पर नानक ने शक्तिशाली से शक्तिशाली के युद्ध को उचित माना है, पर निरपराध का उसमें पीड़ित होना अन्याय है। लगता है, मुग़ल और पठानों के युद्ध में जनता को जो कष्ट और पीड़ाएँ झेलनी पड़ीं थीं, उन्हीं की ओर नानक का ध्यान है। नानक की वाणी में पठानों पर तुरकों की विजय के अन्यत्र भी सङ्केत हैं—"नील वसत्र ले कपड़े पहरे तुरक पठाण अमल किया।"[3]

जहाँगीर और सिक्खों के छठें गुरु हरिगोविन्द के मिलन का एक साक्ष्य मिलता है जिसमें जहाँगीर गुरु से प्रश्न करता है—"हिन्दू, राम, नारायण, पारब्रह्म और परमेश्वर की उपासना करते हैं और मुसलमान, अल्लाह के उपासक हैं। इन दोनों की उपासना में क्या अन्तर है।" इस पर गुरु हरिगोविन्द ने अर्जुनदेव की वाणी उद्धृत की—''कारण करण करीम। सरब प्रतिपाल रहीम। अलह अलख अपार। खुदी खुदाई बड़ बेसुमार।'[४]

रज्जब साहब (सन् १५६७-१६८६ ई०) ने 'मुगलों छोड़ी गाय' के माध्यम से सम्भवतः अकबर के गोहत्या पर लगाये प्रतिबन्ध का उल्लेख किया

१—गु० बा० भु०; पृ० ४१७; ३; ५ : पृ० ४१८; ७; १२. २—गु० ग्र०; पृ० ३६०. ३—वही; पृ० ८७०. ४—सिख रिलीजन; डॉक्टर मैकालिफ़; भा० ४; पृ० १५.

है ।[१] सन्त, अहिंसा के बहुत बड़े समर्थक रहे हैं और अकबर का यह फरमान उनकी भावनाओं के अनुकूल रहा है। अकबर की उदारता प्रसिद्ध है कि उसने व्रज-भूमि तथा अन्य स्थलों पर मोर और गोहत्या का निषेध कर दिया था और गायों के चरागाहों से कर उठा दिया था ।[२]

सन्तों का काव्य, साधनापरक है और उसमें लौकिक जीवन की प्रारम्भ से अवहेलना हुई है। राजनीति तो विशेषतः उनकी उपेक्षा का विषय रही है। इस निर्भीकता तथा स्वाधीन-चिन्तन का परिचय सन्तों ने प्रारम्भ से दिया है। मुगल शासन की धार्मिक सहिष्णुता के वातावरण में उसका निर्वाह भली-भाँति हो सका। परन्तु ज्यों-ज्यों यह नीति असहिष्णु तथा कठोर होती गई, सन्तों की इसी स्वाधीनचेतना ने अपने सम्प्रदायों को राजशक्ति के विरोध में सङ्गठित होने की प्रेरणा दी। सम्भवतः पञ्जाब में सिक्ख-सम्प्रदाय का सबसे पहला इस प्रकार का सङ्गठन हुआ। पाँचवे गुरु अर्जुनदेव ने जहाँगीर के पुत्र खुसरू से सहानुभूति प्रकट की और इसके अपराध में जहाँगीर क्रुद्ध होकर अर्जुनदेव को कैदखाने में डलवा दिया और उन्हें इतनी यातना दी गई कि पाँचवे दिन उनकी मृत्यु हो गई। इस घटना से प्रभावित होकर छठें गुरु गोविन्दसिंह ने पञ्जाब में सिक्ख-सम्प्रदाय का सङ्गठन किया। आगे चलकर औरङ्गजेब के समय में उसकी असहिष्णु नीति के कारण सिक्ख तथा अन्य अनेक सम्प्रदायों ने सङ्गठित शक्ति के रूप में विद्रोह किया और राज्य-शक्ति से लोहा लिया।

वातावरण—राजनीतिक जीवन से सम्बन्धित न होने के कारण सन्त-काव्य में परिस्थितियों व घटनाओं के सङ्केत नगण्य हैं। इसकी अपेक्षा अन्य राजनीतिक सन्दर्भ पर्याप्त मात्रा में सङ्कलित किये जा सकते हैं। सामान्य वातावरण की दृष्टि से तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था का रूप इनके काव्य में यत्र-तत्र मिल जाता है। कबीर कहते हैं—"राज दरबार की ओर स्वार्थी व्यक्ति इस प्रकार फिर-फिर कर चक्कर काटते हैं जैसे हरियाई गाय डण्डा मारने पर भी बार-बार खेत पर ही जाती है।"[३] उस समय राजा और प्रजा के बीच कोई सक्रिय सम्बन्ध नहीं था। सामन्तयुगीन शासक निरंकुश और प्रायः विलासी थे। साधारण प्रजा अपने दैनिक कार्य में व्यस्त रहती थी, उसे राज्य अथवा राजा से कोई सरोकार नहीं था।

१—रज्जब की बा०; पृ० २६८; ११२. २—गिरधारी लाल; शोधप्रबन्ध, कृष्णभक्ति काव्य की पृष्ठभूमि; पृ० २२८. ३—क० ग्र०; पृ० ३६; १७, ६—

कबीर के अनुसार—"इन अनजानों के राज्य में समझदार व्यक्ति (भक्त) का मरन है, क्योंकि व्यवस्था करने वालों को अपने पेट भरने से काम है।"[1] इस प्रकार राजा को प्रजा का विशेष ध्यान नहीं था और न प्रजा को राजा का। साधारण आदमी को नित कुँआ खोदना और नित पानी पीना पड़ता था। प्रजा का दैनिक जीवन में यह जूझना बिना खाण्डे का संग्राम जैसा ही था, अर्थात् उसे अपनी समस्त व्यवस्थाओं के लिये अपने सीमित साधनों से प्रयत्नशील होना पड़ता था।[2] प्रजा के प्रति इस उपेक्षा के बारे में डॉक्टर स्टेनली लिखते हैं—"निःसन्देह देश में शहरों के जन-धन का बाहरी आक्रमणों या आन्तरिक विद्रोह से बचाने के लिये प्रबन्ध राज्य की ओर से भले ही हो, किन्तु देश की साधारण जनता का अधिकांश भाग जो कृषक था, उसे बाहर का कुछ भी पता नहीं था—उसे तो नित अपना काम करने और पेट भरने से ही मतलब था।"[3]

सन्तों के इस विस्तृत काल में व्यवस्था, न्याय और दण्ड का स्वरूप लगभग समान रहा है। इस बात के सङ्केत अवश्य मिलते हैं कि मुगल राज्य के अन्तिम पतनोन्मुखी काल में इस क्षेत्र की निरंकुशता और अव्यवस्था बढ़ चुकी थी। न्याय का दृष्टिकोण मुख्यतः शासनसत्ता की समुचित व्यवस्था को लेकर निर्धारित होता था और राजाज्ञाओं के उल्लङ्घन पर कठोर दण्ड दिया जाता था। दण्ड की व्यवस्था अत्यन्त कठोर थी और सन्तों के काव्य में इसके अनेक साक्ष्य मिलते हैं। कबीर का कहना है–'जो किसी प्रकार की उदण्डता या असावधानी करोगे तो तुमको बाँधा जायगा। ठाकुर या स्वामी बड़ा दारुण है, वह चाल-कुचाल चलने पर बाँधकर डण्डों से सजा देगा जिससे सारी असावधानी भूल जाओगे। जब वह कठोर ठाकुर आ पहुँचेगा तो वह पीठ को भली-भाँति तोड़ेगा और कुटुम्ब के सभी लोग देखते रह जाँयगे, कोई छुड़ा नहीं सकेगा व पकड़कर विनती करने पर भी किसी की बात नहीं सुनेगा। वह तो जान-पहचान की याद दिलाने पर भी चिन्ता नहीं करता।"[4] वस्तुतः आध्यात्मिक सन्दर्भों से हटा कर कबीर के उपर्युक्त कथन में तत्कालीन राज्य कर्मचारियों की कठोरता, राज्याज्ञा के

'राज दुआरे यों फिरे ज्यूँ हरियाई गाय' १—क० ग्र०; पृ० ५१; २९; ७. २—वही; पृ० २९; ८—'किससे लेना किससे देना बिन खाण्डे संग्राम है नित उठ मन सो जूझणा'. ३—डॉ० स्टेनली मि०; इण्डिया अण्डर होम रूल; पृ० २५२. ४—क० बी०; पृ० ५६; १८.

उल्लङ्घन के लिये कठोर दण्ड और प्रजाजनों की असहायावस्था का सङ्केत मिलता है। इतिहासकार इस विषय में सहमत हैं कि इन युगों में दण्डभिधान कल्पनातीत कठोर था। सच्चाई प्रकट कराने के लिये कठोर यातनाएँ देना सर्वाधिक सरल उपाय समझा जाता था। चोरी, व्यभिचार एवं द्रोह के लिये मौत की सजा, अङ्ग-भङ्ग की सजा दी जाती थी। कभी-कभी हाथी या सिंह जैसे पशुओं के सामने फिकवा दिया जाता था।[1]

कर वसूल करने वाले कर्मचारी वसूली न होने पर किसानों को कोड़ों की मार का और कभी गरम सलाखों से दागने का दण्ड देते थे। दरिया बिहार वाले (१६३४-१७८० ई०) अपने एक रूपक में इसी तथ्य का सङ्केत देते हैं—"नकीब पुकार लगाकर देनदार को लेन-देन (नेकी-बदी) के कागज सहित चबूतरे पर राजकीय कर्मचारी के सम्मुख प्रस्तुत करता है। बाकी निकलने पर प्यादा उसको कोड़ों से मारता है और फिर भी प्राप्त न होने पर पत्थर पर पटकता है।"[2] इस प्रकार व्यवस्था की कठोरता के अनेक प्रमाण इतिहासग्रन्थों में भी मिलते हैं। यदुनाथ सरकार का कथन है—"लगान वसूल करने वाले कर्मचारी बेचारे किसानों को निचोड़ डालते थे। कृषकों की प्रधान आवश्यकताओं की उपेक्षा कर लगान वसूल किया जाता था। लगान वसूल करने वाले छोटे-छोटे कर्मचारी भी लुटेरों की भाँति इन दीनों को नोचते-खसोटते थे। कितने ही अन्यायपूर्ण कर लगाये जाते थे जिन्हें देते-देते वे परेशान रहते थे।"[3] मृत्यु-दण्ड के लिये सूली पर चढ़ाकर फाँसी लगाने की क्रूर-प्रथा इस युग में प्रचलित रही है। सन्तों ने इस सूली का निरन्तर प्रतीक के अर्थ में प्रयोग किया है और यह सुली का दण्ड साधारण अपराधों में भी दिया जाता था।

सन्तों के काल में प्रजा की दृष्टि से व्यवस्था बहुत सन्तोषप्रद नहीं रही। कबीर तक ने कहा है—"दावा काहू को नहीं बड़ी देश बड़ राज"—(क० ग्र० २५६:१००) अर्थात् जहाँ कोई किसी को पूछने वाला नहीं और इसके परिणाम स्वरूप—'राजा रङ्क दोऊ मिलि रोवे' अर्थात् राजा-प्रजा किसी को भी सन्तोष प्राप्त नहीं है (क० ग्र०, पद संख्या १३१)। राज कर्मचारियों का नैतिक स्तर अच्छा नहीं था और घूस व रिश्वत सामान्यतः

१—क्रोनिकल आफ़ नूनोज; पृ० ३८३. २—दरि० वि०; धर्मेन्द्र ग्र०; पृ० ५६; १८. ३—यदुनाथ सरकार; मुग़ल एडमि०; पञ्चम परिच्छेद ऐक्सेशन.

प्रचलित थी । एक प्रकार से इसको व्यवहार में स्वीकृति ही प्राप्त हो चुकी थी, इसी कारण इस युग में इसे नजराना या शुकराना कहने की प्रथा प्रचलित थी जिसका रूप आज तक देखा जा सकता है। काज़ी जैसे राज्याधिकारी के 'रिश्वती' होने का उल्लेख मिलता है।[1] नानक राजाओं को सिंह के समान और उनके कर्मचारियों को कुत्तों के समान मानते हैं जो प्रजाजन का रक्त चाटते हैं और उनका माँस भक्षण करते हैं।[2] वस्तुतः उस समय का शासक निरंकुश था और उसका शासन कठोर हिंसात्मक नियन्त्रण पर आधारित था। राजागण तो फिर भी अपने ऐश्वर्य-विलास के साथ सामन्ती भावना के अनुरूप कभी वीर और उदार भी जान पड़ते हैं, परन्तु उनके अधिकारी तथा कर्मचारी अपेक्षाकृत क्षुद्र, क्रूर तथा खसोटने वाले होते थे। काज़ी और कोतवाल जैसे अधिकारियों के लिये सन्तों ने इसी प्रकार की उद्भावना की है। कबीर कहते हैं—"को अस करे नगर कोतवलिया, माँसु पसारि गीध रखवरिया"[3] अर्थात् माँस के लोभी गीध के समान कोतवाल से नगर की रक्षा किस प्रकार हो सकती है।

इस प्रकार सन्त राजनीतिक जीवन से अधिक दूर तक अलग और मुक्त रहकर भी एकदम असम्पृक्त नहीं रह सके हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि राजनीतिक व्यवस्था, न्याय तथा दण्ड के प्रति उनका उपर्युक्त भाव बहुत कुछ उनकी आध्यात्मिक साधनापरक मनोवृत्ति का परिणाम भी हो सकता है। परन्तु अन्य ऐतिहासिक साक्ष्यों से इनके द्वारा साङ्केतिक वातावरण, परिस्थिति का ठीक ही निर्देश करता है।

राज दरबार—सन्तों को राज दरबारों में जाने का कोई अवसर नहीं मिला, इसकी उन्हें आवश्यकता भी नहीं थी। फिर भी अपने आध्यात्मिक बादशाह के ऐश्वर्य-विलास का जो वर्णन उन्होंने किया है, उससे यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि अपने समसामयिक राजाओं के दरबार तथा उनके ऐश्वर्य-विलास से उनका परिचय था। आध्यात्मिक रूपकों से तत्कालीन राज्यदरबार के ठाट-बाट का पूरा उपयोग किया गया है। उन्होंने अपनी कल्पना के प्रकाश से जिस सिंहासन पर आरूढ, छत्र चँवर से आभूषित ज्योति के प्रकाश से आभामय आध्यात्मिक सम्राट् का वर्णन किया है, वह मूलतः उस समय के

१—भाई गुरुदास की बारबार १ पोड़ी ३०. २—गु० ग्र०; पृ० १२८८; म० १. ३—क० बी०; पृ० २६०; ६५.

बादशाह के दरबार की कल्पना है। इस बादशाह के सामने राज्यसभा में राजा-राव, मीर-उमराव आदि प्रस्तुत रहते हैं जो उसकी शक्ति और आधिपत्य के प्रतीक हैं। इसी प्रकार राजदरबार में बादशाह के सङ्केत से ही उसकी आज्ञा का निर्वाह करने वाले नक़ीबों, चोपदारों व सिपाहियों का उल्लेख है। सन्तों की शब्दावली में निरन्तर सम्राट् के लिये सुल्तान या बादशाह शब्द का प्रयोग किया गया है और अधीनस्थ शासकों को राजा, राणा, राव, मीर, उमराव आदि कहा गया है।[1] बादशाह को सिंहासनारूढ़ बतलाया गया है जिसके ऊपर छत्र है और चँवर ढुलता है" तथा जिसके सम्मुख अनेक राग-रङ्ग, (गाना-बाजाना आदि) होते हैं।[2] राजदरबार अनेक ध्वजाओं से विभूषित होता था और अनेक हाथी बाहर बँधे हुए इसकी शोभा बढ़ाते थे—'कोटि ध्वज साह हस्ती बंध राजा'। (क० ग्र०, पृ०१९९-९८) । राज दरबार में (अपने पदों के अनुसार) विभिन्न आसनों पर मीर, मलिक, उमराव तथा छत्रपति बादशाह के साथ बैठते थे।[3] नानक देव भी—'अनेक लीला राज रस रूप छत्र चँवर तख़त आसन'[4] को राज दरबार में स्वीकार करते हैं। गुरु अमरदास ने अन्य राजा, ख़ान और उमरावों के साथ सिक़दार की स्थिति भी सभा में स्वीकार ही है।[5]

वस्तुतः राजदरबारों में सिंहासन पर राजाओं के आरूढ़ होने की परम्परा इस देश में प्राचीन है। राजा का आसन सभा में ऊँचा, भव्य तथा अलंकृत होता था। सिंहाकृति के कारण उसे सिंहासन कहा जाने लगा जो बाद में राजा के शासन के लिये रूढ़ शब्द हो गया। सन्तों के काल से कई शताब्दियों पूर्व बाण ने अपने ग्रन्थ—'हर्षचरित' तथा 'कादम्बरी' में राजा के आसन का वर्णन किया है जो सोने, चाँदी या तांबे का बनाया जाता था। 'कादम्बरी' में मणियों के चार दण्डों तथा श्वेत रङ्ग के रेशमी चन्दोवे से सज्जित और मोतियों से अलंकृत सिंहासन का वर्णन है।[6] चन्दोवों का प्रयोग भी काफी प्राचीन है। माघ ने मोतियों से अलंकृत गहरे लाल रङ्ग के चन्दोवों का वर्णन किया है जिनकी समता अजन्ता के भित्ति-चित्रों

१—राजा राणा राव छत्रपति, जरि भसम सो कूड़ो रें, क०ग्र०,पृ० ११५; ८५, २—छत्र सिंहासन चंवर ढुलता, रागरङ्ग बहु आगी, क० ग्र०, पृ० १८६; २९९; ३—क०ग्र०, पृ० १२७; १२२. ४—गु० ग्र०, पृ० ७६० म०१. ५—गु० ग्र०, पृ० ८५१; ६:२. ६—कादम्बरी एक भा० अ०, पृ० २३.

से की गई है। सिंहासन के साथ-साथ छत्र का वर्णन भी 'हर्षचरित' में मिलता है।[1] ११वीं शती में लिखे गये 'नैषधीयचरितम्' में भी सिंहासन का वर्णन इस प्रकार है—"राजा भीमसेन ने स्वयम्बर में आये हुए राजाओं को अलग-अलग सिंहासन प्रदान किया था।"[2] कबीर के समकालीन जायसी ने भी सभा के मध्य में आठ खम्भों के नीचे सिंहासन का वर्णन किया है। वस्तुतः अकबर के समय तक सिंहासन (राजा के बैठने का स्थान) काफी ऊँचा, सभा से कुछ अलग खम्भों से (प्रायः आठ) घिरा हुआ होता था।[3]

राजदरबार में प्रस्तुत होने के लिये कुछ सुकृत होना चाहिये अर्थात् किसी अधिकारी की सिफ़ारिश की आवश्यकता होती थी और भेटस्वरूप कुछ देने का रिवाज भी था।[4] राजदरबार में गड़वी, चारण, भाट और ढ़ोली आदि राजाओं की प्रशस्ति करने वालों का भी स्थान था।[5] सम्भवतः यह राजपूत दरबारों के वातावरण का सङ्केत है। राजा, मणियों से जटित मुकुट को धारण करता था—'तखत अनभी चँवर चढ़े सोहङ्ग ढ़रे, स्वेत मणि मुकुट सिर छत्र साजा'।[6] राजा के ऐश्वर्य के वर्णन में सन्तों की दृष्टि अलङ्करण के उपकरणों पर नहीं रही, वरन् आध्यात्मिक सन्दर्भ के कारण राजैश्वर्य को 'नूर', 'ज्योति', 'प्रकाश', 'जगमगाहट' आदि शब्दों से व्यक्त किया है।[7] इसके अतिरिक्त कभी-कभी सूबा, फौज, हाथी, घोड़े, सुखपाल, साज, कनात, तम्बू, ढ़ोल तथा दमामा आदि उपकरणों का उल्लेख भी इसी प्रसङ्ग में किया गया है।[8] कभी सन्तों ने राजा के ऐश्वर्य का कुछ अधिक विस्तृत वर्णन भी प्रस्तुत किया है—"सब साजों से सुसज्जित द्वार पर हाथी-घोड़े झूमते हैं, भारी सेना है, छरीवरदार, चोपदार हाँक लगाते हैं, आम खास के तख्त के ऊपर बैठे हुए बादशाह की कोर्निश भीर-उमराव करते हैं। नौबत और निशान गूँजते रहते हैं, नित्य नृत्य-गान चलता रहता है, सखियों के सहित विलासिनी बेगमें प्रस्तुत रहती हैं और

१—डॉ० बा० श० अग्रवाल हरिषचरित एक०, पृ० १६७. २—नैष० च० चन्द्रिकाप्रसाद मिश्र पृ० २६०:६७. ३—आइने अकबरी; भा० २; पृ० ५६. ४—घा० बा०, पृ० ३२: १३, १४. ५—रज्जब बा०, पृ० २६७·९६ ५—केशव बा०, पृ० २६७:६५६. ७—यारी० बा०, पृ० ४५०:११७१. ८—भी० बा०; पृ० ९१ : २६२.

रत्नों तथा मोतियों से चतुर्दिक् अलङ्करण होता है।[1] इसी प्रकार दरिया साहब (१६७६-१७५८ ई०) मारवाड़ वाले भी आध्यात्मिक प्रसङ्ग में राजा के ऐश्वर्य का वर्णन करते हैं—"इसके असंख्य कारकुन हैं जिनके माध्यम से आज्ञा प्रचारित होती है, नगर की व्यवस्था के लिये कोतवाल है, धर्म विचार के लिये न्यायाधीश (काज़ी) हैं, अनेक शासक दरबारी हैं, यश गाने वाले भाट, चारण आदि हैं, जिसके ऊँचे महल हैं जिस पर चंवर ढुलता रहता है, कुशल रसोइया हैं, कोट की रक्षा के लिये खाइयों में गहरा पानी है, जिसकी फुलवारी में सुगन्धित फूल खिले हैं, जिसका कोट मजबूत बना हुआ है, जिसके कोष में अनन्त धनराशि है, जिसके खिलअत खाने भरे पूरे हैं, जिसके अनेक दीवान राज्य-व्यवस्था चलाते हैं, जिसके प्रताप के सम्मुख सभी काँपते हैं।"[2] इस प्रकार तत्कालीन शक्तिशाली राजा का ऐश्वर्य और प्रताप ही वर्णित है।

सन्त-साहित्य में राजा के दरबार, ऐवर्श्य तथा विलास के जो सङ्केत मिलते हैं, उनका विस्तृत और साङ्गोपाङ्ग वर्णन उस समय के इतिहासों, यात्रा-विवरणों तथा सूफ़ी प्रबन्ध-काव्यों में मिलता है। इब्नेबतूता (१३२५-१३५४ ई०) सुल्तानों के दरबार से विशेषरूप से सम्बन्धित रहा, अतः दरबार की प्रत्येक वस्तु के बारे में उसने सूक्ष्म पर्यवेक्षक दृष्टि का परिचय दिया है। वह लिखता है, जिसका विवरण डॉ० रिज़वी ने दिया है—"सुल्तान का आम दरबार मङ्गल के दिन लगता है। एक विशाल प्राङ्गण में एक बड़ा राजसी शामियान लगाया जाता है। सुल्तान प्राङ्गण के मध्य में ऊँचे सिंहासन पर आरूढ़ होता है। इस सिंहासन पर सोने के पत्तर जड़े होते हैं, वह जवाहरात से सुशोभित होता है। दाये-बाये अधिकारी क्रम से खड़े होते हैं। खानों, सद्रों तथा दरबारों के अतिरिक्त कोई नहीं बैठता। नक़ीब चिल्लाता रहता है कि जिस किसी को शिकायत हो आगे बढ़े। जब कोई शिकायत करने वाला आगे बढ़ता है तो उसे निश्चित स्थान से आगे बढ़ने नहीं दिया जाता। शिकायत के बाद जैसा बादशाह आदेश देता है, वैसा ही होता है। सुल्तान के अन्य दिनों के दरबार प्रातः-सन्ध्या लगते हैं। बादशाह के सामने कोई चाकू तक नहीं ले जा सकता। तलाशी के बाद आने वाले को सात दरवाजे पार करने पड़ते हैं।[3]" 'हूमायूँनामा' में भी राजा के सिंहासनारूढ़

१—दरिया अनुशीलन, पृ० ७८। ३ अ० २०. २—दरि०मा०; पृ० ३५; २

३—डॉ० अ० रि० तु० का० म०; भा० १; पृ० ३२८.

होने का वर्णन सन्तों के सङ्केतों के अनुकूल है। चार सीढ़ियों से चढ़ने वाले जड़ाऊ तख्त पर कारचोबी का चन्दोवा लगा रहता था। अष्टकोणी मजलिस घर में जड़ाऊ तख्त रखा रहता था जिसके ऊपर नीचे कारचोबी की मसनदे लगी रहती थीं और उसका अलङ्करण मोतियों की लड़ियों की उतार-चढ़ावदार झालरों से किया जाता था।[1] 'तुज़के जहाँगीरी' में एतमादुद्दौला द्वारा जहाँगीर को भेंट में दिये गये सोने चाँदी के पाये वाले सिंहासन का उल्लेख है, जिसका निर्माण चालीस लाख पचास हजार रुपये की लागत में एक हुनरमन्द फिरङ्गी ने किया था। जहाँगीर ने स्वयं एक बहुमूल्य सिंहासन बनवाया था, जिसमें कहा गया है, नौ लाख तुमान (ईरानी सिक्का, जो साठ लाख अशर्फियों के बराबर होता था) के मूल्य के रत्न लगे थे और पचास मन लाल और स्वर्ण लगा था। वह अलग-अलग भी हो सकता था और चालीस ज़रीब जमीन घेरता था, जो साठ गज लम्बी होगी। यह सिंहासन ज़रबफ्त के कालीनों, कलावत्तू के काम के अगरवत्तियों के रखने के नमर्दी सोने के पाजों तथा तीस हजार कपूर की बत्तियों को जलाने के सोने के शमादानों से अलंकृत था।[2] इसके अतिरिक्त शाहजहाँ के अत्यन्त अलंकृत बहुमूल्य मयूरासन की चर्चा तो सामान्य इतिहास की बात है, जो दो करोड़ चौदह लाख पचास हजार चार सौ पचपन रुपये की लागत से सात वर्षों में बनकर सन् १६३४ ई० में तैयार हुआ था।

वस्तुतः मुस्लिम काल में राजदरबारों का ऐश्वर्य विलास का वातावरण मुग़ल बादशाहों के अन्तर्गत सुख-समृद्धि के साथ बढ़ता गया। उनकी वैभव और अलङ्करणप्रियता की वृद्धि के साथ सत्ता के प्रदर्शन की उनकी आकांक्षा भी कम नहीं थी। दरबारों में स्थानग्रहण करने, बादशाह को सम्मान प्रदर्शित करने तथा पुकारे जाने की निश्चित व्यवस्था थी। और इन सब बातों के सङ्केत सन्तों के काव्य में मिल जाते हैं। यह अलग बात है कि इनका प्रयोग आध्यात्मिक सन्दर्भ में किया गया है। कहते हैं, दरबार में सलाम करने की कठोरता का नियम अकबर के समय में ढीला पड़ गया था, आगे शाहजहाँ ने इसको और नियन्त्रित किया। जहाँगीर के समय धार्मिक पण्डितों, काज़ियों और मीरे-अदल आदि को इस बात की

१—हुमायूँनामा; पृ०४६,६१. २—जहाँगीर की आत्मकथा; का० ना० प्र० सभा; पृ० २.

छूट दे दी गई थी कि वे नित्य सिज़्दा या शाही सलाम करते हुए दरबार में प्रवेश न करें। शाहजहाँ के समय सिज़्दा पर रोक लगा दी गई और सिज़्दा खुदा के सामने करने के लिये ही मानी गयी। परन्तु चौखट चूमना या ज़मीन का बोसा लेने आदि का प्रचलन आगे तक चलता रहा।[१] शाहजहाँ के समय तक दरबार में किसी नये राजा के आने पर उसके तिलक किये जाने की प्रथा थी। परन्तु औरङ्गजेब ने सन् १६७९ ई० में इसे हिन्दू-रीति मानकर बन्द कर दिया। उसका दरबारी रीति-रस्म पालन करने के विषय में सख्त आदेश था और इसके विरुद्ध कार्य करने पर दीवान मुहम्मद ताहिर को उसने दण्डित भी किया।[२]

न्याय व्यवस्था और दण्ड—अदल या न्याय—सन्त साहित्य में अदल शब्द का प्रयोग बहुत अधिक हुआ है। इस शब्द का मूल रूप अरबी है, जिसका अर्थ न्याय या इन्साफ़ है। इसका दूसरा अर्थ सङ्गतियुक्त अथवा तर्कयुक्त भी है। इन अर्थों में इस शब्द का प्रयोग तो सन्त-साहित्य में मिलता ही है, साथ ही इसके अन्य विकसित अर्थों—शासन, व्यवस्था, सङ्गठन आदि का प्रयोग भी व्यापक रूप से मिलता है। इसी शब्द से अदालत बना है जिसका अर्थ न्यायालय लिया जाता है। सामान्यतः अदल और अदालत दोनों शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में न्याय-व्यवस्था के रूप में भी होता है। अदल शब्द इस अर्थ में लोक में सर्वाधिक प्रचलित रहा है और सन्तों ने इसी भाव से इसका प्रयोग किया है। नानक कहते हैं—'राजा अदलु करे गुणकारी'[3] अर्थात् राजा श्रेष्ठ न्याय करता है। जब सन्तदास कहते हैं—'अदल पहुँचे सन्तदास, तब रहे न राखा जाय' तब उनका भाव न्यायालय से है—स० वा०, पृ० ३८; १०३:। इसी प्रकार यह शब्द न्यायाधिकरण के व्यापक अर्थ में भी प्रयुक्त है—'जब पूछेगा अदल हिसाबा, तब तुम कहा करोगे जवाबा'—स०वा०, पृ०५६; ३९। आगे नानक व्यवस्थापक स्वामी की कल्पना के लिये 'अदली' शब्द का प्रयोग करते हैं—"उस सिंहासनारूढ़ न्यायाधीश (अदली) प्रभु के सम्मुख प्रजाजन का

१—श्रीराम शर्मा; रिलीजस पालिसी आफ़ मुग़ल किंग्स; आ० यु० प्रे०; पृ० ९५. २—वही; पृ० १२० १२७. ३—गु० ग्र०; पृ० ९०७ : ९; १०.

भ्रम, तथा भय नष्ट हो जाता है।"[1] अन्य अनेक परवर्ती सन्तों में पलटू (४) धर्मदास (१) दरिया (२) (बि०) गुलाल (३) आदि ने अदल शब्द का प्रयोग शासन-व्यवस्था के अर्थ में किया है।[2] इसके अतिरिक्त इसका प्रयोग सङ्गत, नियमित, उचित तथा व्यवस्थित के अर्थ में भी सन्तों में मिलता है। वस्तुतः यहाँ भी इसका अर्थ, व्यवस्था या सुव्यवस्था का ही है। दरियासाहब (बि०) जब कहते हैं—'माया चेरि है वंस को, जो बूझै निज सार। ज्यों आवे त्यों खरचई अदल चले संसार॥'—(दरि० अनु०, पृ० ३६।२०) उस समय 'संसार की न्याय-व्यवस्था' के चलने की ही बात उनके ध्यान में है। इसी प्रकार रामचरण दास 'इकतारी अदली जब राखे' कहकर सङ्गति युक्त का ही अर्थ व्यक्त करते हैं—(रा०वा०, पृ० ६७६।५४)। गरीबदास ने 'अदली' और 'अदल' इन दोनों शब्दों का साथ-साथ प्रयोग किया है और ऐसे प्रयोगों में अदल शब्द का अर्थ शासन-व्यवस्था और शासनाधिकारी ही है—'अदली आरत अदल बखाना' और 'अदली आरत अदल जमाना' आदि में निहित अर्थ शासन-व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत न्याय-व्यवस्था भी स्वीकृत है।[3]

वस्तुतः 'अदल' शब्द का प्रयोग न्याय और शासन-व्यवस्था दोनों के लिये होने लगा था—"शेरशाह ने अपने शासन प्रबन्ध के लिये काज़ी और मीर को 'अदल' (न्याय) के लिए मुकर्रर किया था।'[4] 'अकबरनामा' में 'अदल' शब्द का प्रयोग शासन के व्यापक अर्थ में हुआ है—"यद्यपि टोडरमल की जगह रायरामदास दीवान मुकर्रर कर दिये गये थे मगर अदल बदस्तूर राजा टोडरमल के हाथ ही रहा।"[5] वस्तुतः न्याय-व्यवस्था की इस अस्पष्ट स्थिति को समझना कठिन नहीं है। मुस्लिम काल की शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत न्याय-व्यवस्था आती है, उसके स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना उन युगों में नहीं की जा सकती थी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत न्याय का अधिकार शासन की व्यवस्था करने वाले अधिकारियों के रूप में ही

१—गु० ग्र०; पृ० १०२१ : १०. २—धरमदास; पृ० २४:१३। दरि० बा०; पृ० १३५:१६। गु०बा०; पृ०५०:१३८। पलटू बा०; भाग १; पृ० ८ : २०. ३—ग० बा०; पृ० १३२:३; १३४:४,५. ४—डा० ता० हि० का इ०; पृ० २२६. ५—अकबरनामा; पृ० ५६.

अन्तिम रूप से था। अनेक बार न्याय, शासन और राजस्व अर्थात् दीवानी के अधिकार और व्यवस्था भी सम्मिलित रूप से शासनाधिकारियों के हाथ में रहती थी। इसके अनेक साक्ष्य सन्तकाव्य प्रस्तुत करता है—लगान वसूल करने के लिये अधिकारी, बाकी निकलने पर किसानों को कठोर से कठोर दण्ड का विधान स्वयं करते थे—'बुरो दिवान दाद नहि लागै, इक बाँधे इक मारे····। धरमदास जब लेखा माग्या, बाकी निकसी भारी। पाँच किसाना भाजि गए हैं, जिब घर बांध्यो पारी।'—(क०ग्र०,पृ० १६३:१२२)।

इस न्याय की शासन-व्यवस्था के द्वारा अधिकृत स्थिति के कारण ही सन्तों ने 'अदल' शब्द का प्रयोग व्यापक रूप में शासनाधिकार या सत्ता के पूर्णाधिकार के अर्थ में अधिकतर किया गया है। धरमदास ने शासन-सत्ता के अधिकार के रूप में स्पष्टतः 'अदल' शब्द का प्रयोग किया है—'अपन रैयत बलि करो, बैठे अदल चलाओ' अर्थात् प्रजाजन को वश में कर निश्चिन्त भाव से अधिकार चलाया जा सकता है। इसके साथ ही न्याय भी स्वीकार कर लिया है, क्योंकि—'दज्जा ऊपर बैठि के फिर शङ्ख बजाओ' में सम्राट् के छज्जा पर दर्शन देने, तथा शङ्ख द्वारा उद्घोष किये जाने के साथ न्याय करने की स्थिति का भी सन्दर्भ सन्निहित है।[1] आगे धरमदास 'लोभ मोह सब दूर भगाओ, ऐसो अदल चलाओ' कहकर स्पष्ट शब्दों में शासनसत्ता के अन्तर्गत न्याय को सम्मिलित किया है।—(ध० वा०; पृ० ७०: १०)। इसी प्रकार गुलाल, पलटू, धरमदास तथा तुलसी साहब ने सत्ता के पूर्णाधिकार के रूप में इस शब्द का प्रयोग किया है।[2] पलटू स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—'स्वामी की अदल (Authority) स्थापित होने पर सब कोई सुखी होगा क्योंकि तुम्हारा अमल तेजोमय है।···ब्रह्मा, विष्णु, महेश तुम्हारे अधिकार को सुनकर आतङ्कित होते हैं। तीनो लोकों में तुम्हारी आन की दुहाई फिर गई है और तुम्हारी साहिबी (Sovereignty) में जीव (प्रजा) दुःख नहीं पाते।"[3] यहाँ ब्रह्म के प्रसङ्ग में इसी अधिकार की चर्चा की गई है।

१—ध० वा०; पृ० ३१; २. २—गु० वा०—'हुक्म चले रोज अदिल फिरवाय", पृ०२०७:६३८। प०वा०; "घर-घर हाकिम होय अदल फिर कौन चलावै'; पृ० ४:६। ध० वा०—"मन अदली जहं अदल चलावै, कहा करै जीव विचारा"; पृ० २४; १३,३। तु० सा०—"अरे बूझ से सूझे अदल उसकी महर दिल में शकल"; पृ० १२४:३. ३—ध०वा०, भा० १, पृ० ८,२०.

अदालत या न्यायालय—वस्तुतः सन्तों के विस्तृत काल में विभिन्न मुसलमानी शासन व्यवस्थाओं के अन्तर्गत जैसा कि कहा गया है, न्याय की कल्पना राज्यसत्ता से ही सम्बन्धित रही है। यही कारण है कि न्यायालयों या अदालतों की स्थिति शासनाधिकारियों के अन्तर्गत ही स्वीकृत मानी गई है। परिणामस्वरूप अदालत या न्यायालय की स्थिति शासन-व्यवस्था के साथ ही मिली-जुली है। कबीर कहते हैं—"अमल (शासनाधिकार) के समाप्त होने पर कठिन यमदूत को अपना लेखा देना है। क्या खाया और क्या गँवाया है, इसका लेखा-जोखा देने के लिए दीवान (धर्मराज) ने बुलाया है। हरि (बादशाह) के दरबार का फ़रमान आया है अतः तुरन्त दीवान के सम्मुख प्रस्तुत होना है। जो प्रार्थना-निवेदन करना है उसकी तैयारी अभी कर लो। जो भी खर्च हुआ है, उसकी पूर्ण व्यवस्था (Adjustment) अभी इस रात को कर लो। सुबह तो दीवान के सम्मुख प्रस्तुत होना ही है।"[1] यहाँ कबीरदास ने राज्याधिकार के अन्तर्गत दीवान को न्यायाधिकारी भी माना है। इसका एक कारण यह स्वीकार किया जा सकता है कि इस रूपक में जीव को एक राजस्व के अधिकारी ठेकेदार के रूप में चित्रित किया है जिसके हिसाब-किताब का अन्तिम लेनदार दीवान माना जा सकता है। परन्तु यहाँ व्यञ्जना से अर्थ जीव के अन्तिम न्याय का भी है। जीव को कर्मों का लेखा-जोखा दीवान अर्थात् धर्मराज के सम्मुख प्रस्तुत करना है। वस्तुतः उन दिनों न्याय का अन्तिम अधिकारी स्वयं बादशाह हुआ करता था। सम्राट् अपील की सबसे बड़ी अदालत थी, यद्यपि न्याय के लिये सम्राट् तक पहुँचना कठिन काम था।[2]

धरमदास इसी दृष्टि से कचहरी और अदालत का रूपक एक साथ ही प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार—"सन्तों की ज्ञान कचहरी में सुरति की जञ्जीर (न्याय की जञ्जीर) है और श्वेत ध्वजा (न्याय के प्रतीक के रूप में) फहराती है। वहाँ सहना और सिपाही भी प्रस्तुत हैं और खज़ाना भी। सन्तोष और ज्ञान के आधार पर विवेकपूर्ण दीवान (न्यायाधीश) है और वह काम-क्रोध को दूर कर, प्रपञ्चों से बचकर, लोभ-मोह से बचकर दया-शान्ति के आधार पर न्याय की व्यवस्था चलाता है।"[3] वस्तुतः यहाँ धरमदास ने भी शासन-व्यवस्था और न्याय-व्यवस्था को एक साथ स्वीकार

१—स० कबीर; पृ० १४६; ३, २—राज सरकार मु० ए०; पृ० ६६, ६७. ३—ध० बा०; पृ० ६५; १०.

कर लिया है और इसी कारण उनकी कचहरी न्यायालय ही है। पलटू साहब भी सन्त दरबार की तहसील की सन्तोष रूपी कचहरी में हरिनाम के डङ्का बजने का रूपक बाँधते हैं। ये फरियादी के रूप में मुक्ति को इस विचित्र अदल में प्रस्तुत करते हैं।[1] वस्तुतः यहाँ यह कचहरी अदल के रूप में न्यायालय ही मानी जा सकती है या दोनों का एक ही रूप है।

मुस्लिम काल में न्याय का सर्वोच्च अधिकारी बादशाह स्वयं होता था और वह अपने न्यायाधिकारियों की सहायता से लोगों की फरियाद सुनता और फैसले देता था। 'वाक़िआते ए-मुश्ताक़ी' के साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि सिकन्दर लोदी जैसा बादशाह भी अन्याय पीड़ित लोगों के प्रति न्याय करने में अत्यधिक परिश्रम करता था। वह किसी मालिक को अत्याचार नहीं करने देता था। सिकन्दर का वकील दरिया ख़ाँ न्याय-हेतु चबूतरे पर सारा दिन तथा एक बड़ी रात तक उपस्थित रहता था। काजियों तथा आलिमों में से बारह आदमी फ़तवा (धार्मिक परामर्श) देने के लिये दरबार में उपस्थित रहते थे। दीवाने बज़ारत के चबूतरे पर जो मुकदमा प्रस्तुत होता था उसे इन बारह विद्वानों के पास भेज दिया जाता था। ये लोग शरा के अनुसार मुकदमें को तय करते थे और फ़तवा लिखकर सुल्तान की सेवा में भेज दिया करते थे। बज़ारत के चबूतरे पर या आलिमों की गोष्ठी में जो बात तय होती, उसको इस कार्य के लिये नियुक्त गुलाम बच्चे सुल्तान की सेवा में पहुँचाया करते थे।[2] वस्तुतः चबूतरे पर न्याय करने का सन्दर्भ सन्तों में भी मिलता है—'नेकी बदी होय कागज लीरा जाय चबूतरे डारेगा'—(दरि० वि० अनु०, पृ० ५६१ : १८)।

वस्तुतः न्याय का अधिकारी काज़ी कहलाता था परन्तु न्यायालय का प्रधान (काज़ी-ए-मज़लिम) वज़ीर या दीवान होता था, काज़ी उसे कानूनी, विशेषकर धार्मिक कानून का, परामर्श दिया करता था। मुगलों के समय में न्याय की व्यवस्था और नीति अधिक उदार हो चुकी थी। हुमायूँ ने तख्ते-अदल की व्यवस्था की थी जिसमें फ़रियादी ढोल पीटकर अपनी फ़रियाद कर सकता था।[3] अकबर के पूर्व तक न्याय-व्यवस्था इस्लामी क़ानून पर आधारित थी जिसके अनुसार जनता मुसलमान और कुफ्र गैर-मुसलमान दो

१—पलटू बा०; भाग २; पृ० ७; १८. २—डॉ० रिजवी; उ० त० का भा० १; पृ० १११. ३—श्रीराम त्यागी; इ० कोअ०; पृ० २०

वर्गों में बटी थी। अकबर ने इस्लामी कानून को सीमित कर न्याय का आधार अधिक विस्तृत किया। उसने सामान्य कानून को इस प्रकार विकसित किया जिसके अन्तर्गत अधिक से अधिक मामले आ जांय। हिन्दुओं के मुक़दमें फैसला करने के लिये अकबर ने हिन्दू न्यायाधीशों की नियुक्ति भी की।[1] जहाँगीर अपने न्याय के लिये प्रसिद्ध था। उसने अपने महल में चालीस गज लम्बी न्याय की जञ्जीर लगवा रखी थी जिसमें दस मन सोना लगा था और साठ घण्टिया थीं। सम्भवतः जहाँगीर ने इस जञ्जीर की कल्पना अमीर-खुसरों द्वारा निर्दिष्ट दिल्ली के राजा अनङ्गपाल की न्याय की जञ्जीर से ग्रहण की है।[2] धरमदास ने ऊपर ऐसी ही न्याय की जञ्जीर का उल्लेख किया है।

मुस्लिम काल में दीवान या वज़ीर बादशाह के प्रतिनिधि के रूप में न्याय का मुख्य अधिकारी भी माना गया है, यद्यपि वह मुख्यतः शासनाधिकारी तथा राजस्व अधिकारी था। इसी भावना के अनुसार सन्तों ने दीवान के सम्मुख फ़रियादी के रूप में प्रस्तुत होने की कल्पना की है—'बुरो दीवान दाद नहिं लागे इक बाँधे इक मारे हो राम'—(क० ग्र०, पृ० १६३; २२२)। परन्तु दीवान बादशाह का ही प्रतिनिधित्व करता है—'चल दरहाल दीवान बुलाया साहिब तोय लेखा लेसि'—(रविदास व उनका काव्य, पृ० २६:५६)। पलटूदास भी दीवान को इन्साफ़ करने वाला मानते हैं—'विवेक दीवान इन्साफ पर बैठि के, मुक्ति को कैद जञ्जीर डाला'—(प०भा० २, पृ० १२:२५)। यह स्थिति दीवान को लेकर ही नहीं थी, वरन् सार्वजनिक न्यायालयों में न्यायाधिकारी, सूबेदार, स्थानीय पदाधिकारी फौजदार और कोतवाल भी होते थे। जैसा कि स्पष्ट है ये सभी राज्याधिकारी हैं। इसका कारण एक तो यह है कि इस काल में न्याय की व्यवस्था स्वाधीन नहीं है, साथ ही न्याय का प्रमुख अधिकारी काज़ी मुख्यतः मुसलमानी धार्मिक कानून के अनुसार व्यवस्था देते थे और मुगल सम्राटों में सार्वजनिक न्याय को धर्म से अपेक्षाकृत मुक्त करने की दृष्टि से यह कार्य काज़ी के अधीन नहीं रखा था।[3]

१—बदाँयूनि; भा० २; पृ० ३७६ २—जहाँगीर-आत्मकथा; पृ० १५.
३—डा० श्रीवास्तव, मु० का०, भा० २; पृ० २३३.

न्याय का सामान्य अधिकारी काज़ी माना गया है। कबीर ने काज़ी को प्राय: धार्मिक शास्त्रज्ञ मानकर फटकारा है—'काज़ी से कवन कतेब बखानी'—(सं० क०, पृ० ९८; ८)। सम्भवत: इसका कारण यह है कि काज़ी मुस्लिम धार्मिक कानून (कुरान) के अनुसार ही न्याय करता था। अन्य सन्तों ने काज़ी को न्यायाधीश के रूप में देखा है। दरिया साहब कहते हैं—'बैठा काजी करे अदालत, अपने न आपु सभारा'—(दरि० बि० अ०, पृ० १५९; २३)। काज़ी अदालत में कागजों पर विचार कर न्याय करता है और वह चबूतरे पर बैठकर पक्ष-विपक्ष के कागजों को देखता है।[1] वस्तुत: सम्राट् के बाद दूसरी अदालत प्रधान काज़ी की होती थी जो कुरान के अनुसार राजधानी के मुकदमें करता था और उसकी अदालत में अपील भी सुनी जाती थी। प्रान्त की राजधानी में प्रान्तीय काज़ी होता था जिसकी नियुक्ति प्रधान काज़ी द्वारा होती थी।[2] इस प्रकार सामान्यत: सन्तों के काल में, विशेषकर मुग़ल काल में अदालतों के तीन रूप थे। १—राजनीतिक व्यवस्था और सत्ता सम्बन्धी सम्पूर्ण अधिकार सम्राट् के आधीन रहते थे। २—धार्मिक कानूनी अदालतें काज़ी के आधीन थीं। ३—सर्वसाधारण की कानूनी अदालतें अन्य राज्याधिकारियों के आधीन थीं। वस्तुत: यह समस्त व्यवस्था नागरिक है। गाँवों में पञ्चायतें उस काल में भी सजीव और शक्तिसम्पन्न चली आ रही थीं और जनता उनके माध्यम से ही न्याय ग्रहण करने की अभ्यस्त थी। सन्तों ने इन पञ्चों का सर्वत्र उल्लेख किया है।

दण्डविधान—इस काल में दण्ड-व्यवस्था के कई विभाग माने जा सकते हैं। पहले के अपराध राज्य-अपराध की कोटि में आते हैं जिनमें विद्रोह, सिक्कों में मिलावट, दंगे, चोरी, डकैती तथा शासनाधिकारियों की हत्याएँ आदि हैं।[3] इन अपराधों के मुकदमें सम्राट्, प्रान्तीय राज्यपाल, फ़ौजदार या कोतवाल द्वारा किये जाते थे, इनमें काज़ी का कोई हस्तक्षेप नहीं होता था। दूसरी कोटि में वे अपराध आते हैं जो धार्मिक कहे जा सकते हैं और जिनका दण्डविधान काज़ी के पूर्ण अधिकार में रहता था।[4] अकबर के पूर्व हिन्दूओं को धार्मिक मामलों में कोई स्वाधीनता नहीं थी, परन्तु अकबर ने इस विषय में उदार नीति का अनुसरण किया। अपराधों की

१—प० बा० भा०, १, पृ० ११०; २४७ : दरि० वि० अनु०, पृ० ५९; १८
२—एन० सरकार मु० एड०, पृ० ९६,९७. ३—सरकार, मु० श०, पृ० १०२.
४—डॉ० श्रीवास्तव, मु० का०, भा० २, पृ० २३५.

एक तीसरी कोटि भी स्वीकार की जा सकती है; उसका सम्बन्ध राजस्व या कर से है। राजस्व या लगान के बारे में इस सम्पूर्ण काल में बड़ी सख्ती रही है, क्योंकि राज्य का आर्थिक ढाँचा अधिकतर इस पर आधारित था। कर या लगान न देने पर लगान वसूल करने वाले अधिकारियों को पूरी सख्ती के साथ वसूली करने का अधिकार था। इस अपराध के लिये काफी कठोर दण्ड दिया जाता था।

अपराधी को हथकड़ी लगाकर थाने में ले जाने की प्रथा थी। रज्जब के अनुसार हाथ में पड़ी हुई हथकड़ियों के कारण किञ्चित् भी इधर से उधर नहीं हुआ जा सकता—(रज्ज०बा०, पृ० ३२; २५)। पैरों में बेड़ियाँ डालने का भी प्रचलन था। धरनीदास कहते हैं—'आपहिं आपने पाँव बेड़ी बँधाये'—(धरनी० बा०, पृ० ८; १४)। अपराधी को थाने में डाल दिया जाता था—'ताते जम दीयो हैं थाना'—(क० बी०, पृ० ३८; १८)। धरनीदास थाने की स्थिति, व्यवस्थाहेतु मानते हैं और सन्त की कल्पना सिपाही के रूप में करते हैं।[1] उन्होंने दुःखी जीवन को देखकर जम्बूद्वीप के मध्य में बयालीस थानों की स्थापना की चर्चा की है। वस्तुतः लौकिक सन्दर्भ में ये थाने शासन की व्यवस्था को सुनिश्चित रखने के लिये और अपराधियों को नियन्त्रित करने के लिये माने जा सकते हैं और इसी करण धरनीदास ने सन्त को सिपाही भी माना है।

दण्ड की व्यवस्था की कई पद्धतियाँ प्रचलित थीं और वे प्रायः कठोर थीं। मृत्यु दण्ड की सजा कभी-कभी साधारण अपराधों के लिये भी दी जाती थी। यह दण्ड शूली पर चढ़ाकर अथवा फाँसी लगाकर दिया जाता था—'सुन्दरि से सूली भली विरला बचे कोय'—(क० ग्र०, पृ० ४०, २०)। मृत्यु की सजा अनेक क्रूर उपायों से देने का प्रचलन था—जैसे हाथियों के पैरों तले फिकवा देना, दीवाल में चिनवा देना आदि। धरमदास कहते हैं—'सालि सेचि जम भूसा भरावे, ऐंची लेई जब आरा—(ध० बा०, पृ० २५; १६)। इसके अतिरिक्त अङ्गच्छेद, देश निर्वासन, बदला, जुर्माना तथा कारागार के

१—'जीवन दुखित देख संसारा, तेहि कारन पग धारा हो।
बस बयालिस थाना रोपू, जम्बूदीप मंझारा हो।'—ध०बा, पृ० ७०, २१.
'चाकर हो निज नाम को सुनो सन्त सिपाही'—ध० बा० पृ० ६; ३.

दण्ड भी प्रचलित थे।[१] कारागार के दण्ड की कठोरता को बढ़ाने के लिये अपराधी को जञ्जीरों से जकड़कर भी रक्खा जाता था। दूलनदास कहते हैं–"सत्त नाम के लागीं अखियाँ, मन परिगे जकर जञ्जीर को"—(दू० वा०, पृ० १७;३)। कैद के बारे में पलटू का कहना हैं–'पाँच पचीस को पकरि सठ कैद में डारा,—(पलटू, भा०, २, पृ० २,३)। दण्डविधान की कठोर व्यवस्था का कारण एक ओर तो निरंकुश शासन व्यवस्था को माना जा सकता है, दूसरी ओर पुलिस के दायित्व को भी स्वीकार किया जा सकता है। नूनाँज़ के अनुसार मुगलकाल में पुलिस निरीक्षक पर राजधानी की चोरियों का दायित्व था और इसी प्रकार शेरशाह के समय में प्रत्येक क्षेत्र की डकैती तथा लूटमार का दायित्व यहाँ के मुकद्दमों पर था। यदि पुलिस किसी हत्या का पता नहीं लगा सकती थीं, तो उत्तरदायी अधिकारियों को प्राणदण्ड तक दिया जा सकता था।[२]

शासन-व्यवस्था—मध्य युग की निरंकुश राज्यसत्ता का प्रधान आधार-रूप सम्राट् या बादशाह था ही, परन्तु वह शासन-व्यवस्था की दृष्टि से अपनी शक्ति को मन्त्रियों, सचिवों, वज़ीरों तथा दीवानों में विकेन्द्रित करता रहा है। प्राचीन (मध्य युग तक) हिन्दू सम्राट् मन्त्रि-परिषदों के माध्यम से अपनी राज्य-व्यवस्था सञ्चालित करता था। इनकी सम्मिलित शक्ति राज्य को निरंकुश होने से भी एक सीमा तक बचाती थी। सन्तों के काल में मुसलमान बादशाहों की इस प्रकार की मन्त्रि-परिषदें तो नहीं थी, परन्तु राजकीय-व्यवस्था की दृष्टि से वे अपने द्वारा नियुक्त कर्मचारियों से सहायता लेते थे।

दीवान—इस काल में प्रधान मन्त्री के रूप में प्रायः दीवान का उल्लेख आया हैं। यह अवश्य है कि इन राजाओं के अन्तर्गत दीवान तथा वज़ीर आदि के पद और अधिकार भिन्न रहे हैं, परन्तु दीवान का पद, राज्य में सामान्यतः बादशाह के बाद सर्वोपरि रहा है। सुन्दरदास कहते हैं।—'पाजी पेट के लिये हम कोतवाल के अधीन हैं। कोतवाल सिकदर के आगे दीन है, सिकदर

१—डा० ओझा, म० का० उ० स० पृ० १२२ २—डा० ईश्वरी प्र० म० यु० का० भा०, पृ० ४३९: डा० श्री० रा० त्यागी, भा० इ० की रूपरेखा, पृ० २९.

दीवान के पीछे घूमता है और दीवान बादशाह के सम्मुख विनत है।"[1] इस क्रम में बादशाह के बाद दीवान की स्थिति ही मानी जा सकती है।

कबीरदास ने दीवान को ही बादशाह के नीचे अन्तिम फ़रियाद सुनने वाला स्वीकार किया है—(क० ग्र०, पृ० १६३, १२२)। रैदास भी साहब अर्थात् बादशाह के प्रतिनिधि के रूप में दीवान का कथन करते हैं, क्योंकि बादशाह (सन्तों के आध्यात्मिक प्रसङ्ग में ब्रह्म) और प्रजा के बीच का वही माध्यम है।[2] दरिया साहब (बि०) भी स्वीकार करते हैं कि बादशाह अपने प्रतिनिधि के रूप में दीवान को नियुक्त करता है, उसके माध्यम से अपनी शासन-व्यवस्था चलाता है—(दरि० अनु०, पृ० १३, ३६)। यदुनाथ सरकार ने दीवान के कार्य के सम्बध में लिखा है—"दीवान सूबेदार के समकक्ष था। उसकी गणना एक सिविल अधिकारी के रूप में थी। दीवान ही राज्य का सबसे बड़ा अधिकारी था। मुगल शासकों के पास कोई स्थायी मन्त्रि-परिषद् नहीं थीं, किन्तु दूसरे अधिकारी किसी भी अर्थ में उसके सहयोगी न थे। वे निश्चित रूप से उससे निम्न श्रेणी के थे और मन्त्री कहलाने की अपेक्षा सचिव कहलाते थे, क्योंकि राजाज्ञा प्रायः दीवान के द्वारा ही उन लोगों के पास पहुँचती थी। व्यावहारिक रूप में दीवान-ए-खास-ए-बख्शी, प्रधान काज़ी, खानसामा तथा प्रधान सेनापति भी वज़ीर के साथ बैठते थे परन्तु महत्वपूर्ण प्रश्नों के लिये दीवान ही होता था।"[3] इस दृष्टि से सन्तों की दीवान सम्बन्धी कल्पना यथार्थ पर आधारित है। सन्तों ने प्रायः अपने रूपकों में मन-रूपी राजा के लिये विवेक या बुद्धि को दीवान बताया है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि इस काल में दीवान महत्वपूर्ण शासनाधिकारी था जिसके विवेक पर शासन की व्यवस्था बहुत कुछ निर्भर रहती थी।[4]

दीवान के इस महत्व को सन्तों ने अनेक प्रकार से व्यक्त किया है। दीवान राज्य की सुख-सुविधा और शान्ति का उत्तरदायी भी है। वह राज्य की रक्षा की चिन्ता भी करता है। पलटूदास के अनुसार—"यदि भक्ति दीवान है तो, आचरण की मर्यादा पैदल सिपाहियों के रूप में तथा बैराग्य की भावना घुड़सवार सैनिकों के रूप में घेरा डाल देंगे और तब सन्तोष की तोप छोड़कर

१—सु० वि०; पृ० ४३; ५ २—'रवि इ०का० युग; पृ० २९; ५९. ३—एन० सरकार मु० श०प्र०, पृ० ६, १३. ४—'मन राजा सुबुद्धि दीवान, जत हाकिम, धर्म कर्म सन्तोष सिपाही'—चरन, बा०.

मोह का दल विध्वस्त कर दिया जायगा।"[1] यहाँ इस सन्दर्भ से यह स्पष्ट हो जाता है कि दीवान राज्य की सैनिक नीति का भी प्रधान हो सकता था। राज्य का सञ्चालन, खाद्य का प्रबन्ध और सेना के खर्च आदि की देख-रेख उस पर रहती थी। सिकन्दर लोदी के समय सुल्तान का दीवान सब की जीविका के साधन का प्रबन्ध करता है, सभी को इनाम प्रदान करता है और इसी के द्वारा सारे खर्चों तथा सेना की तनख्वाह का भुगतान होता है।[2] जैसा पिछले अनुच्छेदों में कहा गया है, दीवान न्याय का भी प्रधान अधिकारी स्वीकार किया गया है।

वस्तुतः दीवान वित्त विभाग तथा राजस्व का प्रधान अधिकारी है। इस दृष्टि से यह राज्य के आय-व्यय की सम्पूर्ण व्यवस्था करता था, परन्तु अनेक मुस्लिम शासकों के अन्तर्गत इसके अधिकार की सीमाएँ स्पष्ट नहीं थी। सम्भवतः सर्वप्रथम अकबर ने ही शासन-व्यवस्था की सामान्य सीमा से दीवानी अर्थात् माल की व्यवस्था को अलग किया था। उसके समय राजा टोडरमल ने दीवानी की व्यवस्था का समुचित सुधार किया था, परन्तु बाद में दीवानी का कार्य राय रामदास को सौंपा गया और शासन-व्यवस्था का दायित्व राजा टोडरमल के पास ही रहा।[3] सूबों के दीवान मुख्य प्रधान दीवान के ही अन्तर्गत माने जाते थे।

सूबेदार—शासन-व्यवस्था की दृष्टि से इस काल में प्रायः सारा राज्य सूबों में विभाजित था। इन सूबों का सूबेदार, बादशाह का शासन-व्यवस्था तथा सैनिक दृष्टि से पूर्ण प्रतिनिधित्व करता था। यही कारण है कि सूबेदार अपने क्षेत्रों में बादशाह के समान ही शक्तिशाली होते थे और मुस्लिम बादशाह अपने विश्वास-पात्र सेनापतियों को ही प्रायः यह अधिकार प्रदान करते थे। कभी-कभी अपने विश्वास-पात्र राजाओं अथवा अन्य अधिकारियों (वजीर आदि) को भी इस पद पर नियुक्त किया जाता था। मुग़लकाल में महत्वपूर्ण सूबों की सूबेदारी का दायित्व राजकुमारों को दिया जाता था। अपनी शक्ति और स्वतन्त्र सीमाओं के कारण ये सूबेदार जनता की दृष्टि में बादशाह के सामन ही सत्ता के प्रतीक और वैभव-विलास के भोक्ता थे।

दूलनदास अपने समय के सूबेदार के जीवन के आधार पर अपना रूपक प्रस्तुत करते हैं—"सूबेदार जरबफ़्त के तम्बू के नीचे मसनद पर बैठा। पङ्खा,

---

१—प० बा०, भा० २, पृ० १२; ३२ २—डा० रि० तु० का०भा०, भा० १, पृ० १०६. ३—अकबरनामा, पृ० २१, ५६.

चँवर और मुरछल झला जा रहा है। दरबार में वाद्य-यन्त्र बजते हैं और सुन्दर नर्तकी नाचती है। उसके सम्मुख चाँदनी के प्रकाश के समान रोशनी फैली हुई है। एक सेविका चोवा, चमेली और बेला के इत्र लिये खड़ी है और दूसरी प्याले में सुस्वादु कन्द का शर्बत प्रस्तुत करती हैं।" इस प्रकार इस सूबेदार की ताबेदारी में हिन्दू-मुसलमान सभी प्रस्तुत है।"[१] यहाँ सूबेदार का ऐश्वर्य-विलास राजा के ही स्तर का वर्णन किया गया है, इससे उसके शासनाधिकार का सङ्केत मिलता है।

मनसबदार तथा जागीरदार—इसके अतिरिक्त सन्तकाव्य के आधार पर राज्य की व्यवस्था की दो पद्धतियों का और सङ्केत मिलता है। सैनिक दृष्टि से मनसबदारी व्यवस्था और राजस्व वसूल करने की दृष्टि से जागीरदारी व्यवस्था प्रचलित थी। मनसबदारों को उनकी सैनिक शक्ति के अनुअसार जागीरें दी जाती थीं और इसी प्रकार कुछ बादशाहों के अन्तर्गत लगान वसूल करने के लिये जागीरदारों को ठेके दिये जाते थे। कभी-कभी मनसबदार या जागीरदार मनमाने ढङ्ग से काम करने लगते थे और बादशाह को उचित राजस्व का अंश अथवा सहायता प्रदान नहीं करते थे और ऐसी स्थिति में उनको नियन्त्रित करने के लिये सैनिक शक्ति भेजी जाती थी। ये अनेक बार निरंकुश होकर जनता की लूट-मार भी करते थे और सारा धन स्वयं ही हड़प जाते थे। ऐसी स्थिति में फ़ौजदार अपनी सैनिक शक्ति से उनको वश में करके तहसील करता था और शाही खजाने में जमा करता था।[२] सन्तों का शासन-व्यवस्था से न तो किसी प्रकार का सम्बन्ध था और न वे उसके प्रति उपेक्षाशील ही थे। ऐसी स्थिति में उनके काव्य में आये सन्दर्भों के माध्यम से इसकी कोई समुचित रूपरेखा नहीं बनायी जा सकती। इसके अतिरिक्त कई एक राज्य के अधिकारियों पर शासन, न्याय और राजस्व के मिले-जुले दायित्व रहते थे। फ़ौजदार एक सीमा तक फ़ौजी अधिकारी होकर भी शासन-व्यवस्था का दायित्व वहन करता था—'पाँच पचीस नगर के बासी मनुआ है फ़ौजदार। मारि लूट के डाँड लेत है का तुम करत गवाँर'।[3] यहाँ फ़ौजदार यद्यपि आतङ्कपूर्वक वसूली और डाँड लेता है, परन्तु यह सङ्केत अवश्य मिलता है कि इस व्यवस्था का दायित्व उसका रहा है। सम्भवतः फ़ौजदार अधिक अव्यवस्थित तथा उद्दण्ड क्षेत्रों को नियन्त्रित रखने तथा उनसे कर आदि वसूल करने के लिये नियुक्त किया जाता हो।

१—**दूलन बा०**; पृ० २२; १. २—**वही**; पृ० २६; ६. ३—**गु० बा० भु०**; पृ० ४४; ११९.

पुलिस अधिकारी—नागरिक जीवन की शान्ति और सुरक्षा के अधिकारी के रूप में कोतवाल का उल्लेख सन्तसाहित्य में विशेष रूप से हुआ है। सन्तों के साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि नगरों की व्यवस्था का, विशेषकर सुख-शान्ति का दायित्व कोतवाल पर रहता था—'बावन कोटि जाके कोतवाल, नगरी-नगरी क्षेत्रपाल'—(क० ग्र०, पृ० २०३; ३४०)। कबीर इस प्रकार प्रत्येक नगर के क्षेत्रपाल के रूप में कोतवाल का उल्लेख करते हैं। इस अधिकारी पर नगर की नागरिक व्यवस्था का दायित्व था, इसी कारण यदि वह स्वयं अन्याय तथा दुराचार का पक्षपाती हो जाय तो नगर की जनता की किसी प्रकार रक्षा नहीं हो सकती। कबीर कहते हैं—"फैले हुए माँस की रक्षा गृद्ध नहीं कर सकता, इसी प्रकार अन्यायी कोतवाल नगर की रक्षा किस प्रकार कर सकता है ?"—(क० ग्र०, पृ० २६०: ८५) सन्त उपगारी भी इसी बात की पुष्टि करते हैं—"जिस प्रकार नगर की रक्षा का अधिकारी कोतवाल चोरों के साथ मिलकर नागरिकों की धन सम्पत्ति का और भी अधिक अपहरण करता है।"[१] परमदास भी कहते हैं—"जब कोतवाल ही लुटेरा हो जाय तो भली भाँति ही लूट होगी।"—(ध० बा०, पृ० ३७:४)। इन सन्दर्भों से नगर के अधिकारी के रूप में कोतवाल के दायित्व पर प्रकाश पड़ता है।

गढ़ों में भी नगर के समान व्यवस्था के लिये कोतवाल रहता था और सम्भवतः उसको हासिल की वसूली में भी सहायता करनी होती थी—"कायागढ़ बैठ कोतवाली, हासिल ले सब काम चुकाही"—(गु० बा०भु०,पृ० १५१; १४२)। कोतवाल के आतङ्कों का सङ्केत भी सन्तों की वाणी में मिलता है। वस्तुतः कोतवाल के अधिकार शासन-व्यवस्था को बनाये रखने की दृष्टि से अनियन्त्रित थे, वह कठोर से कठोर सजाएँ देता था और इसी कारण जनता में उसका बहुत आतङ्क था। गरीबदास कोतवाल के द्वारा काठ मारने का सजा देने की चर्चा करते हैं—'कोतवाल घट माहिं मारता काठ रे"—(ग० बा०, पृ० १४३; १३)। मुगलकाल के अन्तिम समय में उच्छृंखल राज्य-व्यवस्था के अन्तर्गत कोतवाल का आतङ्क और अन्धेर बढ़ गया था। तुलसी साहब के अनुसार कोतवाल 'कलपूत' के समान प्रजा के लिये आतङ्ककारी हो गया था।[२]

१—उपगारी सा० स० सूत्रि०, पृ० ५९; ६४ : सं० न०, पृ० १२६२; १८६८. २—तु० सा० वा०, भा० १, पृ० ३:६.

इतिहास के अन्य साक्ष्यों के अनुसार कोतवाल एक महत्वपूर्ण अधिकारी ़हा है। 'आइने अकबरी' में कोतवाल का वर्णन इस प्रकार है—"सूबों की राजधानी की आन्तरिक सुरक्षा, शान्ति और सुव्यवस्था के अतिरिक्त स्वास्थ्य प्रौर सफाई का प्रबन्ध कोतवाल करता था। इसका अपना कार्यालय ा तथा इसके आधीन कर्मचारी भी होते थे। यह सूबों के सभी थानों का ार्वोच्च प्रबन्धक था।"[1] इससे जान पड़ता है कि कभी-कभी कोतवाल नगर ही सुरक्षा के अतिरिक्त अन्य व्यवस्थाओं का दायित्व नगर अधिकारी के रूप नें ग्रहण करता था और वह सम्पूर्ण पुलिस व्यवस्था का सर्वोच्च अधिकारी भी माना जाता था; यह बात वस्तुतः राजधानी के कोतवाल के लिये स्वीकार की जा सकती है। पुलिस के प्रधान के रूप में अपराधों की छानबीन का दायित्व भी कोतवाल पर माना गया है। वह अपराधियों की देखरेख अपने रक्षकों और प्यादों की सहायता से करता था। सरकार के अनुसार कोतवाल नगर पुलिस के प्रधान के रूप में ऐसा अधिकारी होता था जो अपने वाह्य जगत् के कार्यों में नियमों का पालन करता है, हृदय में ईश्वर से डरता है। उसे न्याय दरवार और सूवेदार दरवार में शामिल होना चाहिये। कार्य-भार ग्रहण करने पर उसे व्यक्तिगत जाँच द्वारा अपने को सन्तुष्ट करना चाहिये।....जेल के लोगों की संख्या, उनके विरुद्ध दोषों की तथा उनके उत्तर की ठीक खोज उसे लगाना चाहिये। जिन्हें वह निर्दोष समझता है, उनके लिये अफ़सर से कहने की उसे शक्ति होनी चाहिये।....रक्षकों से व्यौरेवार उसे रिपोर्ट लेनी चाहिये। क्रय-विक्रय के स्थलों तथा विवाह आदि स्थलों की ज़गह जहाँ दर्शकों की भीड़ हो, जेब काटने वालों, एवं वस्तुओं को छीनने वालों को पकड़वाने तथा सजा देने का दायित्व कोतवाल का था।[2]

जैसा ऊपर निर्दिष्ट किया गया है, कोतवाल के अन्तर्गत शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था के लिये अनेक थाने थे। इन थानों में अपराधियों को दण्ड देने के लिये पकड़कर लाया जाता था—'सवद न मान कथई ज्ञाना, ताते जम दीओ है थाना'—(क० बी०, पृ० ३८; १८) वस्तुतः इन थानों की स्थापना जनता की लूट-मार आदि से रक्षा करने के लिये आवश्यक थी, इसी दृष्टि से धरनीदास ने 'जम्बूदीप के बीच में प्राणियों के दुःख को दूर करने के लिये बयालिस थानों की स्थापना का उल्लेख किया है—(धरनी वा०, पृ० ६; ३)।

१—डा० श्रीवास्तव मु० का०, भा०, भा० २, पृ० २५६. २—एन० सरकार मु० शा० प०, पृ० ४९.

इस विभाग के अन्य अधिकारियों में सिपाही आदि आते हैं, जिनका सन्त-साहित्य में यत्र-तत्र प्रयोग हुआ है। इसी विभाग के अन्तर्गत चौकीदार को भी रखा जा सकता है। वह किसी विशिष्ट स्थान की, विशेषकर रात में, रक्षा करता है। पलटूदास अपने साहब को भी चौकीदार के रूप में देखते हैं—"नाम खजाना भरा, जिकिर का नेज़ा चलता। साहिब चौकीदार देख इवलीसहुँ डरता" ।।—(पलटू, भा०, १, पृ० ३; ८) ।

राजस्व और कर—सन्त, लौकिक जीवन के प्रति निरपेक्ष मस्तमौला रहे हैं। उनका विशेष रूप से न तो वाणिज्य-व्यापार से कोई सम्बन्ध था और न खेती किसानी से। फिर भी उनका लौकिक जीवन से गहरा सम्बन्ध रहा है, जिसके परिणाम-स्वरूप उनके काव्य में रूपकों के रूप में कर तथा लगान वसूली के अनेक सन्दर्भ निहित हैं। सन्तों ने सम्पूर्ण राजस्व को दो प्रमुख रूपों में उल्लिखित किया है। पहला कर है जिसे वे दण्ड के रूप में भी समझते हैं। करों में भी पहला वाणिज्य व्यवसाय का कर है जो अनेक वस्तुओं के आयात-निर्यात पर लगाया जाता था। अनेक बार यह व्यवसाय का कर इतना अधिक लगा दिया जाता था कि व्यवसायी के हाथ कुछ लाभ नहीं आता था—"तीन जगाती करत रारि। चलो बनजारा हाथ झारि, ।"[1] इस व्यवसाय में बनजारे को अपनी पूंजी से भी हाथ धोना पड़ता था। इस प्रकार के वाणिज्य-कर की परम्परा प्राचीनकाल से चली आ रही है और मुस्लिम काल में भी इन्हीं रूपों चलती रही। 'हुमायूँनामा' में एक स्थल पर गुलबदन ने लिखा है कि "राणासांगा के युद्ध के जीत के बाद जो अन्न पर चुङ्गी थी, क्षमा की गई। व्यापारी बिना रुकावट के अन्न एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त ले जा सकते थे।"[2] जहाँनारा ने भी अपनी आत्मकथा में लिखा है कि "सुरत बन्दरगाह से जितने कर की आमदनी होती थी, उसकी अधिकारिणी वह स्वयं होती थी।"[3] सम्भवतः करों में आय कर को सम्मिलित किया जा सकता है क्योंकि नगर वालों से जो कर प्राप्त किये जाते थे, उसमें आय कर भी सम्मिलित माना जा सकता था। फीरोजशाह ने अपने समय में नये सिरे से कर लगाना निश्चित किया था और उसके लिये ख्वाजा गुलामुद्दीन जुनेद को नियुक्त किया गया था। छः वर्षों में

१—सन्त क०, पृ० २३६; ६. २—हुमायूँनामा; पृ० २८. ३—जहाँआरा; पृ० ८५.

ख्वाजा ने एक-एक कस्बे में घूमकर अपने लेखों के आधार पर कर निश्चित किया था।[1] इसी के समय में अनाज, नमक, चीनी, मिश्री तथा अन्य खाद्य सामग्री पर कर लगाये जाने का उल्लेख भी मिलता है। वस्तुतः इस प्रकार के करों को लोक जीवन दण्ड के रूप में समझा जाता था। सन्तों ने इस भावना को व्यक्त किया है—'तीनों लोकों में मन का राज्य है, जिसके अमल में दण्ड लगता है। पाँच मोहासिल घर-घर में जाकर मार-पीटकर रोज कर माँगते हैं। चाहे चोरी करके दो या भीख माँगकर, दण्ड तो देना ही है। पलटूदास कहते हैं कि ऐसे अन्धेरे राज्य को त्यागना ही उचित है।[2] दण्ड के रूप में जो कर दिये जाते थे उनमें हिन्दुओं से लिया जाने वाला जज़िया कर भी माना जा सकता है, यद्यपि सन्तों ने इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में इसकी ध्वनि को ग्रहण किया जा सकता है।[3]

राजस्व का बहुत बड़ा अंश लगान के रूप में भूमि कर था। लौकिक जीवन से घनिष्ट रूप से सम्बन्ध होने के कारण सन्तों ने भूमि कर अथवा लगान का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार के अनेक रूपकों में लगान वसूल करने का साङ्गोपाङ्ग चित्रण आ गया है और उससे सम्बद्ध अधिकारियों का अङ्कन भी किया गया है। कबीरदास गाँव के ठाकुर के द्वारा किसानों को दिये हुए खेतों का उल्लेख करते हैं और 'जेवरी के माध्यम से पैमाइश करके लगान वसूल करने वाले पटवारियों का भी। 'कुटिल मोहासिल इस प्रकार लगान वसूल करने में कठोर हैं और साथ ही दीवान के यहाँ सुनवाई भी नही है। लेखा माँगने पर भारी रकम निकलती है और तब किसानों के लिये गाँव छोड़कर भाग जाने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं रह जाता।[4] इसी प्रकार चरणदास भी लगान वसूली का रूपक बाँधते हैं—'लगान वसूल करने का अधिकारी कानूनगो बड़ा छलवल करने वाला झूठा और खोटा है। मुकद्दम (मुखिया) तथा किसान सबको बाँधकर आमिल (हाकिम) गाँव से बाहर निकाल देता है। परन्तु विवेकी दीवान का शीलवान बख्शी (अपेक्षाकृत लगान तथा कर का बड़ा अधिकारी) अधिक सात्विक है वह अपने सिपाही (सन्तोष)

१—डा० रि० तु० का०, भा० २, पृ० ६३. २—प० भा० २, पृ० १७९.
३—'जम के चढ़ि चपरासी आए, हुक्मी जुल्मी करार।
तन पर तलब तकादा लाये हो घोड़े असवार।
कर हिसाब कौड़ी कौड़ी का लेत कठिन दरबार।—तु० घ० राम, पृ० १२२; २. ४—क० ग्र०, पृ० १६३; १२२.

करिन्दा (साँच) तथा पटवारी (धीरज) के माध्यम से क्षमा या दया के आधार पर लगान की समस्त रकम वसूल कर देता है। वह भली प्रकार पैमाइश करवा लेता है और लगान की रकम अथवा पूरी बटाई प्राप्त कर लेता हैं। इस प्रकार इस व्यवस्था करने वाले नायक को बादशाह का परवाना प्राप्त होता है।[1]

इन कतिपय सन्दर्भों से लगान वसूली के कई सूत्रों का सङ्घटन किया जा सकता है। पलटूदास इस सम्बन्ध में इस प्रकार रूपक प्रस्तुत करते हैं— 'शरीर रूपी मुल्क में मन नबाब (सूबेदार) है, लोभ मोह उसके दीवान हैं। ....काम क्रोध सिपाही हैं, जिनके माध्यम से तहसील (लगान) की वसूली होकर कुमति के खजाने में एकत्र होने लगती है।'[2] यहाँ गाँव में किसान मुख्यतः खेती करने वाला है, चौधरी गाँव का मुखिया है तथा कभी-कभी परगना या गढ़ मुवासियों के हाथ में माना गया है जो लगान के देनदार हैं। मुक़द्दम भी गाँव का मुखिया है जो गाँव की ओर से लगान की अदायगी का उत्तरदायी है। लगान वसूल करने वाले गाँव से सम्बद्ध अधिकरियों में पटवारी, आमिल और कानूनगो माने गये हैं जो किसी न किसी प्रकार कठोरतापूर्वक लगान वसूल करते हैं। बख्शी भी लगान और कर से सम्बद्ध अधिकारी हैं। वस्तुतः वसूली में सहायता करने वाले कर्मचारियों में सिपाही और करिन्दा भी हैं। नायक (तहसीलदार) अपेक्षाकृत उच्चाधिकारी है जो लगान वसूली का दायित्व वहन करता है, सम्भवतः इसीलिये वसूली हो जाने पर इसका श्रेय उसी को प्राप्त होता है।

लगान वसूली का बन्दोबस्त प्रायः निश्चित नहीं जान पड़ता (कभी-कभी तो इस काल में ऐसा अवश्य किया गया है)। लगान निर्धारित करने के लिये पटवारी, आमिल और कारिन्दा खेत की पैमाइश करते थे जो 'जेवरी' (जरीब) अथवा डोरी से की जाती थी। पैदावार की नाप की जाकर लगान निर्धारित किया जाता था। (मगन होय चौकस कम करि के सुमति जेवरी माँप)। लगान की वसूली में अत्यधिक सख्ती प्रायः की जाती थी, सन्तों ने जिसको बराबर राज्य के अन्धेर अथवा राज्य द्वारा लूट के रूप में उल्लिखित किया है। यदुनाथ सरकार के अधार पर यह कहा जा सकता है कि इस काल में लगान वसूली की कठोरता का कारण अनेक बार किसानों के साथ अन्याय

१—चरण० बा०, भा० २, पृ० ३;५. २—प० भा० २, पृ० ३०;८०

होता था और उनकी आवश्यकताओं की उपेक्षा कर लगान वसूल किया जाता था। लगान वसूल करने वाले छोटे-छोटे कर्मचारी, किसानों को लुटेरों की भाँति नोचते-खसोटते थे।[1] कबीरदास ने गाँव में किसान को पटवारी की नीति से डसा हुआ कहा है। उन्होंने डाण्डी (दण्ड देने वाले) और मुन्सिफ (फैसला देने वाले) को भी साधारण किसान के हितों के खिलाफ माना है। ये लोग ठीक ढङ्ग से डोरी की माप कर के लगान निर्धारित नहीं करते थे। साथ ही बहुत-सी बेगार (विष्ठाला) लेते हैं, और अदा होने पर भी बाकी लिखा देते हैं।[2] कबीर के अनुसार पटवारी, कारकून (लगान का कागज रखने वाले) के सामने किसान का बैल प्रस्तुत कर देता है और वह भैंस को लेकर न्याय कर के उसे मुक्त करने का स्वाङ्ग भरता है।[3] किसान बैल को अपनी किसानी के कारण नहीं छोड़ सकता था, अतः उसकी भैंस ही ले ली गयी। इस समस्त काल में पटवारी को कपटी, अहङ्कारी, झूठा समझने की परम्परा पाई जाती है और कर्मचारी के रूप में समाज में उसकी स्थिति पर पूरा प्रकाश पड़ता है। सूरदास भी कहते हैं-'अहंकार पटवारी कपटी झूठी लिखत बही'—(सू० सा० १; १८५)।

लगान वसूल करने वाले अधिकारियों में सिकदार का भी, सन्तों के साक्ष्य के आधार पर महत्वपूर्ण स्थान माना जा सकता है। कहते हैं कि प्रथम बार मोहम्मद तुग़लक ने दक्षिण के सूबों को दो शिकों में विभक्त किया था और शिक का अध्यक्ष शिकदार कहलाता था। वह सैनिक पदाधिकारी होता था, उसका काम अपने अधिकार क्षेत्र में कानून और व्यवस्था कायम रखना था। कुछ समय बाद शिक शासन की छोटी इकाई का प्रादुर्भाव हुआ जिसे परगना कहने लगे और वह कई गाँवों से मिलकर बनता था। इस प्रकार प्रत्येक सरकार (जिला) बहुत से परगनों या माहलों में बँटा होता था। सिकदार परगने का वह प्रमुख अधिकारी होता था जो खज़ाने में जमा करने के लिये लायी गयी मालगुजारी के रुपयों को सँभालता तथा खजाने के कार्य की पूरी निगरानी करता था।[4] सिकन्दर, हुमायूँ आदि के काल में भी सिकदार के उल्लेख मिलते हैं।[5] इस अधिकारी का उल्लेख नानक, अर्जुनदेव, रामचरण

१—एन० सरकार मु० शा० २—क०ग्र०, पृ० २७३; ३०. ३—क० बी०, पृ० १२२; ९ ३—'कागदकार कारकुड आगे बैल करे पटवारी। कहहि कबीर सुनहु हो सन्तों भैंसे न्याब निनेरा'। ४—दि० सुल्तान पृ० ३२०; मु० का० भा०, भा०, १ पृ० २५९. ५—डा० रि० तु० का० भा०, भा० १, पृ० १२५ हुमायूँनामा पृ० ३८.

आदि सन्तों ने किया है।[1] सूरदास ने भी इस शब्द का प्रयोग ब्रज परगना के सिकदार के रूप में किया है—'ब्रज परगना सिकदार महर, तू ताकी करत नन्हाई'—(सू० सा० १०-३२९)।

दफ़्तर—सन्तों ने दफ़्तर शब्द का बड़ा व्यापक प्रयोग किया है। इस शब्द से वे न्यायालय का अर्थ व्यञ्जित करते हैं। कबीर कहते हैं—'जब दफ़्तर देखेगा दई तब ह्वैगा कोण हवाल'—(क० ग्र०, पृ० ४२; २२) और 'धरमदास का दफ़्तर सोधा'—(वही, पृ० २७३; ३०)। इन दोनों सन्दर्भ में दफ़्तर न्यायालय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः सामान्य अर्थ में दफ़्तर अनेक प्रकार के राजकीय विवरण तथा हिसाब-किताब रखने के कार्यालय के रूप में प्रयुक्त हुआ है, जो उसका वास्तविक अर्थ है। क्योंकि न्यायालयों में भी अपराध सम्बन्धी अपराधियों के कागज़ों का लेखा-जोखा रखा जाता है, अतः वहाँ भी एक दफ़्तर चलता ही है। प्रायः सन्तों ने लेखकों (लिपिकों) के द्वारा हिसाब-किताब के कागज़ात तैयार करने के कार्यालय को दफ़्तर के रूप में प्रयुक्त किया है। रज्जब के अनुसार—'काया कागद कुमिनी दफ़्तर दुनी दिवान'—(र० बा०, पृ० ४२; २२), बुल्ला के अनुसार—'नाथ मेरी हाजिरी लीजे। ताते दफ़्तर दाखिल कीजे'—(बु० बा०, पृ० २९; १३) और इसी प्रकार अर्जुनदेव ने भी लिखा है कि लेखा जहाँ नहीं लिया जाता उस दफ़्तर की चाकरी करना चाहिये—(गु० ग्र०, पृ० २३८; ६)।

वस्तुतः मुस्लिम काल में दफ़्तर, सन्तों द्वारा प्रयुक्त इसी दूसरे अर्थ में लिया जाता था। "दीवानखाने के सामने एक तीस गज़ लम्बा और बीस गज़ चौड़ा कक्ष रहता था जिसमें दफ़्तरख़ाना होता था और जहाँ राज्य सम्बन्धी कागज़ात रखे जाते थे और लेखक बैठते थे।"[2] 'आइने अकबरी' के साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि इन दफ़्तरों में राज्य के आय-व्यय तथा राजस्व का लेखा-जोखा तैयार किया जाता था।[3] राजा टोडरमल इन दफ़्तरों के सञ्चालन में विशेष योग्यता रखते थे। 'अकबरनामा' के अनुसार १५७३ ई० में जब

१—गु० ग्र०, पृ० ९०२; ४—'जिसु सिकदारी सीसहु खुमारी चाकर केहे डरण। जा सिकदारे पदे जञ्जीरा वा चाकर हथ्हहु मरण'—गु० ग्र०, पृ० ८६४; १ रा० च० पृ० ३५; ३८. २—डा० ई० प्र० म० यु० का इ० पृ० ४२१. ३—आइने अक०, भा० १, पृ० २.

सूरत पर अधिकार हो गया तो उस समय जमाबन्दी का खाता राजा टोडरमल ने वहाँ के दफ़्तरों में जाकर बनवाया।[1] इस काल में दफ्तरों का अध्यक्ष योग्य तथा अनुभवी व्यक्ति रखा जाता था। वस्तुतः इनका प्रमुख अध्यक्ष राज्य का आय-व्यय का प्रधानाधिकारी के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।[2]

धरनीदास की वाणी में दफ़्तर का चित्रण उनके व्यक्तिगत सम्बन्ध के कारण विशेष रूप से पाया जाता है। उन्होंने अपने रूपक में दफ़्तर से सम्बन्धित अनेक उपकरणों का आयोजन किया है—"दफ्तर में कागज़, लेखा आदि तैयार करने के लिये, कैंची काट-छाट के लिये, वरक़ फाइल के पन्ने, मसिहानी अर्थात् दवात, स्याही, सोफ़ अर्थात् स्याही में डालने का छोटा सा कपड़े का टुकड़ा, क़लम, खत ठीक करने की छुरी, तबलक अर्थात् कागज़ों का मुट्ठा, सज़ा देने का कोड़ा, खज़ाने की कोठरी आदि इस कचहरी के दफ़्तर में विद्यमान हैं।"[3] इन उपकरणों—दफ्तर में हिसाब के चिट्ठों, जमा-बन्दी के तेरिज़ों, मीज़ान (जोड़) लगाने के बेरिज़ों (कागज़), दैनिक हिसाब रखने के लिये रोज़नामचों, हिसाब के चिट्ठों (अवरिजों), तैयार की फरदों, आर्थिक गबनों (गमाजी) आदि का उल्लेख धरनीदास ने किया है। इस प्रकार जमाखर्च का पूरा हिसाब इनमें रखा जाता है। इनमें लेखक रहते हैं, जो प्रायः कायस्थ कहे जाते हैं। हिसाब की जाँच करने वाले अन्य अमाली (अधिकारी) भी रहते हैं। धन या खज़ाने का लेन देन करने वाला खज़ाञ्ची होता है और उन सबके ऊपर एक हाकिम (उच्चाधिकारी) रहता है।[4]

सन्तों ने दफ़्तर के लेखकों का उल्लेख कागदगार—(री० उ० का० २१; ४२—जैसे कागददार करत विचार) लेखारि (गु० ग्र०, पृ० ६०६; ४, ६१), लिखिया (गु० ग्र०, पृ० ६२४; ६; १) और काइथ या कायथ (क० ग्र०, पृ० ४२; २२ और ध०, पृ० ३;५) आदि रूपों में किया है। इस लेखक के बारे में परमानन्ददासजी कहते हैं–"सांचो तो लिखहार कहावे। काया ग्राम मसाहत करिके जमा आदि ठहरावें।"—(प०सा० १, १४२)। परन्तु यहाँ 'लिखंहार' का अर्थ गाँव की जमा-बन्दी बनाने वाले पटवारी का है। वस्तुतः इस काल में लेखक शब्द व्यापक अर्थ में सभी प्रकार के लेखा तैयार करने वालों के लिये

१—अकबरनामा पृ० ५८. २—डा० रि० उ० ते० का० भा०, भा० १ पृ० ४७. ३—धरनी० वा० पृ० ३;५. ४—वही, पृ० ३;६.

प्रयुक्त होता था। यह शब्द 'लेखणि' तथा 'लिखारि' आदि सभी रूपों में लेख लिखने वाले या लेखा तैयार करने वालों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—'आये लिखारिण आये लिखारि आये लेख लिखाहा'—(गु० ग्र०, पृ० ६३५;३)। इसी प्रकार—'धरमराम धरि कागद फारे जब नानक लेखा समझा।'—(वही, पृ० ६९७;५) में भी लेखा के माध्यम से लिखने वाले का सङ्केत किया गया है। वस्तुतः कायस्थ शब्द मुस्लिम काल के प्रारम्भ में ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सभी काम करने वालों के लिये प्रयुक्त होता था।[1] सन्तों के काल में भी यह शब्द सामान्य दफ़्तरों में तथा अन्यत्र भी लेखा-जोखा रखने वाले लिपिकों के लिये प्रचलित रहा है, परन्तु बाद में इसका प्रयोग निश्चित वर्ग के अर्थ में विकसित हुआ है।

कागज शब्द दफ्तर के सन्दर्भ में विशिष्ट अर्थ रखता है, जिसका प्रयोग आज भी इस रूप में चला आ रहा है। यहाँ कागज का अर्थ निश्चित विवरण, तैयार किया हुआ लेखा, आज्ञा-पत्र और आपस में किया हुआ इक़रारनामा से लिया जा सकता है। कबीर जब कहते हैं—'काइथि कागद कारिआ तब लेखे-वार न पार'—(क० ग्र०, पृ० ४२; २२), तब उनका भाव उक्त विवरण से है जिसमें कर्मों का समस्त लेखा-जोखा दर्ज है। इसी प्रकार दरिया (बि०) नेकी-बदी के कागज का उल्लेख करते हैं—(दरि०. बि०, पृ० ५९; १८) और गरीबदास जब कहते हैं—'चित्रगुप्त के कागद चीरों–(ग० दा०, पृ० ३४; ५) तब उनका भी अर्थ इसी न्याय के लिये प्रस्तुत कर्मों के विवरण से ही है। पलटूदास जब कागज के स्थायित्व की बात को अपने रूपक में कहते हैं तो उस समय कागज पर लिखे गये पक्के इक़रारनामें की व्यञ्जना ही स्वीकार की जा सकती है और कर्मों के लेखा का भी सङ्केत माना जा सकता है।[2] कागज के साथ दफ़्तरों में अर्जी देने का उल्लेख भी सन्तों में कभी-कभी मिल जाता है। रामचरण कहते हैं—"अर्जी पहुँचाने के लिये सभी प्रकार की युक्ति कर लेनी चाहिये, क्योंकि कुछ न कुछ भेंट (प्रसाद) लेकर ही अधिकारियों के यहाँ जाना उचित है।"[3] वस्तुतः कबीर के इस 'अरज' में भी अरज़ी का ही सङ्केत निहित माना जायगा—'दिन को बेठि खसम सूँ कीजै अरज लगी तहाँ ही।"[4]

१—डॉ० ओझा०, म० का० भा० स०पृ० ३८. २—पलटू भा०, पृ० ९६; २४७. ३—रा० च०, पृ० १३५; ८. ४—क० ग्र०, पृ० १५३; १९३.

सैनिक व्यवस्था—सन्तों का काल मध्ययुग में पड़ता है जिसमें राज्य-व्यवस्था का मूलाधार सैनिक शक्ति थी। द्वितीय प्रकरण में बताया जा चुका है कि इस लम्बे काल में अनेक बाहरी आक्रमण हुए हैं और साथ ही अनेकानेक आन्तरिक युद्ध भी चलते रहे हैं। केन्द्रीय शक्ति को स्थापित रखने की दृष्टि से दिल्ली के बादशाह एक बड़ी सेना रखते रहे हैं। सैनिक शक्ति की व्यवस्था की दृष्टि से नगर, कोटों और गढ़ों का आश्रय बहुत पहले से लिया जाता रहा है। हाथी, घोड़ा रथ तथा पैदलों की चतुरङ्गिनी सेना का विवरण प्राचीन काल में मिलता रहा है, परन्तु इस काल में रथों का प्रयोग विशेषरूप से नहीं मिलता है। सन्तों ने कहीं-कहीं चतुरङ्गिनी सेना की कल्पना में रथों का उल्लेख अवश्य किया है—"हय गय रथ सुखपाल महूता। माया बाढ़ि करे कू कत्ता।। तारागन पैदल समुदाई। आज्ञा लेई जहाँ-तहाँ जाई।। चतुरङ्गिनी दल उज्जल देखा। भोग विराग बिचारि के लेखा।।"[1] यहाँ भीखा साहब. ने रथ के साथ 'सुख-पाल' अर्थात् पालकी का उल्लेख भी सेना के साथ किया है। सम्भवतः इन पालकियों का प्रयोग मुग़ल बादशाहों के ज़माने में हरम को साथ ले जाने के लिये किया जाता रहा हो।

सेना के आन्तरिक सङ्गठन के बारे में सन्तों का ज्ञान कितना ही कम क्यों न हो, परन्तु अपने युग के सैनिक सङ्घर्षों के प्रति वे निरपेक्ष नहीं रहे हैं। उनको सैनिक शक्ति का पूरा अनुभव रहा है और यही कारण है कि उन्होंने सैनिक शक्ति के अनेक उपकरणों अर्थात्—गढ़, खाई, सेना, अस्त्र-शस्त्र आदि का विस्तृत प्रयोग अपने काव्य में तथा रूपकों में किया है। सन्तों ने सेना के लिये अनेक शब्दों का प्रयोग किया है। **कटक**—'जोरि कटक गढ़ तोरि पातिसाह खेलि चलो एक खेला'—यहाँ कबीर गढ़ तोड़ने के लिये कटक एकत्र करना आवश्यक मानते हैं।[2] **फौज**—'छुटि फौज आनि गढ़ घेरयो'—यहाँ कबीर पुनः फौज के वितरित होकर गढ़ घेरने की चर्चा करते हैं।[3] **सेना**—'लोभि की सेना ज्ञान हन्ता'—रैदास सेना के द्वारा शत्रु के नाश की कल्पना करते हैं। **लश्कर**—बिन लश्कर बिन फौज मुलुक में फिरी दुहाई'—(ध० बा०; भा०, १ पृ० ८; १९) परन्तु यह

१—भी०-बा० भू०, पृ० ९१; २६२. २—क० ग्र०, पृ० ११९; ९६:२४; ३३. ३—वही, पृ० ११९; ९६.

'लश्कर' कम प्रचलित शब्द है और भीड़ का अर्थ अधिक देता है। सन्तों ने अन्य तीनों शब्दों का पर्यायवाची के रूप में प्रयोग किया है, अतः इसमें सैनिक सङ्गठन की पद्धति-विशेष को नहीं समझा जा सकता। दरियासाहब (बि०) 'फौज' शब्द का प्रयोग करते हैं—"फौज़ कहर की मैदान मारि गढ़ लीजै' और 'सन्त नकीब साहब का चाकर फौजे बीच पुकारेगा'—(दरि० वि० अनु०, ६४; ४:५६; १८)। दरिया साहब मारवाड़ वाले 'कटक' शब्द का प्रयोग करते हैं—'सबहि कटक सूरा नाहिं कटक माहिं कोई सूर'—(बा०, पृ० १३; ११)। सन्त, बादशाहों की सैनिक शक्ति को अपने आध्यात्मिक राज्य में निरर्थक मानते हैं, यह भावना उनमें निरन्तर परिव्याप्त है—'हमरे फौज कटक कछु नाहीं, हमरे मुलुक परगना नाहीं।'[1] सैनिक-शक्ति के आत्यधिक आतङ्ककारी होने के कारण ही सन्तों ने अपनी वाणी में सेना सम्बन्धी रूपकों का व्यापक प्रयोग किया है। कभी वे लोभ और मोह की भारी सेना की कल्पना करते हैं, कभी मन की फौज को काया के गढ़ में प्रवेश करते हुए अङ्कित करते हैं और कभी शत्रु के (मोह) दल पर विवेक की फौज से चढ़ाई करने की कल्पना करते हैं।[2]

सेना के सङ्गठन में आगे चलकर तोपखाने का महत्वपूर्ण योगदान हुआ है। किन्हीं क्षेत्रों में नाविक (नौसेना) शक्ति को भी स्वीकार किया गया है।[3] परन्तु उसका प्रयोग मध्यदेश में प्रचलित न होने के कारण सन्तों को इसका विशेष ज्ञान नहीं था। भारतवर्ष में तोप का आगमन विशेष रूप से बाबर के साथ माना जाता है और उसी के बाद से तोपखाना, सेना का एक अनिवार्य अङ्ग होता गया। ये तोपें पलीता लगाकर बारूद से चलाई जाती थीं और इनसे भारी गोले छोड़कर किले तोड़ने का विशेष रूप से कार्य लिया जाता था—'दीन्हा तोप सलाखा भारी ज्ञान के गोला बरूत भराया। सुरत पलीता डारि के मारा टूटी गढ़ी फौज विचलाया।'[4] कहते हैं तैमूर ने अपने आक्रमण में बन्दूक और तोप का प्रयोग भारतवर्ष में सर्वप्रथम किया था और डॉ० सरनाम सिंह ने कबीर के इन कथनों में—'कब सुखदेव तोपची जोरी, नारद कब बन्दूक चलाया' तोपची और बन्दूक के उल्लेखों को इसी से सम्बद्ध

१—गु० बा० भु०, पृ० १५९, ४२२. २—ग० बा०, पृ० ४७; १०४; १०५ : पल्टू बा०, भा० २, पृ० १४; ३२ ३—उ० भ० का० भा०, पृ० ३८३. ४—दु० बा०, पृ० २६; ६.

माना है।[1] कबीर ने—'पलीता', 'गोला' और उसकी चोटी से गढ़ के ढाये जाने का वर्णन अन्यत्र भी किया है।[2]

गढ़-रचना—सन्तों के काल में सैनिक शक्ति की दृष्टि से गढ़ों तथा कोटों का अत्यधिक महत्व रहा है। इस काल में अनेक ऐसे दुर्ग थे जो अपनी सैनिक विशिष्टता के कारण देश भर में विख्यात थे। रणथम्भोर, चित्तौड़, ग्वालियर, चन्देरी, माण्डू तथा देवगिरि आदि के प्रसिद्ध गढ़ अपनी दृढ़ता और अपने सैनिक महत्व के कारण मुगलों के पूर्व ही प्रसिद्ध थे। मुगल काल में भी रोहतास, चुनार, इलाहाबाद, कालिञ्जर, अजमेर, आगरा, दिल्ली, लाहौर, कन्धार, काबुल, हैदराबाद तथा औरङ्गाबाद आदि किलों की सुरक्षा का पूरा ध्यान रखा जाता था। इनमें सेना की रसद, लड़ाई का सामान तथा सेना रखी जाती थी। वर्षाकाल में सेना को विश्राम देने के लिये इन दुर्गों का उपयोग किया जाता था। इनकी रक्षा के लिये खाइयाँ बनाई जाती थीं, जिनमें पानी भरा रहता था। किलों की दीवारों पर तोपें लगाई जाती थीं तथा तीरन्दाजों और बन्दूकचियों की सुविधा के लिमे बीच-बीच में स्थान खाली रखा जाता था।[3]

सन्तों ने अपने आध्यात्मिक प्रसङ्ग में इस गढ़ की व्यापक चर्चा की है। कबीर के अनुसार—"यह बड़ा कठिन दुर्ग है, इसको जीतना बहुत कठिन है। इसमें दोहरी तो कोट (दीवारें) हैं और तीन-तीन खाइयाँ हैं। दरवाजों में भारी किवाड़ हैं। बड़ा प्रबल सेनापति (क्रोध) है और शक्तिशाली दुर्गपति है। यह दुर्गपति सन्नाद, टोप, तीर और कमान से लैस है। इस गढ़ को जीतना सरल नहीं है। परन्तु इस गढ़ को जीतने की एक युक्ति है। तोप की नाल में पलीता लगाकर हवाई से गोला चलाकर उसे ढ़हाया जाय। इसके बाद गढ़ की सेना से युद्ध करके तथा किले के द्वारों को नष्ट करके गढ़पति को पराजित करना आसान हो जायगा।"[4] यहाँ कबीर की दृष्टि में पहाड़ी दुर्ग राजपूतों का दुर्ग जान पड़ता है और उसको पराजित करने वाली शक्ति बादशाही सेना के समान है, तोप आदि से युक्त है।

सन्तों ने गढ़ की सुरक्षित भावना को अपने युग के अनुसार ग्रहण किया

१—डॉ० स० ना० सि० क० रा० वि०, पृ० २२० : क० बी०, पृ० ८४; ६६, २—क० ग्र०, पृ० २०९, ३५९— प्रेम पलीता सुरति नालि करि, गोला ज्ञान चलाया। ब्रह्म अगिन ले दिया पलीता, एकै चोट तड़ाया। ३—उ० म० का० भा०, पृ० ३६३. ४—क० ग्र०, पृ० २०९; ३५६: स ० क०, पृ० २२४; १७.

है। काया रूपी गढ़ को जीतने का उत्साह अनेक सन्तों ने व्यक्त किया है।[१] दरिया (बि०) भी इस गढ़ को जीतने के लिये 'घोड़े पर जीन पलाण कर तथा लगाम लगाकर उस पर सवारी कर नेजा घुमाते हुए शत्रु सेना के बीच में कूद पड़ते हैं।'[२] गढ़ के साथ खाई का अनिवार्य सम्बन्ध रहा है। कबीर कहते हैं—'कबीर खाई कोट की पाणी पीवे न कोइ' अथवा हरिदास के अनुसार—'नोखे खाई कोट पाँच पायक अभिमानी'।[३]

तम्बू और कनात—सेनाओं के साथ जब लाव-लश्कर चलता था, उसमें तम्बू और कनातों का भी महत्वपूर्ण स्थान था। वस्तुतः मुस्लिम बादशाह युद्ध में भी शान-शौकत के साथ जाना पसन्द करते थे। "ये शासक ईरानी सभ्यता के प्रशंसक थे और अपनी प्रतिष्ठा तथा समृद्धि के अनुरूप वैभव तथा ऐश्वर्य प्रदर्शन में आनन्द पाते थे। इसलिये भारत में तैमूरियों के तम्बू अपनी सजावट और रङ्गों के लिये प्रसिद्ध होते थे। जब शाही लश्कर चलता था तब उसका प्रत्येक भाग अपने ढङ्ग का निराला दिखाई पड़ता था। तम्बू-कनात तथा अन्य सामान से लैस हाथी, ऊँट, खच्चर का एक दृश्य रहता था।"[४] तम्बू-कनातों की यह स्थिति और सेनाओं के साथ ऐश्वर्य-विलास के उपकरण मुग़लकाल में और भी वृद्धि को प्राप्त हुए। सन्त इस स्थिति से परिचित रहे हैं। भीखा के अनुसार "इस बादशाह के फौजी डेरे में चारों ओर कनात गड़ी हुई है और आसमान में सुन्दर तम्बू तना हुआ है।"[५] इसी प्रकार पलटू सैनिक डेरे का वर्णन करते हैं—"ऊपर तम्बू तना हुआ है, नीचे फर्श बिछा है। चारों ओर छिड़काव किया गया है और मुश्क की गन्ध फैल रही है। इन खेमों का चौकीदार नेज़ाधारी है।"[६]

ध्वजा या निशान—सेनाओं में ध्वजा या झण्डे का प्रयोग प्राचीन समय से चला आ रहा है। झण्डा सेना का अपना चिह्न तो होता ही है साथ ही वह उसके गौरव का प्रतीक भी रहा है। ये झण्डे अनेक रङ्गों और चिह्नों के होते हैं। कभी-कभी मनसबदारों को खिलअत के साथ झण्डे भी प्रदान किये जाते

१—गु० वा० भु०, पृ० ५१; १४२—'काया गढ़ बैठि कोतवाली' : दरि० बि० अ०, पृ० १०७; २६७—'पाँच पचीस काया गढ़ भीतर' : दरि० भा० पृ० १५: ३८—'काया गढ़ ऊपर चढ़ा' २—दरि० बि० अ०, पृ० १०७; ७. ३—क० ग्र०, पृ० ५०; २८ : हरि० प्र० वा०, पृ० १६६. ४—उ० भा० का० भा०, पृ० ४६४. ५—भी० वा० भु०, पृ० ९१; २६२. ६—प० बा०, भा० १, पृ० ४; ८.

थे।[1] सन्तों ने आध्यात्मिक सन्दर्भ में श्वेत ध्वजाओं का उल्लेख किया है। सेनाएँ जिस प्रकार विजित गढ़ों में अपनी ध्वजाएँ फहराती थीं, उसी प्रकार बुल्ला साहब अपनी मोक्ष ध्वजा फहराने की चर्चा करते हैं।[2] गरीबदास इस आध्यात्मिक श्वेत ध्वजा या निशान की चर्चा करते हैं—'सेते ध्वजा और सेते निशान', 'जहाँ स्वेत ध्वजा निसान रे' तथा 'जहाँ स्वेत ध्वजा फहरावे'।[3] पलटूदास शून्य की ध्वजा फहराने की बात करते हैं—(प० बा०, भा० ३, पृ० १०४; ३६)। कभी-कभी यह ध्वजा महल के ऊपर फहराने वाली जान पड़ती है। परन्तु चरनदास का यह भक्ति निशान फ़ौज के साथ चलने वाली ध्वजा ही है—'दया धर्म दोऊ फौज महालय भक्ति निशान चलाये। पुन्न नगारा नौबत बाजे दुरजन सकल हलावे।"[4]

युद्ध के बाजे—सन्तों ने सेना और युद्ध के सन्दर्भ में मारू बाजों का भी उल्लेख किया है। मुस्लिम काल में सेना के साथ नक्कारखाने का भी महत्व था। इसके अन्तर्गत घोसा, भेरी, दुन्दुभि और नगाड़ा आदि युद्ध के बाजे सम्मिलित हैं। नक्कारा इज्जत का भी प्रतीक माना जाता था और सम्भवतः इसीलिये आदर प्रदान करने के लिये मनसब अथवा खिलअत के साथ नक्कारा देने का उल्लेख भी हुआ है। जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि सन् १६२२ ई० में अब्दुल्ला खाँ को मनसूब का नक्कारा दिया गया था। इसी प्रकार उसने एतमाद खाँ को लाहौर से कन्धार की ओर लश्कर ले जाने के लिये एक लाख रुपये की मदद के साथ खिलअत तथा नक्कारे इनायत किये।"[5]

सन्तों ने सेना के उत्साह को बढ़ाने वाले युद्ध के इन बाजों का विशेष उल्लेख किया है। इसके लिये इन्होंने नौबत बजाना, डङ्का बजाना, तूर बजाना, नगाड़ा बजाना, निशान बजाकर चढ़ना तथा ढोल बजाना आदि का प्रयोग किया है। वस्तुतः इन बाजों का प्रयोग सेना के उत्साह को बढ़ाने के लिये अथवा विजय घोष के लिये दिया जाता रहा है। **नौबत**—'साहब रीझो नौबत बक्सो', नौबत बाजे ज्ञान की' और 'बाजत नौबत फिरत दुहाई।'[6] **डङ्का**—'निशदिन

१—जहाँ० की आ०, पृ० ३२४, ३९६, ४९०. २—बु० बा० भु०, पृ० ८२; २४६. ३—ग० बा०, पृ० १५३; ७ : १६६; ९ : १७१; ७. ४—च० बा० भा०, पृ० ६३; १०. ५—जहां आ० क०, पृ० ४८९, ४९९. ६—गु० बा० भु०, पृ० २३९; १०७ प० बा०, भा० ३, पृ० १०३; ३९ गु० बा० भु०, पृ० ५०; १४०

डङ्का बजाऊँगा' और 'गाँव घर बैठि के देत डङ्का ।'[1] **तूर**—'अनुभव उठत है बाजत तूर,' 'बाजे नौबत अनहद तूरा' और' चित्त में चाव चौगुनी उनकी सुनि-सुनि अनहद तूरा'। **जुझाऊ**—इसी प्रकार नगाड़ा, ढ़ोल, जुझाऊ तथा मारू आदि बाजों का प्रयोग युद्ध के उद्घोष के साथ किया गया है । **निशान** वैसे तो ध्वजा के अर्थ में प्रयुक्त होता है, परन्तु कहीं-कहीं युद्ध के साथ निशान बजाने का उल्लेख भी हुआ है—'ज्ञान निस्सान को चढ़े बजाइके' (पलटू बा०, भा० २, पृ० १२; ३१-३८) ।

हाथी-घोड़ा—मध्य युग में घोड़ा शीघ्रगामी होने के कारण अत्यन्त महत्व-पूर्ण पशु रहा है । उसका अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रयोग सेना में माना गया है । मुसलमानों के आने के पूर्व भारतवर्ष में अश्वारोही सेनाओं के साथ ही गज सेनाओं का भी महत्व था । यद्यपि गज सेनाएँ विदेशियों से युद्ध में बहुत उपयोगी सिद्ध नहीं हुईं और इस कारण उनका प्रयोग इस काल में अपेक्षाकृत कम किया गया है, फिर भी किलों पर आक्रमण करने में हाथियों का उपयोग बाद तक किया जाता रहा है । सन्तों ने सेनाओं के सन्दर्भ में हाथी और घोड़ों, दोनों का उल्लेख किया है । 'हय गज गाजत जुरत जहाँ दल है'—(सु० वि०, पृ० १३४; ४) । हाथी के साथ महावत और अङ्कुश का विशेष रूप से प्रयोग किया गया है, क्योंकि यह पीलवान या महावत ही है जो अङ्कुश के माध्यम से मस्त हाथी को नियन्त्रित कर युद्ध में प्रेरित करने में समर्थ होता है ।[2] युद्धों में हाथियों को मस्त कर दिया जाता था, जिससे ये शत्रुसेना का विध्वंस कर सकें, परन्तु इन मस्त हाथियों का उचित नियन्त्रण न किये जा सकने पर ये अपने ही पक्ष के विनाशक सिद्ध होते थे । सन्तों ने प्रायः इसी स्थिति से अपने रूपकों को ग्रहण किया है ।

घोड़े की सवारी के बारे में, विशेषकर सैनिक अभियान के समय, सन्तों को इसका समुचित ज्ञान है । सन्त घोड़े की ज़ीन, लगाम, रक़ाब तथा चाबुक की चर्चा तो स्थल-स्थल पर करते ही हैं । साथ ही ज़ीन लगाना (पलाणना) चाबुक चटकारना, लगाम ठहराना तथा ऐंड़ लगाना आदि का भी प्रयोग अपने रूपकों में निरन्तर करते हैं ।[3] एक स्थल पर गुलाब सहाब ने घोड़े के

१—गु० बा० भु०, पृ० ३९; १०७ पलटू बा०, भा० २, पृ० १२; ३५
२—क० बी०, पृ० ३९२; १४६; सं० क०, पृ० १७६; ४; मलूक बा० पृ०, २३; ९; सु० वि०, पृ० १३७; १३. ३—क० ग्र० पृ० ९६; २५; दरि० अनु० पृ० ६३; १४६; पलटू बा०, भा० २, पृ० १४; ३७

दाग लगाने का उल्लेख किया है—'बख्शी चेहरा नित ही निहारे। धौरा दाग पै कीजे हो'—(गु० बा० भु०, पृ० २७३; ६८४)। सम्भवतः यह अलाउद्दीन के समय से प्रचलित घोड़ों पर चिह्न लगाने की प्रथा का सङ्केत है।[1]

अस्त्र-शस्त्र—यद्यपि सन्तों का जीवन आध्यात्मिक था और सांसारिक सैनिक युद्ध-विग्रहों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था, पर अपनी साधना के सङ्घर्ष को व्यक्त करने के लिये उन्होंने सैनिक अभियान का पूरा रूपक ग्रहण किया है। इसके लिये उन्होंने तत्कालीन सभी प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का व्यापक रूप से प्रयोग किया है और इन सन्दर्भों के माध्यम से इस काल के युद्धों का किञ्चित् आभास अवश्य मिल जाता है।

तीर-कमान—अस्त्रों में बन्दूकों के प्रसङ्ग के पूर्व धनुष-बाण का सबसे अधिक महत्व रहा है। भारत में इस धनुर्विद्या का गौरव प्रचीनकाल से विकसित रहा, है। क्योंकि फेंककर प्रयुक्त किये जाने वाले अस्त्रों में इसका प्रयोग सबसे अधिक कौशल का काम माना जाता था और बहुत कुछ सैनिक सफलता भी इस पर निर्भर रहतीं थी। कबीर ऐसे तीर का उल्लेख करते हैं जिसके मर्मभेदी घाव की पीड़ा तन मन में ऐसी व्याप जाती है कि औषधि निरर्थक सिद्ध होती है।[2] तीर के साथ **तरकश और तूणीर** का घनिष्ट सम्बन्ध है,क्योंकि बाण रखने का यहीं स्थान है। बुल्ला साहब कहते हैं—'ज्ञान के तरकश' का शब्दरूपी तीर प्रेमधनुष पर रखकर ताना गया—(बु० बा०, पृ०१६; ३,४) और इसी प्रकार मलूकदास भी स्वीकार करते हैं कि 'बिना प्रत्यञ्चा खींचे हुए तीर, आगे फेंका नहीं जा सकता' (मलूक बा०, पृ० ३८; ३२)। धनुष चलाने में **प्रत्यन्चा** का उपयोग महत्वपूर्ण है। पलटूदास 'सुरति' की कमान को चढ़ाकर'अकिल' के बाणों के द्वारा युद्ध करने का उल्लेख करते हैं।[3]

मुस्लिम काल में भी भारतीय युद्धों में धनुष बाण का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में प्रचलित था। इब्नेबतूता ने लिखा है—"सैनिक घुड़सवारों को गेंद को बाण से बेधकर अपनी धनुर्विद्या की परीक्षा देनी पड़ती थी। सिकन्दर लोदी के बारे में कहा जाता है कि उसने पाँच वर्ष की अवस्था में बहलोल लोदी की आज्ञा से बाण की नोक से फूल तोड़कर दिखलाया था।"[4] इस प्रकार अनेक

१—डा० रि० तु० का० भा०, भा० १, पृ० १४ २——क० ग्र०, पृ० १२५; ११८ ३——पलटू बा०, भा०२ पृ० ४८; २८. ४—डा० रि० तु०का० भा०, भा०१, पृ० १६५: उ० ते० का० भा०, भा०१, पृ० ३१६.

साक्ष्यों से यह सिद्ध होता है कि सुल्तानों के समय में बादशाही सेना में भी धनुष बाण का बहुत अधिक प्रचलन रहा था और कई बादशाह तथा सेनापति अच्छे धनुर्धारी प्रसिद्ध हुए। कुछ ऐसे कुशल थे कि हाथियों को भी अपने बाणों से बेकार कर देते थे।[1] यद्यपि मुग़लों के समय में तोपों और बन्दूकों का प्रचलन हो चला था, पर धनुष-बाण अत्यधिक प्रचलित था।

बन्दूक और तोप—सेना के वर्णन के अन्तर्गत तोपों का उल्लेख किया गया है। तोप के अन्तर्गत उसके चलाने की पद्धति, गोला, बारूद, पलीता आदि का भी उल्लेख किया गया है। सन्तों ने इसके साथ ही बन्दूक का भी उल्लेख स्थान-स्थान पर किया है। रामचरणदास कहते हैं—"खाली बन्दूक की आवाज बिना कर्तव्य के मनुष्य के समान है"—(रा० च० बा०, पृ० ८१५; ३६)। रामचरण यह भी अनुभव करते हैं कि "आदमी की कथनी बन्दूक की खाली आवाज़ है और कुछ करनी (रहणी) गोली का निशाना है। बिना गोली के निशान के कोई मरता नहीं। गाल बजाने से शत्रु पराजित नहीं होता, शत्रु गोली ही के निशाना लगाने से परास्त हो सकता है।"[2] सन्त गरीबदास बन्दूक की गोली चलाने की प्रक्रिया से भली प्रकार अवगत हैं—'मन गोली पहुँचे पहल पीछे सबद आवाज। ज्यूं करणी सो कथनी लगी तिनके सीधे काज'। यहाँ गोली पहुँचने के बाद शब्द सुनाई पड़ने का पर्यवेक्षण व्यक्त होता है। इसी प्रकार बन्दूक की गोली बारूद से चलाई जाती है, इसके सन्दर्भ भी मिलते हैं—'नेवन की बन्दूक बनी है, स्त्रवन बरूद समाना।'[3] पलटूदास ने बन्दूक के साथ उसकी नली को साफ़ करने वाले **गज** का जिससे बारूद भी भरी जाती है और हर दम सुलगते हुए **पलीतों** का उल्लेख किया है।[4] तुलसी साहब बन्दूक में पड़ी हुई बारूद के समान प्रतीत होते हुए काल का रूपक प्रस्तुत करते हैं।[5] रामचरणदास ने **'नाल'** शब्द का प्रयोग किया है—'दागे नाल मेंढ़की मारे'—(रा० च०बा०, पृ० ७२; २८)। नाल शब्द का अर्थ बन्दूक की नली है,

---

१—उ० ते० का० भा०भा०, पृ०२०४—"बहलोल लोदी का चचेरा भाई कुतुब खाँ बड़ा ही धनुर्धर था। १४५२ ई० के युद्ध में मुहम्मद टर्की की ओर से फतेह खाँ जो हाथी भेजता था, कुतुब खाँ अपने बाणों द्वारा उन्हें बेकार कर देता था।" २—रा० च० बा०, पृ० १६८; १८. ३—ग० बा०, पृ० १९४; ९. ४-पलटू बा०, भा० ३, पृ० २३; ४. ५—तु० सा० बा०, पृ० ६९; १७.

परन्तु इसका प्रयोग बन्दूक के अर्थ में भी किया जाता है और तोप बड़ी नालिका भी कहलाती है।[१]

तलवार—मध्यकाल में तलवार का भी बहुत महत्व रहा है। आमने-सामने के युद्ध में इसका सर्वाधिक प्रयोग किया जाता था। क्योंकि इस युग में प्रायः युद्ध की स्थिति आमने-सामने की रहती थी, अतः तलवार का प्रयोग बहुत अधिक प्रचलित रहा है। तलवार बाँधना, उस काल में वीरता का प्रतीक माना जाता था—'हते पराई आतमा जीव बाँधि तलवार'—(क० बी०, पृ० ४१८; २१९)। तलवार चलाने के लिये 'तलवार बहे' जैसे प्रयोग इस बात का सङ्केत देते हैं कि इसके माध्यम से शत्रुपक्ष का संहार तीव्र गति से किया जाता था—(सु० वि०, पृ० १३३)। वार रोकने के लिये और मार करने के लिये इसका प्रयोग किया जाता था। इसका प्रयोग करते समय योद्धा विकराल दिखलाई पड़ता है। तलवार का वार करने के लिये लक्ष्य साधना आवश्यक होता है—'मारे तब ताकि ताकि तीर सूँ'।[२] युद्ध करते समय तलवारें टूट भी जाती थीं—'पाहन मारे क्या भया जहाँ टूटे तलवार'—(मलूक, पृ० ३७; ६१)। सन्तों ने तलवार से सिर उतारने की चर्चा आध्यात्मिक सन्दर्भ में स्थल-स्थल पर की है। पलटूदास तलवार के जङ्ग (दाग़) का भी उल्लेख करते हैं जो इनके अनुसार सिकलीगर के द्वारा ही साफ़ कराया जा सकता है।[३] तलवार **म्यान** में रखी जाती थी जो कमरबन्द के साथ लटकी रहती थी। सन्तों ने इस **म्यान** का भी उल्लेख किया है—'तलवार दुई ठौ हैं म्यान एके'—(प० बा०, भा० २, पृ० ४८; २७)। तलवार का इस काल में वीरता से इतना घनिष्ट सम्बन्ध था कि बादशाह खिलअत के साथ इनाम में तलवार भी दिया करते थे।[४] तलवार का अन्य पर्यायवाची **शमशीर** (समशेर) शब्द का व्यवहार भी सन्तों में मिलता है—'ज्ञान लिये समशेर लड़े झकझोरि कै' अथवा 'ले समशेर चढ़ो री, ज्ञान निस्सान घुरो री'।[५] तलवार के लिये **असि** शब्द का प्रयोग मिलता है—एकनि को वचन तो असि मानो वरसत'। (सु० वि०, पृ० ७५; ५)।

खड्ग—तलवार की कोटि का एक दूसरा शस्त्र खड्ग भी है। सामान्यतः तलवार, खड्ग, कृपाण, शमशीर तथा सिरोही आदि शब्द पर्याय के रूप

१—टीकमसिंह केशव कृत वीरसिंहदेव चरित में अस्त्र-शस्त्र, हिन्दी अनु० वर्ष ११ अङ्क ४, पृ० ३३. २—सु० वि, पृ० १३४, १३५. ३—प० बा०, भा० १, पृ० १; २. ४—जहाँ० आत्मकथा, पृ० २५८, ७७०. ५—प० बा०, भा० २, पृ० ७३; ५९ : तु० बा०, पृ० १७६; २७

में प्रयुक्त होते हैं, परन्तु इनमें अपनी विशेषताओं का अन्तर भी रहता है। सन्त उनके इस विशिष्ट अन्तर से परिचित भले ही न हों, परन्तु उन्होंने इनका व्यापक रूप से अपनी वाणियों में प्रयोग किया है। तलवार के बारे में जब खींचने का प्रायः उल्लेख होता है तो खड्ग को ग्रहण करने अथवा धारण करने की चर्चा की जाती है—'ज्ञान खड्ग गहि काल सिरि भली मचाई मार' अथवा 'हाथ में गहे खड्ग मारिबे कुं एक पग।'[1] खड्ग के साथ खाँडा का प्रयोग भी सन्तों में मिलता है 'बिना शीश करे चाकरी बिन खाण्डे संग्राम'—(के० बा० भु०, पृ० १५; ३३)। वस्तुतः खाण्डा खण्ड के भिन्न प्रकार हैं।

इनके अतिरिक्त सन्तों ने अन्य कई प्रकार की तलवारों का उल्लेख किया है। **तेग**—'झांवा लेवे जोग का तेग को भले बनाई', 'तरकस तीर कमान सङ्ग तेग बन्द गुण धार', 'मुगल पठाण भई लड़ाई, रण भई तेग बगाई' तथा 'तख्त हमारी तेग है जो असल असी'।[2] तेग वस्तुतः छोटी तलवार को कहते हैं। **कटारी व छुरी**—'छुरी नी मारी कटारी न मारी', 'सील हमारा भाला है और छमा कटारी' और 'बुद्धि विवेक कटारी बधि'।[3]

भाला, बर्छी, नेज़ा—ये अस्त्र तलवार आदि के समान प्रहार करके काटने के न होकर धँसाकर छेदने के होते हैं। कभी-कभी इनसे फेंककर मारने का काम भी लिया जाता है। 'आइने अबकरी' में भाले के प्रकारों में नेज़ा, बरछी, सांग, सेंथी और सेलार को माना है। इसमें नेज़ा घुड़सवार ही प्रयोग में लाते थे। अपनी लम्बाई के कारण (१२ से १५ फुट) घुड़सवार अपने विपक्षी घुड़सवार अथवा हाथी सवार पर वार करने में सुविधा का अनुभव करते थे।[4] भाले के अन्य प्रकारों का भी प्रायः ऐसे ही युद्धों में प्रयोग होता है। **भाला**—'जब दरिया जानेगा कोई, प्रेम की भाल कलेजे पोई', तीर बहे भाला बहे, बहे तुपक तरवार' तथा 'सूरा तन सहजे सदा साय साय सेल हथियार'।[5] यहाँ स्पष्ट है कि भाला 'कलेजा' बेधने के काम आता है और सेल

१—क० ग्र०, पृ० ७०; २७ : सु० वि०, पृ० १३३, ३. २—प० वा०, भा० १, पृ० १; २ : गु० ग्र०, पृ० १६; ४ : वही, पृ० ४१८; ७ : ग० वा०, पृ० २०९; १०. ३—सिगा० वा० हिन्दी अनु० वर्ष १०, अङ्क ३ : ग० वा०, पृ० २०९; १० : च० वा० भा० १, पृ० ५७; १. ४—डा० वासुदेव पद भा०, पृ० ५५२. ५—दरि० भा०, पृ० ४७; ६ : रा० च० बा०, पृ० ८६२; ३८ : प० वा० भा० १, पृ० २१३; ६५.

धनुष्य- बाण
तलवार
म्यान
बन्दुक
वलम
भाला
घुरी
त्रिसुल
फरसा
गदा
तवल
खांडा
दुधारा
खंजर
गुप्ते
तोप
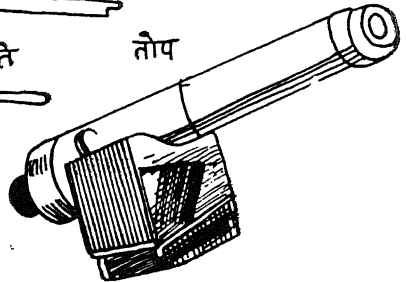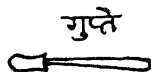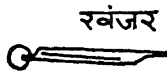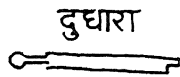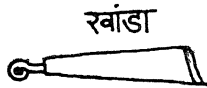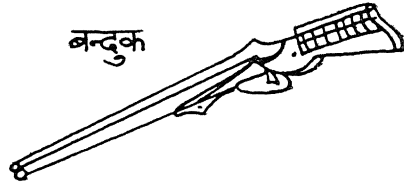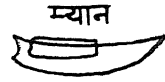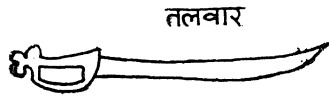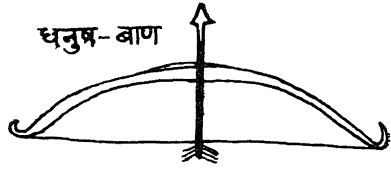
(सेलार) भी इसका एक प्रकार है। **बरछी**—'भाल तरवार कटार बरछी लिया बाण कुबाण सब साज साजा' और 'बुद्धि विवेक कटारी बाँधे वचन विलास की बरछी।'[1] **नेजा**—'नाम खजाना भरा जिकर का नेजा चलता' और 'सन्त सिलाह सुरति नेजा जहाँ जाय साहब से भेंट कीता।'[2] **सांग**—'सन्त का टोप ले शब्द के सांगि ले ज्ञान का तूर या तेज रांकी', 'शब्द की सांगि समसेर बंका' और 'फेरे जब सांग तब कोय नहिं धीर धरे।'[3]

अन्य साधारण अस्त्र—उपर्युक्त अस्त्र-शस्त्रों के अतिरिक्त अन्य साधारण अस्त्रों का उल्लेख भी सन्तों की वाणी में मिलता है। **गदा**—'सीकन्दर और गदा दोउ ऐकै जाने' और 'गोविन्द रूपी गदा गहि मारों करमन डीठ'।[4] इसके लिये दूसरा शब्द **मुगदर** भी प्रयुक्त है—'मुगदर मोरे सीस में—(डा० बा०, पृ० १६७; ३)। वस्तुतः इसका उपयोग कसरत में इधर अधिक प्रचलित हो गया है। **गुर्ज**—'ज्ञान गुरज हथियार गहि करत युद्ध अरि सङ्ग'।[5] **गांसी**—'लागी गांसी सबद की पलटू मुआ तुरन्त' और 'सत गुरु मारा बान कस केवर गांसी खैच'।[6] **लाठी**—'लौ की लाठी मारि तूं मंचि सुमारि जाय' और **गुलेल**—'काल के हाथ गुलेल तड़ाका मारि है'।[7]

कवच, बख्तर, सनाह और टोप—शरीर की रक्षा के लिये युद्धक्षेत्र में जाने के पूर्व सैनिक लोहे की जाली या जञ्जीरों का वस्त्र धारण करते थे। इसका प्रयोग धनुषबाण, तलवार तथा भाले आदि की लड़ाई में विशेष रूप से था। इस अङ्ग-रक्षक को भारतीय शब्दावली में कवच और सनाह कहा गया है तथा फ़ारसी-अरबी शब्दावली में जिरह (जिरिह) या बख्तर (वक़्तर) कहा गया है।[8] सन्तों ने इन शब्दों का प्रयोग सैनिक प्रसङ्गों में किया है। **कवच**—'काया कवचकमान करि, सार सब्द करि तीर', 'ज्ञान को

१—रा० च०, पृ० १९९; ३ : च० बा०, भा० १, पृ० ५७; १. २—प०, भा० १, पृ० ४; ८ : दरि० वि० अनु०, पृ० ७१; २०, २०. ३—दरि० वि०, पृ० ८०; ३ अ० ३२. ३४ : सु० वि०, पृ० १३४; ४. ४—प० बा०, भा० १, पृ० १२; २९ : दया० बा०, पृ० ५; १. ५—वही, पृ० ५; १. ६—प० बा०, भा० १, पृ० ४१; १०५ : ग० बा०, पृ० ११; २९. ७—रज्ज० बा०, पृ० ४३; ३ : प० बा०, पृ० ४०; ६. ८—दा० बा०, भा० १, पृ० २११; ३८ : सु० वि०, पृ० १३५; ७ : क० ग्र०, पृ० ६८; ४५ : प० बा० भा० ३, पृ० १०४; ३९.

कवच अंग, काहू कूं न होइ भंग' इसी प्रकार कबीर भी सहज सन्तोष का कवच धारण करने का उल्लेख करते हैं। **बखतर**—'हमारे राम नाम है बखतर', 'अंग-उघाड़े अगम गति बाना बखतर डारि' और 'बखतर पहिरे प्रेम का घोड़ा है गुरु ज्ञान'।[1]

सनाह—'शील सन्तोष की सनाह अङ्गीय पहिरवा'—(हरि० पु० वा०, पृ० २२)। **टोप**—'ररा कर टोप ममा कर बखतर'—(क० ग्र०, पृ० २०६, ३५०) और 'टोप सीस झलकत, परम विवेक है'—(सु० वि०, पृ० १३५;७)। कवच के साथ सिर की रक्षा के लिये धारण करने वाले रक्षक को टोप कहा गया है।

युद्ध और वीरता—सन्तों को सांसारिक उलझन से कोई मतलब नहीं था, परन्तु इस काल में युद्ध तत्कालीन वीर मनोवृत्ति से सम्बद्ध रहे हैं। सैनिक सङ्गठनों के द्वारा अपनी शक्ति को बढ़ाना, आक्रमण करके दूसरे राजाओं को पराजित कर अपने आधीन करना तथा दूसरे राजाओं के आक्रमण से आत्म-सम्मानपूर्वक अपनी रक्षा करना इस युग की व्यापक मनोवृत्ति रही है, जिसका घनिष्ट सम्बन्ध युद्धों से है। सन्त अपने युग की इस वीरभावना से अलग नहीं रह सके हैं। उन्होंने इस वीरता प्रदर्शन का एक भिन्न आध्यात्मिक क्षेत्र स्वीकार कर लिया है और इस क्षेत्र में वे स्वयं वीर योद्धा के रूप में युद्ध का आवाहन करते देखे जाते हैं। इस रणक्षेत्र में वे अपने को ऐसे योद्धा के रूप में प्रस्तुत करते हैं जो टुकड़े-टुकड़े होकर भी मैदान नहीं छोड़ते, रण से हटने का नाम नहीं लेते, मरने जीने की परवाह नहीं करते। ये शूरवीर युद्ध में संलग्न रहते हैं और कायरों के समान बकवाद नहीं करते। शूरवीर वही है जो अपने शरीर का मोह छोड़ देता है अथवा सिर उतारने के लिये तत्पर रहता है। ऐसा ही वीर रणक्षेत्र में निर्द्वन्द्व भाव से मृत्यु के सिर पर टूट पड़ता है और युद्ध का उद्घोष अर्थात् दमामा बजते ही, निशान पर चोट पड़ते ही वह मरने के चाव से युद्ध-भूमि में जाने के लिये लालायित हो उठता है।[2] वस्तुतः कबीर के द्वारा प्रस्तुत वीर की यह परिकल्पना, इस युग के अनुकूल है।

अन्य सन्तों ने भी आध्यात्मिकता के सन्दर्भ में युद्ध के प्रति वीर के इस उल्लास का वर्णन किया है। सुन्दरदास कहते हैं—''नगाड़े की चोट सुनते ही

१—गु० ग्र० भु०, पृ० १५९ : ४२२ : रज्ज० बा०, पृ० १६०; ५
२—क० ग्र०, पृ० १६८;४५

योद्धा का मुख कमल के समान विकसित हो जाता है। उसका उत्साह शरीर में समा नहीं पाता, साङ्ग फेरता हुआ व्यग्रता के साथ सामन्तों के बीच में ऐसा कूद पड़ता है जैसे अग्नि में पतङ्ग। वस्तुतः वही शूरवीर है जो रणभूमि में अपना पैर रोप देता है और घमासान युद्ध में जूझता है, हाथ में खड्ग ग्रहण कर शत्रु को मारने के उद्देश्य से तन-मन को समर्पित कर देता है। वह मृत्यु को नगण्य मानकर टुकड़ा-टुकड़ा होकर भी युद्धभूमि से पीछे नहीं हटता।"[1] इस प्रकार के वर्णन लगभग सभी सन्तों में 'सूरातन के अङ्ग'[2] के अन्तर्गत दिये हैं जो इस युग की वीरभावना से उत्प्रेरित हैं।

सन्तों ने वीर योद्धा के लिये प्रायः **सूरमा** शब्द का प्रयोग किया है, जिसके साथ **शूरवीर** (शूरवीर) को लिया जा सकता हैं।[3] युद्धवीरों को **सामन्त** के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है—'ऐसे टूटि परे बहु सावन्त के धन में', और 'मोह सहित सब सेना भारी ऐसो सामन्त पूरा'।[4] वस्तुतः अधिकार सूचक सामन्त शब्द यहाँ सामान्य वीर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। **उमराव**—काल बड़ा उमराव है भारी, डरे सकल जहँ लग तन भारी—(भी०भु०,पृ० ६१;२६२)। उमराव भी सेना के सन्दर्भ में नेतृत्व करने वाला एक अधिकारी है। **सरदार**—पाँच-पचीस एह तीस भागे फिरे बड़े सरदार बोरा राव रङ्का'—(द०वि०,पृ० ८०; ३ अ० ३२)। वीरता के लिये मध्ययुग में **राजपूत** अत्यधिक प्रसिद्ध हो चुके थे, इस कारण सन्तों ने राजपूत शब्द का वीर सैनिक के लिये प्रयोग किया है—'इन्द्रहु कतल करि कियो रजपूतों है'—(सु०वि०, पृ० १३६; १०)। 'काया कोट छुड़ावे सोइ है राजपूत'—(पलटू भा० १, पृ० ४०; १०२) अथवा 'होय रजपूत सो चढ़े मैदान पर'—(पलटू भा०, पृ० १२, ३१)। **प्यादा**—साधारण सैनिक के लिये इस शब्द का प्रयोग सन्तों में प्रायः मिलता है—'पंच पयादा पाड़ि ले, दूरि करे सब दूज'—(क० ग्र०, पृ० ६८; ४५.३) अथवा 'पांचों प्यादे देहि उठाई'—(च० बा०,भा० १, पृ० ६१; ८)। **सिपाही**—आगे चलकर सन्तों

१—सु०वि०, पृ० १३२;२८. २—क० ग्र०,पृ० ६८;४५ : दा० बा०,भा० १, पृ० २०८;२४ : च० बा०, भा० १, पृ० ५७;६४ : द० बा०, पृ० ५; १ : सु० वि०, पृ० १३२ से १३७ आदि. ३—दरि० मा० बा० पृ० २५;३७ —'दरिया साँचा सूरमा, अरि दल घाले सूर' : सु० वि० पृ० १३५; ६; पृ० १३६;१०१,१ : वही, पृ० १३४;४. ४—सु० वि०, पृ० १३४;४ : च० बा०, भा० १, पृ० ५७; १.

की वाणी में सिपाही शब्द का व्यवहार भी मिल जाता है—'सोई सिपाही मरद है जग में पलटूदास', 'सन्त सिपाही दिन रैनि मंडा रहे'—(द० वि०, पृ० ८०; ३ ग्र; ३२) अथवा 'बाना बाँधे लड़ि मरे सन्त सिपाहिक पूत'।[१]
हरावल—जो सैनिक टुकड़ी युद्ध में आगे मोर्चा लेती है उसे हरावल कहा जाता है। सन्त इससे भी परिचित हैं—'ज्ञान निस्सान को चढ़े बजाइ के, हरावल छमा कर घाट कीन्हा' (पलटू, भा० २, पृ० १२; १३२)।

युद्ध—सन्तों ने युद्ध का अपने आध्यात्मिक अभियान में ऐसा सजीव वर्णन किया है कि लगता है उनको प्रत्यक्ष अनुभव रहा होगा। वस्तुतः उस युग में युद्ध इतने प्रचलित थे कि उनका ज्ञान उनमें बिना भाग लिये भी हो सकता था। कबीर, युद्ध आरम्भ होने के समय के उत्साह का वर्णन करते हैं। दमामा और निशान बजते ही युद्ध की घोषणा समझकर वीर उत्साहपूर्वक हथियार और कवच धारण कर लेता है। युद्ध के खुले मैदान में हाथी और घोड़ों पर सज्जित होकर वे जाते हैं। युद्ध के मैदान में दोनों दल एक-दूसरे से भिड़ जाते हैं और दोनों ही दलों के सैनिक मैदान छोड़ने का नाम नहीं लेते। घायल दिन में पीड़ा ग्रसित रहता है और रात भर जागरण करता है। उसकी पीड़ा को बाण मारने वाला जानता है अथवा जिसको कभी बाण लगा हो। योद्धा रणभूमि में उत्तेजित हो जाने पर हाथ में खड्ग लेकर मृत्यु का आवाहन करते हैं।[२] कबीर के इस वर्णन में तत्कालीन युद्ध पद्धति के अनेक सन्दर्भ देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार सुन्दरदास युद्ध के कुछ सङ्केत प्रस्तुत करते हैं। नगाड़ों की चोट के साथ ही वीर उल्लसित होकर प्रतिद्वन्दी दल के वीर सैनिकों के बीच में अपनी साङ्ग को फेरता हुआ कूद पड़ता है और हाथ में खड्ग धारण किये हुए वह घमासान युद्ध करता है। युद्ध क्षेत्र में अश्व तथा गज सेना भी गर्जना करती हुई एकत्र होती हैं। सिन्धु, सहनाई तथा जुझाऊ बाजे बजते हैं जिनसे कायर भी वीरभावना से प्रेरित हो जाते हैं। सैनिकों की बर्छियाँ चमक रही हैं। तिरछी तलवारे चल रही हैं। चारों ओर मारामारी से खलबली मच गई है। युद्ध में वीर निर्द्वन्द और निःशङ्क भाव से लड़ रहे। उत्साह के कारण अङ्गों के टूक-टूक हो जाने की भी उनको चिन्ता नहीं है। लम्बी भुजाओं वाला सैनिक हाथियों को भी अपनी तलवार से विचलित कर देता

१—प० बा०, भा० ३, पृ० १०४; ४ : वही, भा० १, पृ० ४०; १०१.
२—क० ग्र०, पृ० ६८; ४५.

है.....। घुड़सवार कवच और टोप से लैस ताजी घोड़े पर सवार अपनी तलवार हाथ में लिये हुये सेना में आगे ही बढ़ता जा रहा है। वह उस घमासान स्थल पर पहुँच गया है जहाँ बन्दूक के गोलों और बाणों की बौछार हो रही है।[1]

दरिया (मारवाड़) इस युद्ध के प्रसङ्ग में गढ़ के ऊपर लड़ने का उल्लेख भी करते हैं—'काया गढ़ ऊपर चढ़ा, बरसा पद निर्मान'।[2] वस्तुतः उस काल में प्रायः गढ़ की विजय से ही जय-पराजय का निश्चय होता था। दरिया (बि०) के अनुसार—'वीर योद्धा सिर पर टोप तथा शरीर पर कवच धारण कर साङ्ग लेकर विपक्षी फौज को घेर लेता है और फिर उसको मैदान में पीठ दिखाने के लिये वाध्य कर देता है। वह सन्त सिपाही अपने गढ़ तथा कोट की रक्षा में ही तत्पर रहता है और मस्त हाथियों को जञ्जीरों से नियन्त्रित रखता है।.....वीर आज्ञा पाते ही साँग तथा समशेर से सज्जित हो, घोड़ा पर जीन आदि लगाकर युद्ध के लिये तैयार हो जाता है। वह युद्ध में कड़ी कमान खींचकर टङ्कारता है और उसके सामने बड़े-बड़े सरदार राजा-रङ्क भागते फिरते हैं।[3] इस प्रकार के युद्धों का वर्णन प्रायः सभी सन्तों में अपने आध्यात्मिक रूपकों के लिये उल्लेख किया है। इनमें आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से सन्तों ने साधक को ही वीर सैनिक के रूप में प्रस्तुत किया है। तत्कालीन यात्रियों, मुसलमान इतिहासकारों तथा बादशाह की आत्मकथाओं में जो युद्ध के सन्दर्भ मिलते हैं उनसे सन्तों के ये वर्णन बहुत निकट हैं।[4]

उपर्युक्त विवेचना के प्रकाश में यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि सन्त, आध्यात्मिक जीवन बिताते हुए भी अपने काल में लौकिक जीवन से पूर्णतः सम्बद्ध थे। वे अपने काल की राजनीतिक परिस्थितियों, वातावरण तथा सङ्घर्षों से स्वयं सम्बद्ध न होकर भी उनके प्रभाव से अलग नहीं कहे जा सकते। यह अलग बात है कि इस सारे सम्पर्क तथा प्रभाव को उन्होंने एक बिल्कुल भिन्न क्षेत्र में प्रयुक्त किया है।

१—सु०बि०, पृ० १३४; ४, ६,७. २—दरि०भा०, पृ० ३२; ३७ ३—दरि० बि०, पृ० ८०; ३ अ० ३२,३४ ४—उदाहरणार्थ ममालिकुल अमसार से—(उ० तै० का भा०, पृ०८५)।

चतुर्थ प्रकरण

सामाजिक भाव-भूमि

विरक्ति की दृष्टि—आध्यात्मिक साधना में संलग्न सन्त, सम्पूर्ण लौकिक-जीवन के प्रति व्यापक विरक्ति की भावना रखते हैं। सम्पूर्ण हिन्दी का भक्ति-साहित्य इस लौकिक विरक्ति से प्रेरित है, परन्तु सन्तों की इस विरक्ति में लोकत्याग की अपेक्षा ग्रहण की भावना अधिक है। उन्होंने सामाजिक जीवन से अलग होकर साधना करने पर बल नहीं दिया है बल्कि इसकी अपेक्षा उन्होंने लोकजीवन में ही रहकर उससे विरक्ति उत्पन्न कर लेने की साधना को अधिक महत्वपूर्ण माना है। इसी कारण अनेक सन्तों ने अपनी सामाजिक स्थिति को अस्वीकार नहीं किया और अपने परिवार के वंशगत पेशों को त्यागा नहीं—(द्र० द्वितीय प्रकरण)। परन्तु समाज के बीच लौकिक दायित्व को वहन करते हुए भी सन्त कबीर इस बात का पूरा अनुभव करते हैं कि यह जीवन बन्धन है—"राम नहीं जपते, क्यों अन्धे हो रहे हो। राम के बिना मैंने जन्म फँसा दिया था, परन्तु अब नहीं। समझता हूँ, पुत्र-स्त्री सब झूठा पसारा है, अन्तिम बेला सबसे अलग होना ही है। अन्त में तो साथ में खोखली हाँडी भी नहीं चलने वाली है, फिर काहे का लोभ मोह करना।"[1] कबीर इस बात का अनुभव करते हैं कि जहाँ तक माया और नश्वरता का प्रश्न है, ठाठ-बाँट से रहने वाले राजाओं और बादशाहों, अनेक सुन्दरियों के साथ भोग करने वाले ऐश्वर्यशालियों, चन्दन-कपूर के अङ्गराग से विभूषित तथा सुन्दर वस्त्रों को धारण करने वाले विलासियों तथा अनेक तीर्थों का भ्रमण करने वाले लुञ्चित और मुण्डित मस्तक, मौनी तथा जटाधारी योगी, यती और संन्यासियों में कोई अन्तर नहीं है। सोच-विचार कर देखने पर सभी का मरण ध्रुव लगता है, इनका उद्धार सम्भव नहीं जान पड़ता है।[2] इसी

१—क० ग्र०, पृ० १२६; १२८. २—वही, पृ० १७२; २४८.

कारण सम्भवतः कबीर तथा अन्य सन्त लोकजीवन की आसक्ति के साथ उसके नितान्त त्याग की भावना को भी अस्वीकार कर देते हैं।

सन्त, समाज और परिवार को उस सीमा तक स्वीकार करके चलते हैं जहाँ तक वह उनके आध्यात्मिक विकास में बाधक न हो—'सांई इतना दीजिये जामे कुटुम्ब समाय। मैं भी भूखा ना रहूँ साधु न भूखा जाय'।[1] यहाँ कुटुम्ब के पालन-पोषण के दायित्व को सहज भाव से स्वीकार करके चला गया है, पर इसके लिये वह गठरी (दौलत) नहीं माँगता वह केवल 'पेट समाता' लेता है—(क० ग्र०, पृ०५८;३५, १०)। कुटुम्ब के पालन करने के दायित्व को सन्त इस दृष्टि के साथ ही ग्रहण करते हैं—"लोग समझते हैं कि यह घर मेरा है और इसी भाव से पाप कर्म करते हैं। ये सब कुटुम्बीजन स्वार्थवश एकत्र हुए हैं, वस्तुतः यहाँ कोई भी तेरा नहीं है।"[2] इस विषय में सन्त बहुत स्पष्ट है कि संसार में कोई व्यक्ति वास्तविक सहायक नहीं है। सभी पारिवारिक तथा सामाजिक सम्बन्ध व्याहारिक मात्र हैं, वस्तुतः न कोई किसी का पिता है न पुत्र, न कोई किसी की माता है न स्त्री और न कोई किसी का भाई ही है। मृत्यु के उपरान्त कोई किसी का साथ नहीं देता, कोई किसी के साथ नहीं जाता।[3] धरमदास भी कहते हैं कि एक दिन सभी स्वजन, पारिवारिक जन, सुत तथा दारा अलग हो जाते हैं।[4] इस प्रकार सन्तों की दृष्टि समाज और परिवार के बीच निःसङ्ग भाव से रहने की है।

सन्त स्वतन्त्र जीवन के विश्वासी रहे हैं, उनको अपनी जीविका के लिये परतन्त्र जीवन व्यतीत करना स्वीकार नहीं था। इस कारण वे निश्चिन्तता और सन्तोष के जीवन पर सदा बल देते हैं। ये इतना ही अपने अथवा अपने परिवार के लिये चाहते हैं, जितने से उनका साधारण निर्वाह हो सके। उनको 'हीरा रोटी के कारण गला कटाना' पसन्द नहीं था।[5] वस्तुतः मलूकदास के इस कथन में 'अजगर करे न चाकरी पन्छी करे न काम' में आलस्य की भावना की अपेक्षा सन्तों की इस उदासीन मनोवृत्ति को समझना चाहिये। इस मनोवृत्ति के साथ ही वे अपनी इस सहज स्थिति को प्राप्त कर

१—क० साहब बीजक, पृ० ७७; ८. २—वही, पृ० १२०; १०२. ३—स० सु० सा०, पृ० ३९७;२९. ४—धरम० बा०, पृ० ७; ३: च० बा०, भा० १, पृ०२६—'मात पिता कोई यहाँ नाहीं, सब ही बेगाना'। ५—क० ग्र०, पृ० ३१४;१५६: क० बी०, पृ० ३१६;९.

सकने में समर्थ हो सके थे जिसके अनुसार लोकजीवन में रहते हुए भी वे उसके प्रति विरक्त थे।

वर्ण-व्यवस्था—सन्तों की इस सामाजिक स्वीकृति में उनका मानवतावादी दृष्टिकोण निहित है। मानव सामाजिक प्राणी है, उसकी सहज वृत्तियाँ उसे समाज में रहने के लिये प्रेरित करती हैं। एक बार मानव की सहज मर्यादा को स्वीकार कर लेने के बाद उसके समस्त सामाजिक सन्दर्भ से अलग हो पाना सम्भव नहीं रह जाता। इसी कारण सन्तों की दृष्टि अपने युग की सामाजिक व्यवस्था पर पूर्णतः रही है। इनकी सम्पूर्ण विरक्ति को व्यक्तिवादी संसार त्याग के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि इन्होंने समाज की सभी समस्याओं को मुक्तभाव से ग्रहण किया है और उनके समाधान की चुनौती को भी स्वीकार किया है।

सन्तों के काल की सामाजिक स्थिति का सङ्केत दूसरे प्रकरण में किया गया है। भारतीय समाज के जिन चार वर्णों का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता हैं, उन वर्णों का अनेक उपजातियों में विकास होता रहा है। पुराणकाल में वर्ण-व्यवस्था इन अनेकानेक जातियों और उपजातियों में पल्लवित हो चुकी थी। सम्भवतः प्रारम्भ में जो वर्ण सामाजिक सङ्गठन के दृढ़ आधार पर स्वीकार किये जाते थे, आगे चलकर वे ही ऊँच-नीच की भावना से सामाजिक श्रेणी विभाजन के आधार हो गये। जिस प्रकार पहले सामाजिक सङ्गठन के लिये वर्ण कार्य-विभाजन के द्वारा अधिक सुचारु और व्यवस्थित आधार प्रस्तुत करते थे, उसी प्रकार यह श्रेणी विभाजन जिस मानसिक अहं भावना से प्रेरित हुआ, वह इस शृङ्खलाक्रम को विकसित और दृढ़ करता गया। प्रारम्भ में शूद्रों की संख्या सम्भवतः उतनी नहीं थी, आगे चलकर अनेक कृषि और पशुपालन करने वाले वैश्य तथा अन्य जातियाँ इस वर्ग में सम्मिलित होती गईं और क्रमशः शूद्रों की स्थिति अन्त्यजों की स्थिति होती गई।[1] इस प्रकार शूद्र वर्ण, कालान्तर में उच्च वर्णों द्वारा हेय और घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा।

जैसा कि दूसरे प्रकरण में सङ्केत किया जा चुका है, सन्तों के काल में उपर्युक्त स्थिति विषमतर होती जा रही थी। राजनीतिक जीवन की विशृङ्खल परिस्थिति ने सामाजिक जीवन के विघटन में अधिकाधिक सहायता की है।

१—अमरकोष तथा पराशर-स्मृति के आधार पर—डॉ० राजवली पांडे; हि० सा० वृ० इ०, भा० १, पृ० ५०३.

इस वातावरण में विचारों की प्रगति अवरुद्ध हो चुकी थी और उसके साथ ही मनोवृत्ति की दासता और सामाजिक सङ्कीर्णता विकसित हुई।[१] विद्यालङ्कार जी ने अपनी पुस्तक में देवगिरि के राजा रामदेव के मन्त्री होमाद्रि की पुस्तक (चतुर्वर्ग चिन्तामणि) का साक्ष्य देते हुए उस काल में हिन्दुओं में वर्ष भर में दो हजार व्रतों तथा पूजाओं के प्रचलन का उल्लेख किया है। यह उस काल के हिन्दू समाज की निष्क्रिय और दास मनोवृत्ति का परिचायक है, जिसको मुस्लिम शासकों की धार्मिक नीति ने अधिक प्रोत्साहित किया। वस्तुतः हिन्दू-समाज की इस पलायनवादी मनोवृत्ति ने एक सीमा तक आत्मरक्षा का कार्य ही किया है।

सन्तों को नाथ, सिद्ध, वज्रयानी और हीनयानी परम्पराओं के माध्यम से ब्राह्मणेतर बौद्ध-परम्परा से सम्बद्ध किया जाता रहा है। कई दृष्टियों से यह उचित भी है। परन्तु जिस प्रकार से सन्तों की परम्परा का व्यक्तित्व अन्य भक्तिमार्ग की परम्पराओं से सम्बद्ध होते हुए भी अलग है उसी प्रकार इस परम्परा से भी बहुत कुछ ग्रहण करने के बावजूद भी वे मुक्त हैं। सामाजिक सन्दर्भ में इस अन्तर को देखा जा सकता है। बौद्ध-परम्परा के विविध रूपों ने अनेक स्रोतों से प्रभाव ग्रहण करके समाज की परम्परागत मर्यादा के प्रति जो विद्रोह किया है, उसमें या तो त्याग की मनोवृत्ति प्रधान है अथवा विध्वंस की। इनकी अपेक्षा सन्त अपने विद्रोह में भी समाज के निर्माण की भावना से उत्प्रेरित हैं। यह अलग बात है कि अपनी आध्यात्मिक मनोवृत्ति के परिणामस्वरूप उनके सामाजिक मूल्य उसी पर आधारित हैं। इस धार्मिक आन्दोलन के साधनापरक युग में सामाजिक मूल्यों का आकलन इसी आधार पर सम्भव भी था।

वर्ण-व्यवस्था के जाति और उपजातियों में पल्लवित-रूप के युग में सन्तों ने इसका खुला विरोध किया है तथा उनकी अपनी सामाजिक स्थिति ने उनकी वाणी की प्रखरता को यथार्थ गहराई प्रदान की है। कबीर वर्णाश्रम के बारे में कहते हैं—'चारि वर्ण उपरान्त चढ़े' और नानक के अनुसार—'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र एक ही नाभि कहिये या गर्भ से उत्पन्न हुए हैं। फिर समाज में इस प्रकार का भेद-भाव कैसा'। इसी बात को अर्जुनदेव स्वीकार करते हैं–'खत्री, ब्राह्मण शूद्र वैस सभ एकै नाभि तरानथ'।[२] वस्तुतः सन्त इन वर्णों

१—भा० दृष्टि; जयचन्द विद्यालङ्कार पृ० २२१. २—क० ग्र०, पृ० १५०; १८३ : गु० ग्र०, पृ० ८००; ४. : वही, पृ० १००२; ४.

की विषमता का विरोध आध्यामिक साधना के क्षेत्र में करते हुए दिखाई देते हैं। रामदास कहते हैं—"चार वर्णों और चार आश्रमों में वही सबसे ऊँचा है जिसे अच्छी सङ्गति मिली है और जिसने अपने हृदय में भगवान् को प्राप्त कर लिया हैं।'[1] वस्तुतः यह इस युग की सामान्य घोषणा ही थी—'जाति-पाँति पूछे नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई',—जो भक्ति आन्दोलन के सभी क्षेत्रों में परिव्याप्त थी।

वर्ण-व्यवस्था के इस अन्तर को सन्त भ्रामक मानते हैं—'चार वरन और आश्रम चार, सुपना अन्तर सब व्यवहार।' इसी प्रकार सुन्दरदास के अनुसार चारों वर्णों के प्राणी अपने धर्म में दृढ़ता से बँधे हुए हैं, परन्तु उनका यह कर्मबन्धन रूढ़ि मात्र है। यह रूढ़ि, आचरण में इस प्रकार परीक्षित होती है कि विप्र का आचार (आचरण) लीक खींचकर चौका की मर्यादा निर्धारित कर लेने में सीमित हो जाता है और यदि शूद्र का दर्शन भी हो जाये तो जादू के समान उनकी मर्यादा भङ्ग हो जाती है।[2] आगे सुन्दरदास जाति-व्यवस्था की उस जटिलता का भी निर्देश करते हैं जिसमें अपने बन्धु-बान्धवों को जाति बहिष्कृत करके कुल की मर्यादा से अलग कर दिया जाता है। 'चार वरन आश्रम धरम' को गाड़ी की लीक के समान पलटू साहब समाज की रूढ़ि मानते हैं जो समान व्यक्तियों को ऊँच-नीच की श्रेणी में विभाजित कर देती है। इसी बात को एक ही मानवीय भावना से परिव्याप्त चारों वर्णों के भ्रम में कबीर देखते हैं—'नाना रूप वरन एक कीन्हा। चारि वरन उहि काहू न चीन्हा।'[3]

सन्त, सामाजिक व्यवस्था के इस रूप से उद्विग्न हैं। वे जाति, वर्ण और कुल की रूढ़िगत सीमाओं को त्यागकर अपने आध्यात्मिक 'सत्' लोक का निवास ग्रहण करना चाहते हैं। वस्तुतः जहाँ विद्रोह की भावना से अलग हटकर सन्तों ने अपनी व्यक्तिगत स्थिति पर ध्यान दिया है, वहाँ उनको यही घोषित करना श्रेयस्कर लगा है—'कागा से हंसा किया जाति वरन कुल खोय।'[4] उन्होंने अपने सामाजिक मूल्यों के मूलाधार आध्यात्मिक क्षेत्र में निरन्तर इस बात की घोषणा की है कि वहाँ जाति-पाँति दूसरी नहीं है, सभी एकमेक हैं। यहाँ जिस प्रकार जीवन-मरण समाप्त हो जाते हैं उसी प्रकार

१—गु०ग्र०, पृ० ८७७;४. २—दरि० भा० पृ० २६;५ : सु० ग्र०, पृ० १६८; १३ : वही, पृ० १३८; १०. ३—सु० ग्र०, पृ० १९१; २० : पलटू, भा० २, पृ० ५२; ३९ : क० बी०, पृ० ७६;६३. ४—ध० बा०, पृ० २८, २२ : वही, पृ० ७८;३.

जाति और वर्ण की व्यवस्था भी ।[1] वस्तुतः सामाजिक रूढ़िबद्ध भावना के साथ कभी ये जाति, वर्ण और कुल की मर्यादा को देह के साथ मान भी लेते हैं, पर यह देह स्वयं उनके लिये वृक्ष के नीचे गिरे हुए पत्ते के समान है। इस प्रकार यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जाति भेद उस अवगति तत्व के साथ ठहर नहीं सकता और उसको त्यागने में ही बड़ाई है ।[2]

विरोध तथा विद्रोह—इस काल की सामाजिक जीवन की उच्छृङ्खलता का विरोध सन्तों ने अनेक स्थलों पर किया है। वे सामाजिक विषमता के विरोधी रहे हैं, उन्होंने ऊँच-नीच की भावना, सामाजिक रूढ़ियों और घिसे-पिटे आचारों के प्रति सदा विद्रोह किया है। साधना की भाव-भूमि के कारण उनकी दृष्टि समाज की रूढ़िवादी धार्मिक भावना पर अधिक थी। उन्होंने इसी कारण अपना विरोध प्रायः कर्मकाण्ड, पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रत, रोज़ा-नेमाज़ आदि के प्रति व्यक्त किया है। परन्तु उस समय के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन में धर्म ऐसा परिव्याप्त था कि इनके साथ ही सन्तों की दृष्टि में सामाजिक जीवन के अन्य पक्ष भी आ गये हैं। उस समय का समाज, खान-पान, रहन-सहन तथा आचार-विचार में जिन थोथे वाह्याडम्बरों के आधार पर चल रहा था, उनका विरोध सन्तों की वाणी में व्यक्त हुआ है।

हिन्दुओं में ब्राह्मण तथा पुरोहित का महत्वपूर्ण स्थान उस समय तक किसी न किसी रूप में सुरक्षित था। इसी प्रकार मुसलमानों में मुल्लाओं और मौलवियों का महत्व था। सन्तों ने इनके सामाजिक नियन्त्रण पर आघात किया है। उन्होंने इस बात का भली प्रकार अनुभव किया था कि ये ब्राह्मण, पुरोहित, मुल्ला और मौलवी, समाज को सही रास्ते पर ले जाने के बजाय ऐसे गलत और रूढ़िवादी मूल्यों तथा विश्वासों की ओर प्रेरित करते हैं जिसमें उनका अपना स्वार्थ निहित है। कबीर स्नान करके तिलक आदि से सज्जित होकर विधिविधानपूर्वक देव-पूजन करने वाले चतुर पाण्डे (ब्राह्मण पुरोहित) को कसाई समझते हैं जो निर्दय भाव से बछड़ों की बलि करवाते हैं और आत्मा का विनाश करते हैं। पाप काटने के लिये कथा सुनाते हैं, परन्तु नीच कर्म करवाते हैं।[3] रैदास भी पढ़ने और गुनने वाले ब्राह्मण को 'अनुभव' से कारा ही मानते हैं। पलटू "ब्राह्मण और शाक्त को साधुओं के बैरी के रूप

१—गु० बा० भु०, पृ० ३२६; ८४१. २—दरि० बि० अनु०, पृ० ३४; ३८९ : वही पृ० १२; २६. १. ३—क० बी०, पृ० १२४; ११.

में स्मरण करते हैं। वे उनको साक्षात् पाप की गठरी मानते है। 'ज्योतिष के रूप में नक्षत्रों और राशियों की गणना कर औरों के ग्रह बतलाते फिरते हैं और उनके अपने ग्रह छूटते नहीं, औरों को मुक्ति का मार्ग बतलाते हैं पर अपनी मुक्ति का पता नहीं, दूसरों का कल्याण करते फिरते हैं पर अपने दुःख में हैरान हो जाते हैं और दुनियाँ भर को दूध-पूत का आशीर्वाद देते हैं पर स्वयं घर-घर भिक्षा माँगते हैं।"[१] इसी प्रकार तुलसी साहब सारे जगत् को ब्राह्मण द्वारा भ्रष्ट किया मानते हैं, क्योंकि उसने प्रभु का मार्ग छोड़कर लोभ का मार्ग ग्रहण किया है।

इसके अतिरिक्त सन्त समाज की श्राद्ध जैसी जड़ परम्पराओं का विरोध ही करते हैं। सन्तों के अनुसार यह संसार ही विचित्र है जो घर के जीवित प्राणी को तो मरने देता है परन्तु श्रद्धा प्रदर्शित करने के लिये मृतक को पूजता है। जीवन काल में माता-पिता दुःख झेलते हैं और मरने के उपरान्त उनके हाड़ एकत्र करते हैं और पिण्डा-पानी देते हैं, यह कैसा विचित्र श्राद्ध है। पितरों को क्या मिलता है, कौवे-कुत्ते ही खाते हैं। लोग अञ्जलि में तिल ग्रहण कर दूध से वेदविहित श्राद्धकर्म करने के उपरान्त पुनः अपने धन्धे में इस प्रकार व्यस्त हो जाते हैं कि उनका समस्त कर्म-परम्परा का पालन जान पड़ता है।[२] इसी प्रकार सन्तों का विरोध खान पान और छुआछूत के बारे में भी व्यक्त हुआ है। इस युग की व्यापक वैष्णव-भावना में मानवीय प्रेम और दया के साथ जीवदया को भी स्वीकार किया गया है। इस दृष्टि से सन्तों ने माँस खाने वाले लोगों की हिंसा वृत्ति और निर्ममता की कठोर आलोचना की है। इस प्रकार की शक्तियों—'परिभेद वीमल ज्ञानगीता मीन मांसु हि खात' में उनका यह व्यंग निहित है। उनके अनुसार ऐसा षट् कर्मों में फँसा हुआ आत्मघाती मौलिक तत्व को ग्रहण नहीं करता, वह भव के बीच में भ्रमित ही घूमता है।[३]

उस काल में छुआछूत की व्यापक भावना के विरुद्ध सन्तों ने मुक्तकण्ठ से अपना स्वर उठाया है। कबीर पाण्डे से कहते हैं "जिस मिट्टी के बर्तन के पानी के विषय में तुम इतना विवेक करते हो, उसी घट में सारी सृष्टि

१—राव० उ० काव्य, पृ० ३२; ६८ : पलटू, भा० ३, पृ० ११४; १३५ : वही, पृ० ६१; १३६ : तु० शब्द, पृ० २२; २२. २—मलूकवा०, पृ० ३३; ७ : सं० क०, पृ० ४८; ४५ : जग०, भा० २, पृ० ९१; १४ : दरि० अनु०, पृ० १५४; २२. १७. ३—दरि० वि० अनु०, पृ० ९२; ५. २.

समाहित है।....पानी में मच्छ, कच्छ, घड़ियाल सभी जीते-मरते हैं, उनका रक्त उसमें मिला हुआ है, फिर तू मिट्टी को क्या छूत लगाता है।"[1] इसी प्रकार पण्डितों के द्वारा फैलायी गयी छुआछूत की आलोचना करते हैं—"शुद्ध जल कहाँ किसी के स्पर्श से अशुद्ध होता हैं या तिक्त होता है। अच्छा प्रसाद (सभी ब्रह्म का प्रसाद है) कहीं किसी के छूने से नष्ट होता है, यह तो सब मन का भ्रम है। मछली और माँस अपनी रसोई में सींधा जाता है और अर्पण करके ग्रहण किया जाता है, स्नान करके दम्भपूर्वक अनेक प्रकार से पूजा का विधान भी किया जाता है। परन्तु यह अपावन को पावन मान-कर छुआछूत का प्रपञ्च भी विचित्र है।" आगे पुनः दरिया साहब अन्न और जल की छूत को भ्रम मानकर वस्तुतः कर्म का विकार स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं "मक्खी सर्वत्र उड़ती फिरती है और फिर थाली पर भी आकर बैठ जाती है, बिल्ली सबकी हाँड़ियों में मुँह डालती घूमती है, उनकी छूत क्यों नहीं मानी जाती? वस्तुतः यह सब भ्रम है। एक ही मिट्टी के सब बर्तन हैं उनको ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र अथवा हिन्दू या तुर्क किस प्रकार कहा जायगा।"[2] कबीर इस छुआछूत की असङ्गति पर आश्चर्य प्रकट करते हुए चुनौती के स्वर में कहते हैं—"जब जल में छूत है, थल में छूत है और किरणें भी (ग्रहण के अवसर पर) छूत है और जन्म में भी छूत हैं और मरने में भी छूत है, तो इसका अन्त कहाँ है। फिर पवित्र क्या है? आँखों में भी छूत है (कहीं शूद्र पर दृष्टि न पड़े), बोली में छूत है (शूद्र से बात न हो जाय), और कानों में भी छूत है (उसकी बात कान में न पड़ जाय)। यह उठते-बैठते छूत लगने की स्थिति क्या है? यहाँ तक कि तेरे भोजन में भी छूत का प्रवेश है। वस्तुतः यह छूत का भ्रम विवेक से ही दूर हो सकता है।"[3]

तीव्र आलोचना—सन्तों के इस विद्रोह में सामाजिक व्यवस्था की तीव्र आलोचना निहित है। कुछ सन्तों ने, जिनमें कबीर प्रमुख हैं, सामाजिक आचरण और मर्यादाओं की कठोर निन्दा की है। इसके अन्तर्गत सामाजिक तथा धार्मिक असमानता तथा विषमता, ऊँच-नीच की भावना, छुआछूत, सामान्य व्यवहार तथा आचरण आदि सभी कुछ आ जाता है। कबीर चुनौती के स्वर में कहते हैं—'इस आचरण (आचार) से किस प्रकार पार होंगे, मुझसे विचार करके कहो तो सही। पवन और पानी तो एक ही है, और तुम रसोई

१—क० वी०, पृ० १७९; ४७. २—दरि० अनु०, पृ० ९३; ५.५: वही, पृ० ९४; ५. ६ : वही, पृ० ९४; ५. ८. ३—सं० कबीर, पृ० ४४; ४१.

को अलग-अलग बनाना जानता है। मिट्टी से मिट्टी को लीपकर कहाँ की छूत मिटाते हो। धरती को लीपकर पवित्र करते हो और छूत मिटाने के लिये लकीर खींच लेते हो।" फिर आगे कबीर अधिक प्रखर स्वर में कहते हैं—"पाण्डे, यह छूत का विचार किस बात का है? इस छूत से तो सारा संसार ही उत्पन्न हुआ है। यह क्या हमारे शरीर में रक्त है और तुम्हारी शिराओं में दूध का प्रवाह है? तुम कैसे ब्राह्मण हो और हम कैसे शूद्र हैं। फिर यदि छूत का छूत करना था, तो गर्भ में ही क्यों आये।" सामाजिक भेद-भाव के प्रति कबीर का यह उग्र भाव हिन्दू तथा मुसलमानों के प्रति भी समान है—"जो तू वाभन-वाभनी भाया, तो आन-बाट ह्वे काहे न आया। जो तूं तुरक तुरकनी जाया, तो भीतरि खतना क्यों न कराया'।[१] इस सामाजिक विषमता के थोथे आधार को सन्त अपनी आलोचना से खोल कर रख देना चाहते हैं।

इस स्थिति का प्रत्याखान करते हुए हिन्दू तथा मुसलमान दोनों की सामाजिक बिडम्बनाओं को कबीर प्रस्तुत करते हैं—"हिन्दू अपनी बड़ाई करता है, वह अपनी गगरी किसी को छूने नहीं देता। और यहीं हिन्दू वेश्या के पैरों तले सोता है, ऐसी उसकी हिन्दुआई है। इसी प्रकार मुसलमान के पीर और औलिया मुर्गा-मुर्गी खाते हैं, अपनी खाला की बेटी व्याहते हैं। यहाँ जैसी हिन्दुओं की हिन्दुवाई है, वैसी ही तुरकों की तुरकाई है।" इसी प्रकार अन्न त्यागकर व्रत रहने वालों की आलोचना भी कबीर करते हैं—"जो लोग अन्न का त्याग करने का पाखण्ड करते हैं, वह तीन लोक में अपनी हानि करते हैं। ऐसी स्त्री न तो साध्वी ही है और न विधवा ही, इससे कुछ नहीं होता, यह केवल पाखण्ड है।" यहाँ कबीर साधारण जीवन-यापन की पद्धति को ग्रहण करने के लिये ऐसा कहते हैं। इस प्रकार के खान-पान के आडम्बर पर भी उनकी वक्र-दृष्टि है—'अन्तरि मेलु जो तीरथ नावे तिसु बैकुण्ठ न जाना। जल के मज्जनि जे गति होवे नित-नित मेढ़क नावहिं'।[२] इस प्रकार सन्त तीर्थ-स्नान की अपेक्षा सामाजिक आचरण पर सदा बल देते हैं। पलटू साहब मान-बड़ाई के कारण 'पचि मुए' संसार की चर्चा करते हैं कि "सभी यती, साधु, संन्यासी और योगी भी इसके प्रपञ्च में फँसकर वास्तविक जीवन को भूले रहते हैं। 'सिद्ध लोग प्रभुता के लिये सिद्धई करते हैं, महन्त पैर

१—क० ग्र०, पृ० १०५; ५५ : वही, पृ० १०१; ४२, पृ० १०२; ४१.
२—क० वि०, पृ० २२७ : क० ग्र०, पृ० १७५; ११: वही, पृ० १२७; ३७.

पुजाने के लिये उपदेश देते हैं। राजा, रङ्क, फकीर सभी इसीलिये खाक लगाये घूमते हैं। सबके मन में कामना है बड़ाई और मान पाने की।"[1]

आचरण और मर्यादा—सन्तों ने अपने युगजीवन के आचरण को भली-भाँति देखा परखा है। सामाजिक विसङ्गतियों और आडम्बरों की आलोचना की चर्चा की जा चुकी है परन्तु सन्त केवल विद्रोही, विरोधी अथवा आलोक मात्र नहीं थे। उन्होंने सामाजिक जीवन की तत्कालीन स्थिति का यथार्थ सङ्केत स्थल-स्थल पर किया है और इन आचरणों की आडम्बरपूर्ण, रूढ़िग्रस्त और हीन मर्यादाओं से सतर्क करते हुए समाज के मौलिक मूल्यों की स्थापना भी की है। यह अवश्य है कि इन्होंने जिन सामाजिक मूल्यों की स्थापना की है, उनका मूलाधार आध्यत्मिक चेतना है। फिर भी जैसा सङ्केत किया गया है, सन्तों ने अपनी आध्यात्मिक :साधना के सन्दर्भ में कभी मौलिक जीवन की अवहेलना नहीं की। वस्तुतः वे मानकर चलते हैं कि मूलतः मनुष्य शरीरधारी सामाजिक प्राणी है और वह अपने इस आधार से अलग होकर कृत्रिम आडम्बरों में ही फँसेगा। आध्यात्मिक साधना भी उन्होंने संसार या घर को छोड़कर जङ्गल चले जाने वालों की साधना-पद्धति को अपनी सहज-पद्धति के सम्मुख कभी स्वीकार नहीं किया।

सन्त सांसारिक लोगों की स्थिति से भली-भाँति अवगत हैं। वे अनुभव करते हैं कि ऊपर से माला जपने वाले (साधना में रत) लोगों के हृदय में अनेकानेक वासनाओं की आँधी (डण्डूल) चलती रहती है। इसी प्रकार अपने पेट को पशुओं के समान भरकर मनुष्य अपना जन्म गँवा रहा है, श्वान और शूकर के समान भटकता घूमता है और अपने को महत्वपूर्ण मानकर दूसरों को हेय समझता है। ऐसे कामी, क्रोधी, निन्दकों, चतुरों और बाजीगरों का जीवन व्यर्थ लालच, झूठ, मद और विकार में बीत जाता है। ऐसे अशुद्ध मन वालों से देह के आचरण की मर्यादा के पालन की आशा कैसे की जा सकती है।[2] सन्तों का कहना है कि सांसारिक भ्रम तथा दुविधा में—'एक न भूला दोय न भूला भूला सब संसार', इस आचरण की दुविधा को त्याग कर ही मानव जीवन सफल हो सकता है, क्योंकि इसी के कारण समाज—मैं-मेरा, तुम-तेरा, ऊँच-नीच, छोटा-बड़ा

१—पलटू बा०, भा० १, पृ० ६५; १६५. २—क० ग्र०, पृ० ४५;१: सं० क०, पृ० १९८;१० : दरि० भा०, पृ० ४०; २.

और धनी-निर्धन का विवेक करता है।[1] वस्तुतः जिस सम-भाव और सहज आचरण के आधार पर सन्त अपने मूल्यों का निर्माण करते हैं, इसके लिये समाज की यह दुविधा और भ्रममूलक आचरण की स्थिति त्याज्य ही है।

सन्तों ने परम्परा और रुढ़ियों के आधार पर प्रतिष्ठित मूल्यों को अस्वीकार किया है। उनके अनुसार इस प्रकार के मूल्य भ्रामक हैं। इनसे व्यक्ति वास्तविक जीवन के तत्व को ग्रहण नहीं कर सकता। वस्तुतः इन वाह्यारोपित मूल्यों में व्यक्ति दुनियाँ के प्रवाह में बहा चला जाता है। इसी कारण सन्तों के अनुसार बन्दगी, नेमाज़ तथा रोज़ा आदि केवल क़ाज़ी और मुल्लाओं के द्वारा भ्रम उत्पन्न कराने के लिये हैं।[2] सन्तों ने सामाजिक आचरण की दृष्टि से अनेक मानवीय दुर्गुणों, कमजोरियों तथा रागों के त्यागने पर बल दिया है। 'व्यक्ति को चुगली, ईर्ष्या, निन्दा, झूठ तथा कपट से मुक्त होना है, क्योंकि इसके बिना मार्ग पर चलना सम्भव नहीं है'। इसी प्रकार दूसरे के धन, दूसरे के शरीर, दूसरे की स्त्री का अपहरण और पर-अपवाद आदि में व्यक्ति संलग्न रहता है। काम, क्रोध, माया, मद, मत्सर में संलग्न व्यक्ति के लिये धर्म के मार्ग पर चलना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार आँखें फूटने पर देखना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार काम, क्रोध, तृष्णा से मनुष्य की गति सम्भव नहीं।[3]

जिन कुवृत्तियों से बचने के लिये सन्तों ने सदा बल दिया है, उन सबका सन्दर्भ सामाजिक है। उन्होंने आध्यात्मिक जीवन की भूमिका में जिस सामाजिक जीवन को स्वीकार किया है, वह मूलतः इसकी मूल्यगत भावनाओं से अनुप्राणित है। जिन मानवीय वृत्तियों और रागों से बचने का उन्होंने उपदेश दिया है, वे सभी सामाजिक दृष्टि से विशेष अहितकर हैं। यदि सन्तों की परिकल्पना नितान्त व्यक्तिगत साधनापरक जीवन की होती तो उसमें समाज त्याग की भावना भी स्वीकृत होती। ऐसी स्थिति में हिंसा, काम, क्रोध, असत्य, तृष्णा, मोह, अहङ्कार और परनिन्दा जैसा वृत्तियों से बचने का प्रश्न ही कहाँ आता है। दादू जब कहते हैं--'आतम भाई जीव

१—क० ग्र०, पृ० १५५; १९८ : दा०, पृ० १७३; ६१. २—क० ग्र०, पृ० ४२; ७, ८. ३—च० बा०, भा० २, पृ० ३९; ३९ : सं० क०, पृ० १८३; ८ : वही, पृ० २०३; ४.

और धनी-निर्धन का विवेक करता है।[1] वस्तुतः जिस सम-भाव और सहज आचरण के आधार पर सन्त अपने मूल्यों का निर्माण करते हैं, इसके लिये समाज की यह दुविधा और भ्रममूलक आचरण की स्थिति त्याज्य ही है।

सन्तों ने परम्परा और रुढ़ियों के आधार पर प्रतिष्ठित मूल्यों को अस्वीकार किया है। उनके अनुसार इस प्रकार के मूल्य भ्रामक हैं। इनसे व्यक्ति वास्तविक जीवन के तत्व को ग्रहण नहीं कर सकता। वस्तुतः इन वाह्यारोपित मूल्यों में व्यक्ति दुनियाँ के प्रवाह में बहा चला जाता है। इसी कारण सन्तों के अनुसार बन्दगी, नेमाज़ तथा रोज़ा आदि केवल काज़ी और मुल्लाओं के द्वारा भ्रम उत्पन्न कराने के लिये हैं।[2] सन्तों ने सामाजिक आचरण की दृष्टि से अनेक मानवीय दुर्गुणों, कमजोरियों तथा रागों के त्यागने पर बल दिया है। 'व्यक्ति को चुगली, ईर्ष्या, निन्दा, झूठ तथा कपट से मुक्त होना है, क्योंकि इसके विना मार्ग पर चलना सम्भव नहीं है'। इसी प्रकार दूसरे के धन, दूसरे के शरीर, दूसरे की स्त्री का अपहरण और पर-अपवाद आदि में व्यक्ति संलग्न रहता है। काम, क्रोध, माया, मद, मत्सर में संलग्न व्यक्ति के लिये धर्म के मार्ग पर चलना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार आँखें फूटने पर देखना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार काम, क्रोध, तृष्णा से मनुष्य की गति सम्भव नहीं।[3]

जिन कुवृत्तियों से बचने के लिये सन्तों ने सदा बल दिया है, उन सबका सन्दर्भ सामाजिक है। उन्होंने आध्यात्मिक जीवन की भूमिका में जिस सामाजिक जीवन को स्वीकार किया है, वह मूलतः इसकी मूल्यगत भावनाओं से अनुप्राणित है। जिन मानवीय वृत्तियों और रागों से बचने का उन्होंने उपदेश दिया है, वे सभी सामाजिक दृष्टि से विशेष अहितकर हैं। यदि सन्तों की परिकल्पना नितान्त व्यक्तिगत साधनापरक जीवन की होती तो उसमें समाज त्याग की भावना भी स्वीकृत होती। ऐसी स्थिति में हिंसा, काम, क्रोध, असत्य, तृष्णा, मोह, अहङ्कार और परनिन्दा जैसा वृत्तियों से बचने का प्रश्न ही कहाँ आता है। दादू जब कहते हैं--'आतम भाई जीव

१—क० ग्र०, पृ० १५५; १९८ : दा०, पृ० १७३; ६१. २—क० ग्र०, पृ० ४२; ७, ८. ३—च० बा०, भा० २, पृ० ३६; ३९ : सं० क०, पृ० १८३; ८ : वही, पृ० २०३; ४.

सब एक पेट परिवार', तब उनकी दृष्टि में जीवों की एकता है। इसी प्रकार वह 'मुल्ला मुग्ध न मार' कहकर भी हिंसा के अमानुषीय पक्ष को ही उभारने का प्रयत्न करते हैं।[१]

"काम में व्यक्ति ऐसा बोरा जाता है कि पञ्चों में उसकी नाक कट जाती है। यह उसका मुँह काला करके गदहे पर चढ़वाता है और लोग तमाशा देखते हैं।"[२] इसी प्रकार काम की निन्दा करने वालों की दृष्टि में समाज का निश्चित सन्दर्भ है। क्रोध में व्यक्ति अपनी हानि करता है, सम्मान खोता है, और बुद्धि का नाश करता है। "मोह में व्यक्ति दुःख पाता है, उसकी स्थिति गुड़ में पड़ी हुई मक्खी के समान है, जो अपने पङ्ख फँस जाने के कारण हाथ पीटकर सिर धुनती है।"[३] सन्तों ने सांसारिक माया के अन्तर्गत मनुष्य को विभ्रम में डालने वाली वृत्तियों का निर्देश किया है, वे भी सांसारिक जीवन से सम्बद्ध हैं। मोह, आशा, तृष्णा, कनक (अधिक लोलुपता), कामिनी आदि ऐसे आकर्षण हैं जो माया के रूप में व्यक्ति को आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र से विमुख करते हैं। परन्तु ये सभी आकर्षण मनुष्य की सामाजिक जीवन की सहज स्थिति के प्रतिकूल पड़ गये हैं। वस्तुतः सन्तों ने इन सभी के त्यागने का उपदेश व्यक्ति की सामाजिक स्थिति के आधार पर किया है।

इन कुवृत्तियों के त्याग के साथ ही सन्तों ने मानवीय जीवन में सम-भाव को महत्व दिया है। कबीर घोषित करते हैं कि "काम, क्रोध, लोभ, मोह से विवर्जित व्यक्ति ही सन्मार्ग को पहचान सकता है। ऐसा ही व्यक्ति जो निन्दा, मान-अपमान और लोहा-कंचन में सम-भाव रख सकता है, वह स्वयं ही भगवान् की मूर्ति है।"[४] वस्तुतः इस सम-भाव पर सन्तों ने बहुत बल दिया है। उन्होंने मानव जीवन को सामाजिक सम-भाव पर प्रतिष्ठित किया है। सम-भाव जीवन के सन्दर्भ में सहज-स्वाभाविक दृष्टि है, जो मूलतः विवेक पर प्रतिष्ठित है और इसी के माध्यम से आचरण और दृष्टि की सभी विकृतियाँ दूर हो सकती हैं।[५] इस सम-दृष्टि के आधार पर उन्होंने धर्मों, वर्णों तथा जातियों के भेदभाव को कृत्रिम और निरर्थक माना है, क्योंकि इनका यह भेद-भाव केवल वाह्यारोपित है, आन्तरिक नहीं। कबीर के अनुसार—

१—दा० बा०, भा० १, पृ० २३६; १९. २—च० बा० भा०, पृ० २०; १. ३—च० बा०, भा० १, पृ० २०; १ : क० ग्र०, पृ० ४८; २५. ४—सं० क०, पृ० २०३; ४ : वही, पृ० २००; १. ५—दा० बा० भा० २, पृ० २७; ६७.

"एक राम जपहु रे भाई, हिन्दू तुरक न कोई"। दरिया साहब (बि०) एक ही प्रकार की त्वचा, तीन गुण, रग तथा रुधिर वाले शरीरधारियों में अन्तर नहीं मानते। "सभी मनुष्यों को एक ही प्रकार से भूख-प्यास लगती है और एक ही प्रकार से दुःख-सुख व्यापता है। फिर उनके दया-धर्म, पुण्य-पाप में क्या अन्तर हो सकता है? उनके धर्म तथा आचरण के ग्रन्थों में कैसा अन्तर हो सकता है?"[1] इसी भाव को यारी साहब इस प्रकार व्यक्त करते हैं—"सोना तो सर्वत्र समान है, चाहे गलाया हुआ हो या गहने के रूप में हो। उसमें कौन ऊँच है और कौन नीच है, यह कैसे कहा जा सकता है?"[2]

गुलाल साहब भी समाज में ऊंच-नीच की भावना को दूर करने के लिये विवेकपूर्ण समबुद्धि पर ही बल देते हैं। धरनीदास सामाजिक आचरण की मर्यादा को प्रतिपादित करने के लिए अनेक सन्तों के साथ मनुष्य मात्र में परिव्याप्त मूल मानवीय तत्व को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार—"एक बीज से विशाल वृक्ष उत्पन्न हो जाता है, फिर खोजने से उस बीज का अन्त नहीं मिलता। पर वही बीज वृक्ष के सभी फलों में विद्यमान है।"[3] यहाँ प्रत्यक्षत: आध्यात्मिक सन्दर्भ में आत्मतत्व का विवेचन लक्षित है, परन्तु जिस सामाजिक आधार को सन्त सदा स्वीकार करते हैं, उसके सन्दर्भ में इसका अर्थ व्यापक मानवीय तत्व ही लिया जायगा। उन्होंने जिस मानवीयता के विकास का निरन्तर प्रयास किया है, उसी के मूल्यों के रूप में इस समदृष्टि की स्थापना भी की है। गरीबदास जब निरञ्जन जाति में ऊँच-नीच का भेद अस्वीकार करते हैं, तो उस समय यह जाति सम्पूर्ण मानवता की जाति ज्ञात होती है।[4] क्योंकि इस जाति के विकास की सम्भावनाओं को सन्तों ने समानरूप से स्वीकार किया है, और उसके लिये उन्होंने दया, प्रेम और अहिंसा आदि समान मूल्यों की प्रतिष्ठा भी की है। उन्होंने ऐसे ऊँचे मूल्यों की स्थापना करके समाज के परम्परागत मूल्यों को सहज ही हेय और त्याज्य सिद्ध कर दिया है—"काँच छुये होइ कनक पारस की रहे न इच्छा। घर-घर सम्पत्ति होय कौन फिर माँगे भिच्छा।"[5]

सन्तों का समत्व-भाव गीता के समान है, और जीवन में कार्य को इस

१—दरि० अनु०, पृ० ९४; ५. ८. २—या० बा०, पृ० १७; ६. ३—गु० बा० भु०, पृ० २३७; ५६२ : ध० बा०, पृ० ५२; २४. ४—ग० बा०, पृ० १४५; १६. ५—पलटू भा० १, पृ० ४;९.

भाव से ग्रहण करने की उनकी प्रेरणा भी बहुत कुछ वैसी है। सन्त उद्घोषित करते हैं—'दुःख, सुख, सम्पत्ति, मान और अपमान में तथा शत्रु-मित्र के बीच समान भाव से व्यवहार करना अपेक्षित है।[1] विवेक-बुद्धि वाला सन्त इस प्रकार कनक काँच में अन्तर नहीं करता। यह समत्व बुद्धि सामाजिक मर्यादा के प्रति व्यक्ति के आचरण को निर्धारित करती है, क्योंकि वह फिर न संग्रह का त्याग करेगा और न त्याग का ही परित्याग करेगा अर्थात् वह संग्रह करेगा, पर संग्रह की लोलुप वृत्ति से नहीं, वह त्याग करेगा पर त्याग के अहङ्कार से नहीं। वह समाज में रहकर, उसकी निन्दा-स्तुति के बीच में, उसके काँच-कञ्चन के आकर्षण-विकर्षण में भी उनसे आसक्त नहीं होगा।[2] इसी के साथ सन्तों ने निरन्तर आचरण की समता अर्थात् विचार-व्यवहार, कथनी-करनी के अभेद पर बल दिया है। लगभग सभी सन्तों ने इस प्रसङ्ग को अपनी वाणियों में उठाया है।

सन्तों ने अपनी आध्यात्मिक साधना की भूमिका के रूप में जिस सत्य, अहिंसा, दया, प्रेम, सन्तोष, विनम्रता, शील और सात्विकता के जीवन-यापन पर बल दिया है, वह वस्तुतः सामाजिक सन्दर्भ में ही मानव का आदर्श हो सकता है। सन्तों ने इस जीवन-क्रम को सामाजिक जीवन के रूप में ग्रहण किया है, यह उनके दृष्टिकोण से स्पष्ट है। इन सभी मानवीय मूल्यों का रूप समाज-परक है। जीवन का इन मूल्यों पर आधारित यह स्तर सन्तों के लिये अपने आप में अन्तिम उद्देश्य भले ही न हो, पर वे जिस सामाजिक जीवन को स्वीकार करते हैं उसकी आधारशिला अवश्य है। सन्तों ने आचरण के क्षेत्र में सत्य (साँच) पर बहुत बल दिया है। वस्तुतः यह सत्य उनकी दृष्टि में मानवीय आचरण का मौलिक तत्व है, क्योंकि सामाजिक न्याय इसी पर प्रतिष्ठित हो सकता है। इनकी दृष्टि में झूठे व्यवहार के कारण ही संसार प्रपञ्चनाओं में फँसता है और सत्य के माध्यम से ही उसका उद्धार होता है। सच्चे व्यक्ति को न्याय के सम्मुख प्रस्तुत होने में किसी प्रकार का सङ्कोच नहीं हो सकता। वह न्याय के सम्मुख खरा उतरेगा।[3] यद्यपि सन्तों की दृष्टि यहाँ मूलतः आध्यात्मिक है, पर इसको उनका सामाजिक आदर्श भी स्वीकार किया जा सकता है।

१—प० वा० भा० १, पृ० ६५; १६५ २—वही, भा० २, पृ० ५२; ३९
३—क० ग्र०, पृ० ४९,५० साँच को अङ्ग। इसी प्रकार अन्यों के इस अङ्ग में देखा जा सकता है।

सन्तों ने अपने बहु-चर्चित दया, प्रेम तथा अहिंसा आदि मूल्यों के साथ सङ्गति का महत्व भी उद्घोषित किया है। वस्तुतः जिस लौकिक-जीवन से सन्त सम्बद्ध रहे हैं, उसमें आचरण के विकास में सङ्गति का महत्वपूर्ण हाथ रहता है। उन्होंने लोक को गतानुगतिक पाया है, इसी कारण लोक की दृष्टि से सत्सङ्गति का बहुत महत्व माना जा सकता है। इसी दृष्टि से कुसङ्गति से बचने के लिये भी निरन्तर तर्क किया गया है। कबीर कहते हैं—"आकाश की निर्मल बूँद पृथ्वी पर विकार युक्त हो जाती है। बिना सङ्गति के मनुष्य जड़ से ही नष्ट हो जाता है। सङ्गति के प्रभाव से ही कदली, सीप और भुजङ्ग के मुख में स्वाति नक्षत्र का जल कपूर, मोती और विष बन जाता है।[1]"

सन्तों ने विनम्रता और सन्तोष जैसे गुणों को भी महत्वपूर्ण माना है। वस्तुतः ये दोनों ही वृत्तियाँ सन्तों की सहज जीवन दृष्टि के अनुकूल हैं। कबीर के अनुसार—"व्यक्ति को गर्व नहीं करना चाहिये, 'चाम लपेटे हाड़' का क्या गर्व। छत्र धारण कर घोड़े पर सवारी करने वाले अन्ततः धरती में ही गाड़े जायेंगे। ऊँचे महलों पर भी गर्व करना निरर्थक है, क्योंकि आज या कल में वहीं लेटना होगा जिसके ऊपर घास है। यहाँ इस संसार में किसी रङ्ग पर गर्व करके क्या हँसना, यहाँ किसी का भी कोई ठिकाना नहीं है।[2]" इस प्रकार कबीर विनम्र जीवन वृत्ति का प्रतिपादन करते हैं, जो मनुष्य की अन्य अनेक सद्वृत्तियों की सहायक हैं। इसी प्रकार सन्तों ने लोभ के त्याग के साथ सन्तोष वृत्ति का महत्व प्रतिपादित किया है। "लोभ को दूर करने पर ही सन्तोष आता है जो त्याग और सत्य की सहायक वृत्ति है। साथ ही शोक और कलह का निवारण भी सन्तोष करता है। एक बार सन्तोष वृत्ति प्राप्त होने पर फिर संसार में मनुष्य की भोग-कामनाएँ शमित हो जाती हैं, उस व्यक्ति के लिये सभी स्वर्गादिक सुख भी रोग के समान हो जाते हैं और वह किसी प्रकार की चाह किसी से नहीं रखता।[3]"

इस प्रकार सन्तों ने व्यापक मानवीय मूल्यों की स्थापना, व्यापक सामाजिक भाव-भूमि पर की है। उनके प्रखर व्यक्तित्व ने इस सामाजिक निर्माण के लिये विद्रोह और खण्डन के माध्यम को भी स्वीकार किया है और उनके व्यक्तित्व के

१—क० ग्र०, पृ० ४७, ४८—कुसंगति को अंग और संगति को अंग। इसी प्रकार अन्य सन्तों के इस अंग को देखा जा सकता है। २—सं० क०, पृ० २५४; ३६–४०. ३—च० बा० भा०, पृ० २३; ४.

इस पक्ष से यह भी सिद्ध होता है कि उनमें सामाजिक चेतना पूर्णतः विद्यमान थी। यदि वे केवल समाज-निरपेक्ष व्यक्तिपरक साधना पर विश्वास करने वाले होते तो उनकी दृष्टि समाज की उन विकृतियों, कुरीतियों तथा रुढ़ियों पर न पड़ सकती और न उनकी वाणी में उनके प्रति ऐसा विद्रोही स्वर ही परिलक्षित होता। उनकी विद्रोह की यह भावना ही सामाजिक निर्माण के उन तत्वों से प्रेरित है जिनका कि सन्तों ने अन्ततः प्रतिपालन किया है। यहाँ इस बात का सङ्केत कर देना भी प्रासङ्गिक है कि सन्तों की दृष्टि मूलतः विचार-विवेक की दृष्टि है। वे इसी आधार पर अपने मूल्यों को समस्त शास्त्रीय परम्पराओं से मुक्त होकर मुक्तभाव से अन्वेषित करना चाहते हैं। उनका विवेक सम्बन्धी यह आग्रह ही उनके विद्रोह और उनके निर्माण, दोनों की प्रेरक शक्ति रहा है।

सामाजिक स्तर—सन्त साहित्य का विकास भारतवर्ष में मुस्लिम समाज के सम्पर्क में आने के साथ शुरू होता है। इस लम्बे काल में राजनीतिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में इस्लामी प्रभाव के बढ़ने के साथ ही सामाजिक व्यवस्था पर भी उसका प्रभाव बढ़ता गया है। इसके पूर्व भारतवर्ष में जितने अन्य धार्मिक सम्प्रदाय थे, वे अपनी प्रतिद्वन्दिता में भी परम्परा से चले आते सामाजिक व्यवस्था के इस रूप के विकास में बाधक नहीं हो सके। परन्तु मुसलमानों के आने के बाद हिन्दू धर्म को एक बड़ी चुनौती का सामना करना पड़ा। हिन्दू धर्म की बाहरी व्यवस्था प्रायः इस सामाजिक सङ्गठन के आधार पर चली आ रही थी और इसी ढाँचें के लिये नवागतुक धर्म सबसे बड़ा खतरा दिखाई दे रहा था। मुसलमानों में प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से समान अधिकार रखता है और यह सङ्गठन तथा एकता की भावना इस धर्म का मौलिक आधार रहा है जब कि भारतीय समाज अनेकानेक वर्णों और जातियों में विभाजित ऊँच-नीच की भावना से आक्रान्त था।

इसी समय सन्त एक ओर सिद्धों की सामाजिक व्यवस्था की विद्रोही परम्परा में और दूसरी ओर वैष्णव-धर्म के समन्वयशील उदार आन्दोलन के अन्तर्गत सामाजिक विषमता और स्तरभेद मिटाने का प्रयत्न करते हैं। सन्तों के पहले, जैसा कि कहा गया है, भागवत धर्म ने सामाजिक बन्धन को ढीला किया था और इसी प्रकार शैव-सम्प्रदायों ने भी परम्परागत सामाजिक रुढ़ियों का त्याग किया। सिद्धों, योगियों और अन्य इसी प्रकार के सम्प्रदायों ने भी

लोकजीवन में उदारता की इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया ।[1] परन्तु इस्लाम-धर्म के प्रवेश के पश्चात् एक ओर सामाजिक विषमता की यह स्थिति अपने यथार्थ रूप में अधिक विकृत हो चुकी थी और दूसरी ओर सन्तों की अपनी सामाजिक निम्न-स्थिति ने इसका तीखा अनुभव उनको कराया था । यही कारण है कि सामाजिक विषमता और स्तर-भेद के प्रति सन्तों की भावना अधिक विद्रोह-मूलक रही है ।

हिन्दू और मुसलमान—इस समय के प्रचलित अनेकानेक धार्मिक सम्प्रदायों में सन्तों की दृष्टि मुख्यतः हिन्दू और इस्लाम धर्म पर गयी है । वैसे उन्होंने तत्कालीन अनेक सम्प्रदायों के वाह्याडम्बर का उद्घाटन भी किया है, पर जहाँ तक व्यापक धर्म की भावना का प्रश्न है उनके सामने सदा एक दूसरे को चुनौती देने वाले ये धर्म आये हैं । सन्तों ने इन दोनों धर्मों को आन्तरिक दृष्टि से समान माना है, इनके विरोध को केवल वाह्यारोपित बातों तक सीमित स्वीकार किया है । कबीर कहते हैं—"ये हिन्दू और तुरक कहाँ से आये हैं, इन भिन्न मार्गों को चलाने वाला कौन है" और इसी प्रकार दरिया साहब (बि०) भी कहते हैं कि "एक ही मिट्टी के नानाविध बर्तन होते है, इनमें हिन्दू या तुरक किसको कहा जाय ?" इस प्रकार सन्त हिन्दू और मुसलमान (सन्त प्रायः 'तुरक' शब्द से यही भाव व्यक्त करते हैं) दोनों को सम-भूमि पर प्रतिष्ठित करने में प्रयत्नशील हैं । यहाँ उनके राम और रहीम, मन्दिर और मस्जिद तथा वेद और कुरान एक ही भाव को व्यक्त करने वाले स्वीकार कर लिये गये हैं ।[2]

सन्तों ने हिन्दू और इस्लाम, दोनों धर्मों के कर्मकाण्ड और वाह्याडम्बरों की कटु आलोचना करते हुए यह सिद्ध किया है कि मौलिक धार्मिक दृष्टि से दोनों केवल समान ही नहीं है, वरन् उनमें विभेद उत्पन्न करना बहुत बड़ा भ्रम है । इस युग की धार्मिक कटुता और विद्वेष के वातावरण में धर्म के व्यापक समन्वयशील तथा उदार तत्वों पर बल देना और विरोधी तत्वों का खण्डन करना समाज के स्तर पर बहुत साहस और निर्भीकता की अपेक्षा रखता था । कबीर तथा कतिपय अन्य सन्तों ने भी निर्द्वन्द्व स्वर में हिन्दुओं

१—राजवली पाण्डेय, आलोचना अङ्क १, पृ० १३. २—सं० क०, पृ० ६८; ८ : दरि० अनु०, पृ० ६४; ५. ८ : क० ग्र०, पृ० १०६; ५८ : ग० बा०, पृ० १३०; ६—'कैसे हिन्दू तुरक कहाया, सब ही एके द्वारे आया ।'

तथा मुसलमानों की वेद-कुरान, व्रत-रोज़ा, मन्दिर-मस्जिद, पूजा-नेमाज और जनेऊ-सुन्नत आदि धार्मिक रुढ़िवादिता का खण्डन किया है और इसके मूल में उनके समक्ष उस व्यापक मानवीय समाजपरक धर्म की घोषणा है जिसका निर्देश ऊपर किया गया है।

कबीर कहते हैं—"काज़ी तुम किस किताब का बखान करते हो, उसको पढ़ते-सुनते सभी नष्ट हो जाते हैं, किसी को कोई खबर नहीं मिलती। तुम्हारा आग्रह मुसलमान (तुर्क) बनाने का है, पर यदि खुदा मुझको मुसलमान बनाना चाहेगा तो मेरी सुन्नत खुदबखुद हो जायगी। फिर औरत का क्या किया जायेगा, वह मुसलमान कैसे होगी? और वह अर्धाङ्गिनी है, फिर तो हिन्दू ही रहना पड़ेगा। अतः यह किताब (कुरान) के कारण जो जुल्म करते हो, उसे छोड़कर राम भजन करो।[1]" इस प्रकार के लोकपरक और सहज बुद्धिगम्य तर्कों के माध्यम से सन्तों ने दोनों धर्मों की वाह्य विडम्बनावों की निरर्थकता को साबित कर उसको समान भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है।

वर्ण—यद्यपि इस काल में अनेकानेक जातियों तथा उपजातियों के विकास के साथ समाज का चतुर्वर्ण-विभाजन अधिक महत्वपूर्ण नहीं रह गया था, परन्तु उसका ढाँचा चला आ रहा था। आश्रम और वर्णों की चर्चा इस युग में भी की जाती रही है[2], यह अलग बात है कि आश्रम और वर्णों की प्राचीन मर्यादा नष्ट हो चुकी थी। सन्तों में कुछ ने इन वर्णों की प्राचीन मर्यादाओं का निर्देश करते हुए अपने काल में उनके उन मर्यादाओं से च्युत होने पर खेद प्रकट किया है। सुन्दरदास शास्त्रीय परम्परा के अधिक निकट होने के कारण वर्ण-व्यवस्था के प्रति इस प्रकार का दृष्टिकोण विशेष रूप से रखते हैं। इनके अनुसार सभी वर्णों ने अपने मौलिक कर्तव्य का त्याग

१—सं० क०, पृ० ९८; ८. २—क० ग्र०, पृ० १५०; १८३. : क० ग्र०, पृ० ७६; ६७ : गु० ग्र०, पृ० ८००; ४, ५ : वही, पृ० ८०६; ३—बाभरण, खत्री, सूद वेस चारि बरण चारि आसरम : वही, पृ० १००२; ४, १ : दरि० भा०, पृ० २६; ५ आदि।

कर दिया है, सभी ने अपनी मर्यादा खो दी है, और अपनी-अपनी महत्ता की डींग मारते हैं।[१]

ब्राह्मण—सन्तों की वाणियों में ब्राह्मण तथा पण्डितों की केवल आलोचना या निन्दा ही नहीं की गई है, वरन् तत्कालीन स्थिति में उनकी जीवनचर्या, रहन-सहन और खान-पान आदि का उल्लेख भी है। ब्राह्मण वेद-पाठ करते हैं, सन्ध्या-तर्पण करते हैं तथा षट्-कर्मों का पालन करते हैं। वे चार आश्रमों का पालन करते हैं तथा गायत्री का जाप करते हैं और अपने इस नियम पालन करने में विशेष रूप से गर्व भी करते हैं।[२] कबीर अपने समय के नियमों को पालन करने वाले ब्राह्मण का इस प्रकार उल्लेख करते हैं, यह अलग बात है कि उनके इन आचारों के प्रति उनका भाव है—'आप न पावे नाना भेदा'—अथवा—'पूछो जाप कुमति किन पाई।'

सन्त दूलनदास ने अपने समय के सात्विक ब्राह्मण का चित्रण इस प्रकार किया है—"ये अठारह वर्णों में श्रेष्ठ और व्याकरण में पारङ्गत हैं। पैरों में खड़ाऊ पहनते हैं, इन्द्रियों (शरीर) के स्वाद से अपरिचित हैं, कुश की मुद्रिका धारण करते हैं, देववाणी में बोलते हैं तथा अन्न और आमिष भोजन को भी ग्रहण नहीं करते, केवल दूध पान ही करते हैं। शरीर पर केवल धोती और उपरना धारण करते हैं और निरन्तर वेद विद्या के रङ्ग में रत रहते हैं। तीर्थ और नदी के किनारों पर अनेक विद्यार्थियों सहित रहते हैं। ऐसे ब्राह्मण तपस्या में संलग्न भूमि-शय्या पर ही शयन करते हैं।[३]" दूलन के इस साक्ष्य पर इस युग में ऐसे ब्राह्मणों का अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु साथ ही ऐसे ब्राह्मण-पुरोहितों का चित्र भी मिलता है जो "बगल में शास्त्र ग्रन्थों को दबाये गीता के मत का उल्लेख करते फिरते हैं और नरक से बचाने का लोभ दिखाकर धोती और पैसा वसूलते हैं। ये ब्राह्मण बलि प्रदान करते हैं और मन्दिर (देवता) के सामने भैंसा चढ़ाते हैं। वैसे ये तिलक रचाकर जनेऊ धारण करते हैं पर इनको बकरे का सिर काटने में हिचक नहीं होती।"[४] इन दोनों चित्रों को सामने रखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें प्रथम वैष्णव का और दूसरा शाक्त-ब्राह्मण का है।

१—सु० ग्र० भा० २ वि० को अंग १२; सा० स्वरूप वि० को अंग ४५, वही ४२। इस प्रकार सुन्दरदास ने अलग-अलग वर्णों के गुणविशेष का भी वर्णन किया है, जैसे ब्राह्मण में सतोगुण प्रधान, क्षत्रिय में रजोगुण, वैश्य में तपोगुण, रजोगुण तथा शूद्र में तपोगुण प्रधान होता है। २—क० ग्र०, पृ० २४०; ५. ३—दूल० वा०, पृ० २३; २ ४—दरि० वि० अनु०, पृ० १०२; ६. ९, १०.

वस्तुतः सन्तों ने वर्णाश्रम धर्म के श्रेष्ठत्व के अभिमानी ब्राह्मण का प्रत्यास्थापन करके अपनी साधना में अग्रसर होने वाले साधक के रूप में ब्राह्मण की कल्पना भी की है—'बाहमन सोई जो ब्रह्म समाई। अजर जरे धुनि नाद बजाई।' परन्तु यहाँ यह ब्राह्मण परम्परागत वर्ण का व्यक्ति न होकर साधक की उच्चता का प्रतीत मात्र है, क्योंकि सन्त गुलालसाहब के अनुसार कर्म करते हुए ब्राह्मण नहीं जाना जा सकता क्योंकि इस अज्ञान में वह भूलकर भटकता ही रहेगा। वस्तुतः जीवन-मरण धर्मी व्यक्ति ब्राह्मण कैसे हो सकता है, अतः ब्राह्मण कोई नहीं है।[१] ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सन्तों के काल के प्रारम्भ में ब्राह्मण का सम्मान समाज में पर्याप्त था, उनमें से अनेक अपने आचरण में पवित्र होते थे, खान-पान में नियन्त्रण रखते थे, शुद्ध जीवन व्यतीत करने पर विश्वास रखते थे (यज्ञोपवीत धारण करते थे), शुभ और अशुभ पर विश्वास रखते थे और ये व्यापार के क्षेत्र में भी कुशल और सत्यवादी होते थे।[२]

क्षत्रिय—ब्राह्मण के बाद हिन्दू-समाज में क्षत्रियों का महत्व रहा है। ऐसे युग भी आये हैं जिनमें राजसत्ता के अधिकारी होने के कारण क्षत्रियों का स्थान सर्वोपरि हो गया है और ब्राह्मण उनके मुखापेक्षी हो गये हैं। सन्तों के काल के पूर्व ऐसी अनेक जातियाँ इस देश में हुई हैं और बाहर से भी आई हैं जिन्होंने राजसत्ता प्राप्त करके अपने को क्षत्रिय घोषित किया है। ऐसी जातियों का सम्मान समाज में क्षत्रियों के समकक्ष हो गया है।[३] सन्तों के काल में क्षत्रियों के प्रति यह भावना सामान्यतः प्रचलित थी कि उनका कर्तव्य शासन करना, प्रजा-पालन करना और शत्रु से युद्ध करना है। कबीर के अनुसार क्षत्रिय वही है—"जो अपने क्षत्रिय धर्म का निर्वाह करता है, जो कर्म-क्षेत्र में शोभा प्राप्त करता है और जो शत्रुओं से युद्ध कर अपने जनों की रक्षा करता है। यह क्षत्रिय जीव के प्रतिपालन के लिये ही जीव की हत्या करता है और देखते-देखते ही अपने कर्तव्य कर्म के लिये अपना जीवन दाँव पर लगा देता है। यह निशाने पर चोट करके शत्रु से जूझ जाता है।'[४] वस्तुतः यह कबीर के समय की क्षत्रिय सम्बन्धी

१—गु० बा० भु०, पृ० ३४७; ८७७. २—हि०सा०हि० परि०, भा०२, पृ० ४१ : भ० भा० स० डा० ओझा, पृ० ३२. ३—हि० सा० बृ० इ०, भा० १, पृ० १०३. ४—क० बी०, पृ० १०३; ८.

व्यापक धारणा का स्वरूप है, जिसको उन्होंने आध्यात्मिक प्रसङ्ग में व्यक्त किया है।

क्षत्रिय वर्ग के लोग प्रायः शासक होते थे और उनके राजसी ठाठ- बाट का अनुभव भी सन्तों को है। दूलन के अनुसार ब्राह्मण जहाँ सात्विक जीवन व्यतीत करते हैं, क्षत्रिय वर्ग के लोग अपने सूबे के (प्रदेश) लोगों से सेवा करवाते हैं। वे पंखा, चँवर तथा मुरछल आदि ऐश्वर्य के उपकरणों से युक्त होकर शोभा युक्त तम्बुओं के नीचे कालीनों पर मसनद के सहारे विराजते हैं और दिन-रात उनके सामने वाद्य-यन्त्रों के सहित नर्तकियाँ नृत्य करती है।[१] यह चित्र उस समय के राज-सत्ताधारी क्षत्रियों का है। परन्तु इस ऐश्वर्य-विलास के बावजूद क्षत्रियों की प्रसिद्धि इस समस्त काल में वीर-योद्धा के रूप में रही है। गुलाबसाहब के अनुसार—"क्षत्रिय वही है जो शत्रुओं पर चारों ओर से आक्रमण कर अपनी दुहाई (छत्र) फिरवा दे, डङ्का बजाकर यम को जीतने का भी साहस रखता हो और संसार में अपनी नौबत बजवा सके। वह अपनी राजनीति का विस्तार एक छत्र करता है। वह अपराजेय और मृत्यु को चुनौती देने वाला होता है। वह किसी दूसरे का आज्ञानुवर्ती न होकर अपना हुक्म ही चलाता है" यह इस समय के स्वाभिमानी क्षत्रिय की कल्पना है, परन्तु सन्त अपनी मानवतावादी दृष्टि से राजसत्ता को चलाने वाले क्षत्रिय के रूप में उसके आदर्श भी प्रतिष्ठित करते हैं—"यह क्षत्रिय राजनीति का पालन धर्मनीति के आधार पर करता है, सत्य पर आरुढ़ रहकर झूठ का त्याग करता है। वह निर्भीक भाव से क्षमा, शील और विवेक का आचरण करता है।[२]

वैश्य—वैश्य वर्ण के हाथ में भारतीय समाज का व्यवसाय रहा है। साधारणतया वाणिज्य-व्यवसाय से सम्बद्ध रहने के कारण राजनीतिक परिवर्तनों का प्रभाव उन पर कम पड़ा है, इसी से इस वर्ग का आर्थिक महत्त्व प्रायः बना रहा है। पहले कृषि-कर्म तथा पशु-पालन का कार्य वैश्य वर्ण के हाथ में था, परन्तु इस काल में इनका सम्बन्ध वाणिज्य-व्यवसाय से ही रह गया। वस्तुतः आगे चलकर कृषि और पशुपालन करने वाले वैश्य, शूद्रों में गिने जाने लगे। बौद्धों और जैनियों के मतानुसार कृषि

१—दूलन० बा०, पृ० २२: १. २—गु० बा० भु०, पृ० ३४६, ८७५.

करना हिंसा माना गया और इसी कारण सातवीं शताब्दी से, अधिकतर वैश्यों ने इन कार्यों को छोड़ दिया। ह्वेनसाङ्ग ने इन्हें व्यापारी कहा है।[१] सन्तों ने इसी कारण वैश्यों को केवल वाणिज्य-व्यवसाय करने वालों के रूप में स्वीकार किया है।

दूलनदास के अनुसार वैश्य साहूकार है और समस्त व्यापार उनके हाथ में है। उनका भण्डार भरा-पूरा है और वे कुबेर के समान सम्पन्न हैं। उनकी सुन्दर हवेली ऐसी बनी हुई है मानों जवाहिर की बनी हो। इनके ऐश्वर्य और सम्पत्ति को देखकर देश में अकाल पड़ने की कल्पना नहीं होती। इनकी साख देश-देश में चलती है—दरिया के उस पार लों—कौन ऐसा है जो इनके प्रमाण को न स्वीकार करे। उनकी सम्पत्ति का ऐसा ही विस्तार है, जिसका पता लगाना सम्भव नहीं है।[२] परन्तु दूलन द्वारा प्रस्तुत वैश्य का यह चित्र उच्च वर्ग के श्रेणी का है।

गुलाल साहब ने इस वर्ण के व्यावहारिक जीवन के सन्दर्भ प्रस्तुत किये हैं—"वस्तुतः वैश्य (बनिया) वही है जो वाणिज्य (बनियाई) जानता हो। माल खरीदना ही उसका कर्म है। वह ठाठ-बाट में अपनी दूकान लगाता है (बयठकी करे), लेन-देन के लिये अपनी कोठी (माल से) भरता है। वह श्रेष्ठ माल की भरपूर खरीद करता है, जिसकी तौल घटती नहीं है अर्थात् व्यापार में उसकी कोठी माल से सदा भरपूर रहती है। वह शरीर (तलरी-पलड़ा) और चित्त (डांडी) से पूर्णतः व्यवसाय में संलग्न रहता है जिससे उसे घाटे का जोखम नहीं है। वह सदा ऐसा सौदा करता है जिससे उसे सदा लाभ होता है और अन्न घर में भरा रहता है। वह लेन-देन ऐसा करता है और देना-पावना इस युक्ति से करता है कि अपनी उचित तौल के धर्म से हटता नहीं। बनियाँ लाभ के नाम से दूसरों की ख़ातिर करता है और रात-दिन अपने काम में मन लगाता है।" अपने सामाजिक आदर्श की दृष्टि से सन्त आध्यात्मिक प्रसङ्ग में इस बनियाँ के सम्मुख यह आदर्श प्रस्तुत करते हैं—"वही वैश्य अपनी आयु का उपभोग करता है अर्थात् जीवन सार्थक करता है जो सीधे भाव को सबसे सत्य ही कहता है और सदा सत्य का व्यवहार करता है, कभी झूठ नहीं बोलता। वह अपने व्यवसाय में कुकर्म से बचता है।"[३]

१—म० का० मा० स० डा० ओझा, पृ० ३६. २—दूलन० बा०, पृ० २४, ४. ३—गु० बा० भु०, पृ० ३५२; ८९५.

वैश्य सामान लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाते हैं और उनकी इन व्यावसायिक यात्राओं में उनकी स्त्रियाँ साथ नहीं जातीं। वे पाँच मन की पूँजी साथ रखते हैं। वे अपना सौदा उच्च स्थान पर रखते हैं निर्जन प्रदेश में (देश निरपनियाँ) जहाँ नगर, हाट, दूकानें नहीं हैं वहाँ उनका व्यवसाय कैसे चल सकता है। कभी सन्तों ने ऐसे बनियों का उल्लेख किया है जिनके कारण उनके नाम के साथ आज तक बेईमानी और धोखाधड़ी जुड़ी हुई है—"बनियाँ अपनी आदत नहीं छोड़ता। वह तौलते समय पूरा का पूरा बाँट खसका लेता है, डण्डी और पलड़ों को मिलाता है, पसंगे में चतुराई करता है और इस प्रकार कभी पूरी तौल नहीं तौलता। ऐसे बनियाँ की पारिवारिक स्थिति भी चिन्त्य है। उसके घर में सबसे झगड़ा करने वाली बनियाँ की पत्नी है और अमृत में विष घोलने वाला अत्यन्त दुष्ट उसका लड़का है।[1]"

शूद्र—इस काल तक जैसा ऊपर कहा गया है, शूद्रों के अन्तर्गत सेवा करने वाले वर्ग के अतिरिक्त अनेक कृषि करने वाली तथा पशु पालन करने वाली जातियाँ आ गई थीं। इसके परिणाम स्वरूप इस वर्ग में सैकड़ों जातियाँ विकसित हो चुकी थीं जो अपनी ऊँच-नीच की भावनाओं से आक्रान्त थीं। अधिकांश सन्त इन्हीं जातियों से आये हैं। इन कारणों से विभिन्न जातियों का उल्लेख तो सन्त-काव्य में विस्तार से हुआ है, परन्तु शूद्रों का चतुर्वर्ण के अन्तर्गतर्ण उल्लेख के अतिरिक्त विशेष विस्तार नहीं मिलता। दूलन ने अपने वर्णों के वर्णन में शूद्र जाति के निम्नवर्गीय जीवन का सङ्केत भी दिया है। इसी प्रकार गुलाल साहब भी मानते हैं—"शूद्र स्वामी की सेवा-भाव से पूर्णतः परिचित होता है, वह और दूसरे को मन में नहीं लाता और न स्वामी के प्रति कभी धोखे का भाव ही लाता है।"[2] यद्यपि यहाँ प्रसङ्ग आध्यात्मिक है, पर मनोवृत्ति का परिचय स्पष्ट है।

जातियों का विकास—सन्तों के काल तक उपर्युक्त वर्ण-व्यवस्था के प्रचलित ढाँचे के अन्तर्गत अनेकानेक जातियाँ प्रचलित हो चुकी थीं। उनमें विकसित होती हुई ऊँच-नीच की भावना का आधार स्वीकृत था, इसी कारण

१—पलटू बा० भा० ३, पृ० ३१, ६९: वही, पृ० ४४; ९४ : वही भा० १, पृ० ७७, १९७. २—गु० बा० भु०, पृ० ३४९, ८९१.

ये समस्त जातियाँ किसी शृंखलाक्रम में अवस्थित थीं। ये जातियाँ पेशों के आधार पर विकसित हुई थीं, क्योंकि पेशे अकसर मौरुसी होते थे। प्रत्येक पेशे के लोगों का स्थायी वर्ग होता था, जो क्रमशः एक जाति के रूप में स्वीकृत हो जाता था। परन्तु इस प्रकार की जातियों का विकास वैश्यों और शूद्रों में अधिक देखा जा सकता है। समाज की विभिन्न प्रकार की सेवाएँ करने वाले तथा दस्तकारी करने वाले लोगों की जातियाँ हिन्दू तथा मुसलमान दोनों धर्मों में समान रूप से पाई जाती हैं। हिन्दू-समाज के अन्तर्गत समाज की निम्न-स्तर की सेवा करने वालों की ऐसी अनेक जातियाँ पहले से चली आ रही थी, जिनको शूद्र के बाद स्थान मिलता था। अलबरुनी के अनुसार—"शूद्रों के बाद अन्त्यजों का नम्बर आता है जो भिन्न-भिन्न प्रकार की सेवा करते हैं और जो चारों वर्णों में गिने नहीं जाते, जैसे धोबी, चमार, मदारी, टोकरी और ढाल बनाने वाले, मल्लाह, धीवर, शिकार करने वाले तथा जुलाहे। ये लोग शहरों और गाँवों के पास चारों वर्णों से अलग रहते हैं।" इस विषय में ह्वेनसाङ्ग ने भी लिखा है कि "बहुत से ऐसे वर्ग हैं जो अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में से किसी को भी नहीं मानते।[1]" यहाँ यह विशेष ध्यान देने की बात है कि हमारे आलोच्य सन्तों में अनेक इन्हीं अन्त्यज जातियों के हैं।

जातियों में विकसित होते भेद-भाव तथा उनके अन्तर्गत व्याप्त ऊँच-नीच की भावना को मिटाने में जो शक्तियाँ इस काल में प्रयत्नशील थीं उनमें सन्त भी महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने वर्णों और जातियों में विभक्त समाज को एकता के सूत्र में बाँधने का महान् प्रयत्न किया है, यह अलग बात है कि वे अपने इस प्रयत्न में सफल नहीं हो सके।[2] जातियों की यह स्थिति समाज के लिये अहितकर है, इस बात का अनुभव सन्तों से अधिक किसको हो सकता था? वे स्वयं ऐसे समाज से सम्बद्ध थे जहाँ इसका सबसे अधिक कटु अनुभव मिलता है। साथ ही वे अपने काल के उस महान् आन्दोलन के अङ्ग थे जिसने समाज की एकता को हासिल करने का दायित्व ग्रहण किया था। कबीर ने घोषित किया—'जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिये ज्ञान। मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान।' वस्तुतः सन्तों के लिये जाति का प्रश्न वैसे ही निरर्थक था, साधना के क्षेत्र में किसकी कौन जाति।[3] परन्तु इसका यह अर्थ

१—म० का० भ० स० डा० ओझा, पृ० ३७. २—हि० का० इ० डा० ताराचन्द पृ० ३७७. ३—धर्मेन्द्र अभि० ग्र०, सन्तों की जाति, पृ० १४८, १५०.

नहीं है कि जाति के सम्बन्ध में सन्तों का विद्रोह और उनकी एकता की भावना सामाजिक सन्दर्भ नहीं रखती है। सामाजिक आधार पर अपनी साधना को प्रतिष्ठित करने वाले सन्तों की दृष्टि सदा समाजपरक रही है। इसी प्रकार नानक मानते हैं कि मूलतत्व का परिचय प्राप्त करना मानव जीवन का उद्देश्य है, यह जाति-भेद उसको आगे नहीं ले जा सकता।[1] वस्तुतः हरेक जाति का मनुष्य समान है। उसके मनमें दया तथा अहिंसा के भाव समान रूप से उत्पन्न होते हैं, इसमें जाति का कोई महत्व नहीं है। कामी पुरुष क्या कभी किसी जाति अथवा वर्ण का भी ध्यान करता है?[2] सन्त मार्ग मानवीय मूल्यों पर ही प्रतिष्ठित है, ऐसा कहा जा चुका है। तुलसी साहब के अनुसार—"इस मार्ग में जाति-पद्धति स्वीकृत नहीं है; सन्त, जाति-अजाति नहीं मानता। वह इसको केवल संसार का व्यवहार मानता है, जिससे मनुष्य उबर नहीं पाता।"[3]

जातियाँ—वर्णों से विकसित पेशेवर जातियाँ प्रायः सभी वर्णों से आई हैं, परन्तु उच्च वर्णों से अपेक्षाकृत ऐसी जातियों का बहुत कम विकास हुआ है। इन जातियों ने बहुत कुछ पेशे के आधार पर अपना व्यक्तित्व गठित किया है और साथ ही इनमें अपने इन पेशों का सन्दर्भ सुरक्षित है। फिर भी इस काल में ऐसे पेशों की स्थिति भी है जिनके करने वालों की जातिगत विशिष्टता निर्धारित नहीं हो सकी और जिन जातियों की अपनी वर्णगत विशेषता निश्चित हो चुकी थी, उनसे ये भिन्न हैं।

भाट—चारण, जगाति तथा भाट ऐसी जाति है जो अपना सम्बन्ध ब्राह्मण-वर्ग से स्थापित करती है, यद्यपि उनको यह सम्मान कभी प्राप्त नहीं हो सका। इनमें भी चारणों और ब्रह्मभट्टों की स्थिति भिन्न है। सन्तों ने भिक्षावृत्ति ग्रहण करने वालों, कवित्त बनाने वालों तथा जिह्वा की खेती (प्रशंसात्मक उक्ति) करने वालों भाटों का उल्लेख किया है। यह भाट प्रेम-कथाएँ गाता हुआ विचरण करता है और सुन्दर वाणी में लोगों का मनोरञ्जन करता है तथा राजाओं की प्रशंसा एवं यश का गान करता है।[4]

कायस्थ—कायस्थ जाति की वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत क्या स्थिति रही है, यह बहुत स्पष्ट नहीं है। परन्तु प्रचलित मत इनके बारे में यही रहा है कि

१—गु० ग्र० प० ३४९ ।१। रहाऊ ।३।. २—रा० चरन बा० स्नेही, पृ० १८४;४०. ३—तु० श० रामायन, पृ० ३६२; १८. ४—गु० बा० भु०, पृ० ३५८;६०५.

ब्राह्मण तथा क्षत्रिय आदि वर्णों में जिन लोगों ने लेखन तथा अहलकारी का काम किया वे बाद में अलग होकर कायस्थ जाति के अन्तर्गत सङ्गठित हो गये। डॉ० ओझा ने आठवीं शताब्दी के कोटा के पास कणसवा नामक स्थान के शिला-लेख के साक्ष्य पर कहा है कि ये लोग राज्य-कार्य में ही भाग लेते थे और सरकारी दफ़्तरों में होने के कारण इन्हें राज्य की गुप्त बातें ज्ञात रहती थीं, जिससे षड्यन्त्रों तथा कूटनीतियों में भी इनका हाथ रहता था।[1] सन्तों ने अपने काव्य में इन बातों का साक्ष्य प्रस्तुत किया है। धरनीदास ने कायस्थ को राजकीय ओहदा का व्यक्ति माना है जो दफ़्तर में कागज, कलम और स्याही से कचहरी चलाता है। वह हर प्रकार के विवरण और हिसाब तैयार करता है।[2] इसी प्रकार गुलाल साहब भी कायस्थ को लेखन में कुशल स्वीकार करते हैं—"जो अपने लेखन से लोगों की रक्षा (न्यायदण्ड से) करता है, वह किताब, कलम, दावात तथा मसि से सम्बन्ध रखता है, जिल्दें लिखकर भरता है, एक अक्षर लिखने में भी गाफ़िल नहीं होता, बन्द तैयार करता है और अपनी विद्या-कौशल से सबको समझा देता है। वह घर में लगे हुए झगड़े को निपटा देता है। वह तेरिज के खाते तैयार करने में एहदाम या दिरङ्ग (सिक्का) का फर्क नहीं आने देता। वह एक बीघा के लिए बहुत कर (जक़ात) लगा देता है, काम पड़ने पर मिसल (फाइल) नहीं देता है, जुल्मी हाकिम के रूप में अदालत चलाता है और हर बार झगड़ा करता है—सम्भवतः लेन-देन के मामले में।" वस्तुतः गुलाल साहब ने कायस्थ के इस पक्ष पर प्रकाश डाला है जिसके कारण ये अपने कौशल से दूसरों के साथ अन्याय करने वाले प्रसिद्ध रहे हैं—'कायस्थ का काम दया और विद्वेषहीनता का होना चाहिये। ऐसा नहीं कि ज्ञान का उपयोग धनोपार्जन के हेतु किया जाय। अनेक वाद-विवाद (झगर-रगर) में वह मिसल को दुरुस्त कर देता है, दूसरे का लाभ करके अपना ही सब कर लेता है, फिर भी वह किसी को सन्तोष नहीं देता। वह बिना क्षमा किये ही सबसे (अपना हक) लेता है और यदि साहब (अधिकारी) को प्रसन्न कर पाता है तो लोग और भी देते हैं। वह सरकार को भी प्रसन्न रखता है और साथ ही पाई-पाई का फैसला भी करता है।" इस प्रकार आध्यात्मिक सन्दर्भ में गुलाल साहब कायस्थ जाति की तत्कालीन प्रचलित मान्यताओं पर प्रकाश डालते हैं।[3]

१—म० का० भ० स० डा० ओझा, पृ० ३८, २—धरनी बा०, पृ० ३;५.
३—गु० बा० भु०, पृ० ३५१;८९३.

कलवार—इस शब्द का प्रयोग सन्तों ने कलाल, कलार, कलालि तथा कलवार के रूपों में किया है। इस जाति का सम्बन्ध मदिरा का व्यवसाय करने वालों से रहा है। सन्तों ने प्रायः मदिरा को तैयार करने वाली जाति के रूप में इन्हें स्वीकार किया है। रैदास के अनुसार 'कलाला एक प्याला दे' में कलाली मदिरा बेचने वाला है। कबीर भी कलाली का वर्णन भट्टी पर गुड़ की शराब खींचने वाले के रूप में करते हैं। दूलन साहब भी इसी प्रकार भट्टी के माध्यम से मदिरा तैयार करने का रूपक देते हैं, जिसका सम्बन्ध वस्तुतः कलाल से है। गुलाल साहब कलवार को भी साधक के रूप में अपने रूपक में प्रस्तुत करते हैं परन्तु उसमें भी इस जाति की कुछ विशेषताओं का उल्लेख हो जाता है—"कलवार के कर्म नाश-कारक होते हैं। वह दूसरों को मद में मस्त करने वाला होता है। भट्टी में आग जलाकर मदिरा तैयार करता है और और मदिरा का पान कर मौज में मस्त होता है। वह नियम धर्म से अपरिचित रहता है।" वस्तुतः मदिरा का व्यापार करने के कारण इस जाति को मद्यपी के रूप में भी अङ्कित किया गया है। तुलसी साहब के अनुसार—"कलार का पुत्र माँ को भी मदिरा पान कराता है और स्वयं रोज भर-भरकर प्याले ढालता है। भट्टी से शराब के उतरते ही वह मद के ख्याल में मग्न हो जाता है।"[1] यह जाति वैश्यों के निम्न स्तर से सम्बद्ध है।

सुनार—स्वर्णकार या सुनार की जाति अपने कला-कौशल के लिये मध्यकाल में विशेष ख्याति प्राप्त कर चुकी थी। उसके सोने के जड़ाऊ काम और नक़्क़ाशकारी के आभूषण, उस युग के नागरिकों को विशेष प्रिय थे। मुग़ल काल में इनकी कारीगरी की प्रशंसा राजदरबारों में भी होती थी और ऊँचे कारीगरों को राज्याश्रय प्राप्त था।[2] सन्तों का ध्यान सुनार के द्वारा कञ्चन के शुद्ध करने की ओर विशेष था—'शुद्ध करि कञ्चन सुनार जु लहत है' अथवा—'जैसे सोना तापि अगिन में निरमल करे सोनार'।[3] इसी प्रकार कभी सन्तों ने सुनार की पेशागत विशेषता का भी उल्लेख किया है—"वही सुनार प्रतिष्ठा प्राप्त करता है जो अपने धर्म (पेशे) में खोट नहीं करता अर्थात् किसी प्रकार की बेईमानी नहीं करता। वह सोना के परिशोधन

१—रवि० उनका काव्य, पृ० २०; ४० : क० ग्र०, पृ० १३६; १५५ : दू० बा०, पृ० १९; ८ : गु० बा० भु०, पृ० ३७१; ९२७ : तु० श० भा०, १, पृ० ३५; ६. २—डॉ० अशरफ़, पृ० ९२, १०० : जहाँ० की आ० क०, पृ० ७०६. ३—सुन्द० वि०, पृ० ११५; २२ : चरन०, भा० २, पृ० ४०; १९.

की प्रक्रिया में किसी प्रकार का कुकर्म करके अपने पेशे को बदनाम नहीं करता। उसे दाम-दाम की चूक का ध्यान रखना चाहिये। वैसे इस पेशे में चोरी करने की प्रवृत्ति प्रेरित होती है पर अपने चित्त को स्थिर करके ही सुनार का पेशा करना चाहिये। ऐसे सुनार जो अपने लेन-देन के पेशे में खरे माल को भी खोट बतलाकर 'बाकी' काटते हैं और इस प्रकार पचीसों रत्ती सोना कम कर देते हैं या काँटा ठीक नहीं रखते और चतुराई से खोट करते हैं, वे अपने धर्म का निर्वाह नहीं करते'।[१]" इसी प्रकार इस युग की सुनार जाति के दोनों पक्षों का सङ्केत यहाँ मिल जाता है। सुनार जाति वैश्यों के अन्तर्गत आने वाली, परन्तु उनके निम्न स्तर से सम्बद्ध जाति है।

हलवाई—सन्तों ने हलवाई जाति का बहुत कम उल्लेख किया हैं, परन्तु खाँड और मिठाई के सन्दर्भों में इसका सङ्केत ग्रहण किया जा सकता है। सन्तों ने खाँड तैयार करने, मिश्री बनाने, मिठाई के खिलौने बनाने, कन्द बनाने तथा लड्डू, पेड़ा जैसी अन्य मिठाइयों के बनाने का उल्लेख किया है। रज्जब हलवाइयों के बाजार में मक्खियों का उल्लेख करते हैं-"ज्यूँ हलवाई की हाट तजि माखी कहीं न जाय'।[२] इसी प्रकार वे भाँति-भाँति के मिठाई खिलौनों का उल्लेख करते हैं-'मिठाई की मूरतें सूरति भाँती अनेक'। सुन्दरदास ने 'पञ्चामृत' खाना कहा है और दूसरे उनके सामने राब कौन खायगा, इसका उल्लेख किया है। 'पञ्चामृत' कहने का भाव आध्यात्मिक सङ्केत देना मात्र है। पलटू ने हलवाई के द्वारा खाँड़ को औंट तथा जलाकर कन्द बनाने का उल्लेख किया है और उन्होंने मिठाइयों में लड्डू, पेड़ा तथा जलाव वाली जलेबियों का भी उल्लेख किया है।[३]

लुहार—मध्यकाल में लुहारों का महत्व विशेष रूप से था क्योंकि खेती में तथा जीवन के अन्य क्षेत्र में काम आने वाले औजारों के अतिरिक्त ये लोग लोहे के हथियार भी बनाते थे और इस दृष्टि से इस युग की सैनिक स्थिति से इनका गहरा सम्बन्ध था। अपने कार्य के कारीगरी में ये पर्याप्त कुशल थे। लोहे को गलाकर फौलाद तैयार करने की कला में भी ये पारङ्गत थे। डॉ० हरविलास शर्मा के अनुसार दमिश्क के जिस तेज धार वाले औजारों की प्रशंसा थी, वस्तुतः उसकी कला भारत से ही वहाँ पहुँची थी।[४] मध्यकाल में अनेक ऐसे

१—गु० बा० भु०, पृ० ३५५, ९०१. २—रज्जब बा०, पृ०२३; ८, ३१५; ३० : सु० वि०, पृ० ५३; ५. ३—पलटू बा० भा० ३, पृ० ९; २०, ९४; २४२. ४—डॉ० अशरफ, पृ० ९२.

साक्ष्य मिलते हैं जिससे इस समय के लोहे के कारीगरों के कौशल का प्रमाण मिलता है। सन्तों ने अपने रूपकों में इस लुहार का विशेष रूप से वर्णन किया है। सन्त विशेषकर लुहार की उपमा शूरवीर सतगुरु से देते हैं। वे लुहार के द्वारा भट्टी की अग्नि में लोहे को तपाकर उसे शुद्ध चमकीला और उज्ज्वल बना देने की प्रक्रिया पर विशेष आकर्षित हैं। लुहार का सम्बन्ध लोकजीवन से विशेष रूप से होने के कारण ही सन्तों के काव्य में उसके व्यापक सन्दर्भ मिलते हैं।

कबीर अपनी भट्टी पर बैठे हुए धौंकनी के सहारे आग को प्रज्ज्वलित कर निहाई पर लोहे को पीटने वाले लुहार की कल्पना करते हैं। कबीर लुहार के द्वारा लोहे से लोहे को काटने की पद्धति का उल्लेख भी करते हैं—'लोहे लोह जस काटि समाना'।[१] सन्तों ने प्रायः लुहार के द्वारा लोहे को तपाने, गलाने, पीटने और गढ़ने का उल्लेख किया है और प्रायः इस बात का भी निर्देश किया है कि लोहा जब तक गरम है (ताव है) तभी तक उसको ढाला या मोड़ा जा सकता है, ठण्ढे होने पर नहीं। उन्होंने प्रायः इस बात का निर्देश किया है कि लुहार लोहे से मिट्टी निकाल कर उसे स्वच्छ करता है।[२] वस्तुतः सन्तों ने अनेक दृष्टियों से अपने को लोहा और सतगुरु को लुहार कहना पसन्द किया है। गरीबदास कहते हैं—'सन्तों लोहा कठिन है सतगुरु बने लुहार' अथवा—'लोहा हमरी जात है पारस तुमरी जात।'[३] सन्तों के समान ही जायसी ने 'पद्मावत' में रत्नसेन की बेड़ी काटने के लिये लुहार को भेजा है जिसमें आध्यात्मिक सङ्केत भी ग्रहण किया जा सकता है।[४] सम्भवतः लुहार के कार्य में सुनार आदि के कार्य के समान धोखेधड़ी की अधिक गुञ्जाइश नहीं है और वह अधिक व्यापक उपयोगिता का है, इस कारण भी सन्तों ने उसके आदर्श जीवन को अधिक स्वीकार किया है। गुलाल साहब अपने लुहार के विस्तृत वर्णन में यही व्यञ्जित करते हैं।[५]

१—क० ग्र०, पृ० ७५; ४६ : क० बी०, पृ० ६४, ५०. २—रज्जब बा०, पृ० ५२३; २३, वही, पृ० २०, ४ : मलूक बा०, पृ० २१; १२ : गु० बा० भु०, पृ० ३५७; ९०३. ३—गरीब० बा०, पृ० २९, ६४ : वही, पृ० ३२,१. ४—जायसी का पद्मावत डॉ० वासुदेव, पृ० ६२२, २. ५—गु० बा० भु०, पृ० ३५७, ९०३.

तेली—मध्यकालीन युग में उद्योग-धन्धों की दृष्टि से तेली का भी स्थान महत्व का था। खाने के अतिरिक्त भी तेल का उपयोग कई रूपों में किया जाता था। भारत में बैलों के द्वारा चलाये जाने वाले कोल्हू की घानी से तेल निकालने की पद्धति आज तक वैसी ही चली आ रही है।[1] सन्तों को तेली के बैल, उसके कोल्हू, तेल पेरने तथा उसकी घानी आदि का विशेष अनुभव है। कबीर घानी में पिसते हुए सत्‌गुरु के द्वारा छुड़ाये जाने का उल्लेख करते हैं और कच्ची सरसों पेरने वाले तेली को न तेल मिलता है, न खली, इस बात का कथन करते हैं।[2] तेली के निरन्तर एक ही वृत्त में घूमने वाले बैल के प्रति उनकी विशेष सहानुभूति है।[3] गुलाल साहब ने इसके बारे में कुछ अधिक सन्दर्भ प्रस्तुत किये हैं—"तेली की स्त्री कोल्हू हाँकती है, बैल हाँकते दिन-रात बीत जाता है। घूमते-घूमते बैल रुक जाता है। गाँव के लोग जब तेल के लिये आते हैं तो पानी मिलाकर वह उनको धोखा देता है। वह बूँद-बूँद का संग्रह करता है। गाँव के ठाकुर की आज्ञा मानता है। अनेक लोगों की घानी अपने कोल्हू में लगाता है।"[4] दरिया वि० प्राणी को मानते हैं कि तेली के बैल की भाँति माया रूपी कोल्हू के बन्धन में बँधा हुआ अन्धा घूम रहा है और गरीबदास संसार को बिना धुरी का तेली का कोल्हू मानते हैं। इस कोल्हू में बिना पेरे तिल से तेल नहीं निकलता। रामचरण भी तेली के तम्मान (तेल रखने का बर्तन) का उल्लेख करते हैं जो कीच के कारण जल में धोने से उजला नहीं होता।[5]

माली—भारतवर्ष में उपवनों की चर्चा प्राचीनकाल से मिलती है और बाटिकाओं का भी उल्लेख हुआ है। परन्तु बाग़-बग़ीचों की जो परम्परा मुग़ल काल से प्रारम्भ होती है वह इनसे भिन्न है। भारतीय उपवन, बनों के ही नागरिक संस्करण माने जा सकते हैं जब कि मुग़ल बाग़ीचों की स्थिति कृत्रिम व्यवस्था से सम्बद्ध है। कभी-कभी इस प्रकार के बाग़ नौकाओं तक में लगाये जाते थे।[6] सन्तों ने सर्जन की परिकल्पना से माली

१—डॉ० अशरफ़, पृ० १२. २—क० ग्र०, पृ० २५२, ४५, २५४, ६८. ३—गु० ग्र०, पृ० ७१२।५. २, : वही, पृ० ८००, ४. ६ : धर० बा०, पृ० ८३, १२ : रज्जब बा०, पृ० १६९, ४. ४—गु० बा० भु०, पृ० ३७०, ९२६. ५—दरि० वि० अनु०, पृ० १४१, १८. ५३ : गरी० दा० बा०, पृ० १४७, २७, १६३, २. : राम० स्नेही, पृ० ११७, ११. ६—डॉ० श्री० रा० त्यागी, पृ० २०.

को परमात्मा के रूप में ग्रहण किया है जो सृष्टि रूपी बाग को सींच कर रक्षा करता है और अवसर आने पर वह माली के समान प्राणी रूपी फूलों को चुन भी लेता है। माली के साथ मालिन का निरन्तर उल्लेख हुआ है, क्योंकि फूलों के काम में वह अपने पति की सहयोगिनी है। वह देव-पूजा के लिये उपवन से फूल और पत्ते चुनती है, इसी कारण कबीर उससे कहते हैं—"तू जो पत्ते-पत्ते तोड़ रही है, उनमें परमात्मा का वास है और उनमें ऐसा ही जीव है जैसा मनुष्यों में।"[1] नानक—"बाग़ के सींचने वाले माली का उल्लेख करते हैं जो अपनी लगाई हुई समस्त वनस्पति के पत्ते-पत्ते डाली-डाली की खबर रखता है। उसकी लगाई हुई सभी वनस्पतियों में फल-फूल आयेंगे।"[2] प्रायः सन्तों ने माली के द्वारा बाग़ के सींचने का उल्लेख किया है, क्योंकि उसकी सम्पन्नता और उसका फलना-फूलना इसी पर निर्भर करता है।[3] बषना, वाड़ी की सिंचाई के लिये कुँआ, नदी और बाँध का उल्लेख करते हैं। साथ ही चरस बाँधने की चर्चा करते हैं।[4] वाटिका की बिना माली के कल्पना नहीं की जा सकती। वही इसको बना सकता है और वही उसको नष्ट भी कर सकता है। माली बग़ीचे को ठीक रखने के लिये फुलवाड़ी की काँट-छाँट करता है।[5] मालिन का कार्य फूल चुनना और हार या माला गूँथना कहा गया है। गरीबदास कहते हैं—"अनुभव मालिन हार गूँथे सुरति-विरति का मेल है" अथवा गुलाल साहब के अनुसार—'गूँथ के हार ले आव रे मालिन।[6]' बाग़ों में कूप (बावड़ी) और तालाबों की स्थिति भी होती थी। पलटू कहते हैं—"हे माली सूखा पेड़ सींचने से क्या लाभ ? ऐसा तो वही करेगा जो मतवाला (आध्यात्मिक अर्थ में प्रेम का) होगा।" तुलसी साहब ने माली के द्वारा लगाये हुए बागीचों में मुसाफिरों के विलम्बने का उल्लेख किया है।[7]

बढ़ई—इस युग में लकड़ी के कारीगर, बढ़ई का भी पर्याप्त महत्व था।

१—क० ग्र०, पृ० १५५, १९८ : वही, पृ० २१५, ३८२ २—गु० ग्र०, पृ० १८५;५६. ३—रज्जब बा०, पृ० १८८, २०१ : बुल्ला, पृ० १९, ४६ ४—बषना बा०, पृ० १०३. ८१. ५—दरि०अनु०, पृ० ४७, ३, ६ : वही, पृ० २१, ७० : वही, पृ० १३६, १८. ३३ : गु० बा० भु०, पृ० ५६, १६०. ६—गरी० बा०, पृ० १०५, १७ : गु० बा० भु०, पृ० १६६, ४५३ ७—पलटू बा०, भा०, ३ पृ० १६, २६ तु० बा०, पृ० १२५, १२.

बाबर और हुमायूँ ने अनेक कारीगरों के साथ इनका भी उल्लेख सैनिक महत्व की दृष्टि से किया है। चित्तौड़ की रक्षा के लिये जिस सावंत का निर्माण किया गया था उसके पाँच हज़ार कारीगरों में बढ़ई और लुहारों का भी सहयोग था। इसी प्रकार 'बाके-आते-मुश्ताक़ी' और 'तवक़ाते अकबरी' में भी लकड़ी के निपुण कारीगरों का उल्लेख है। जहाँगीर की आत्म-कथा में बारीक़ काम करने वाले कारीगरों का उल्लेख है।[1] परन्तु बढ़ई प्रायः लकड़ी का साधारण काम करने वाले कहलाते थे जो खेती के यन्त्र, बैलगाड़ी, नाव, चारपाई, सन्दूक, तख़्त तथा इमारती समान बनाते थे। इनमें जो उच्चकोटि के कारीगर होते थे वे ही राजदरबार के कार्य करते थे। सन्तों ने बढ़ई के द्वारा आरे से लकड़ी चीरने का उल्लेख किया है और उसके अन्य औज़ारों की भी चर्चा की है जिनसे वह अपना कार्य करता है[2]—(द्र०-पञ्चम प्रकरणः)।

कुम्हार—कुम्हार का लोक-जीवन में महत्वपूर्ण स्थान था। वह अपने मिट्टी के बर्तनों से समाज में अपनी उपयोगिता सिद्ध करता था और अपने बनाये हुए खिलौनों के द्वारा लोगों का मनोरञ्जन करता था। इस प्रकार उसमें कुटीर-उद्योग और लोककला का सम्मिश्रण था। दिल्ली, काशी तथा चुनार में मिट्टी के खिलौने अच्छे बनाये जाते थे, पर कला की दृष्टि से उनका स्तर आजकल जैसा नहीं था।[3] सन्तों के लिये कुलाल या कुम्हार का रूपक अपनी लौकिक पृष्ठभूमि के कारण काफ़ी आकर्षक रहा है। कुम्हार भी बर्तनों की (कुम्भ) रचना विधाता के समान करता है और फिर आँवा में अग्नि प्रज्वलित कर (जठराग्नि में) उनकी रक्षा करता है और उनको पकाता है।[4]

सन्त काव्य में कुम्हार के चाक, मिट्टी, मृत्भाण्ड तथा खिलौनों का व्यापक सन्दर्भ मिलता है। कुम्हार मिट्टी से विविध प्रकार के बर्तन गढ़ता है। वह युक्तिपूर्वक मिट्टी को कमाकर पुतले गढ़ता है, चाक पर विविध आकृतियों के भाड़े उतारता है और उन पर चित्र बनाता हैं।[5] अधिकांश

१—इलिय० वा० हुमायूँ, पृ० १६५ : डॉ० रिज़वी उ० ते० का०, भा० १, पृ० ३१०, २२१ : जहाँ० आ० कथा, पृ० ३८६, ३८८. २—डॉ० अवध वि० उ० म० का० भा०, पृ० ४८३ ३—धरम० बा०, पृ० ६८. १६. ४ : रा० च० स्नेही, पृ० १८१; ६. ४—डॉ० अ० वि० उ० म० का० भा०, पृ० ४८३. ५—क० ग्र०, पृ० २४०, ५.

सन्तों ने कुम्हार के द्वारा बर्तन गढ़ने का उल्लेख किया है। वह मिट्टी को कूटकर उपयोग में लाता है, चाक पर तैयार की हुई मिट्टी से बर्तन तैयार करता है और आँवा में पकाने के पूर्व थापी से उनको गढ़ता है। इस प्रकार आध्यात्मिक व्यञ्जना के लिये सन्तों ने कुम्हार की जाति का पूरा रूपक बाँधा है।[1]

जुलाहा—इस काल में करघे पर कपड़ा बिनने का काम प्रायः जुलाहा जाति के हाथ में था। वस्तुतः सूत कातने का रिवाज जन-साधारण में प्रचलित था और बुनाई का काम इस जाति के हाथ में था। इस काल में भारतवर्ष अपनी सूती और रेशमी कपड़ों के उद्योग-व्यवसाय के लिये प्रसिद्ध था। इस कुटीर-उद्योग का वैसे तो सारे देश में प्रचलन था परन्तु दक्षिण में विजयनगर राज्य के पच्छिमी किनारे तथा पठारी भाग में बहुत से घने शहर बसे थे जो सूती कपड़ों के व्यापार के लिये प्रसिद्ध थे और इसी प्रकार खानदेश की राजधानी बुरहानपुर में करघे पर तारकशी तथा रेशम की बुनाई का काम बहुत अच्छा होता था। इसी प्रकार उत्तर में बनारस, जौनपुर तथा लाहौर आदि नगरों में सूती कपड़ों की बुनाई और रँगाई के लिये तथा सुनार गाँव और ढाका मलमल के लिए प्रसिद्ध थे।[2] सन्तों में मुख्यतः कबीर ने जुलाहा जाति का विवरण दिया है। वैसे तो करघा का रूपक अन्य सन्तों में भी उनके लोक-सन्दर्भ के कारण मिल जायगा, परन्तु स्वयं इस जाति के होने के कारण कबीर ने इस पेशे का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है। कबीर ने अपने रूपकों में करघे की बुनाई की पूरी पद्धति दी है जिसकी चर्चा अगले प्रकरण में की जायगी। उनके अनुसार जुलाहा नौ-दस गज के छोटे थान तथा २१ गज के बड़े थान बनाता है और पाट के अनुसार सूतों का ताना तैयार करता है। जान पड़ता है, लोग अपना सूत लेकर बुनाने के लिये जुलाहा के पास आते थे और अपने सूत के अनुसार मोटा (गजी) अथवा बारीक कपड़ा तैयार करवाते थे। इसका अनुमान तौल से लगाया जाता था। यदि किसी का काम पूरा नहीं होता था तो वह घर आकर जुलाहा से झगड़ा करता था। जुलाहे का अधिकांश समय करघे पर ही बीतता है, कभी रात के समय भी उसको अपने करघे पर ताना-बाना फैलाकर कपड़ा बीनना होता है

१—क० ग्र०, पृ० १०५, ५३ : वही, पृ० १२१, १०५ : वही, पृ० २६८, १२ : क० बी०, पृ० ४४, २६, ३०३, १. २—विजयनगर का इति० डॉ० वासुदेव, पृ० १७१ : सांस्कृतिक परम्पराए डॉ० इन्दु मिश्र, पृ० १४८ : अकबर, राहुल, पृ० २७०.

तथा माँड फेरना और सूत की सन्धियाँ मिलानी होती हैं ।[१] जुलाहे के कार्य से निकट का सम्बन्ध धुनिया का है, क्योंकि वह रूई धुनकर तैयार करता है । वह यन्त्र (काया) की तांत (सुषमन) की मुठिया (मन) से बजाकर रूई धुनता है—(दरि० भा० बा०, पृ० ३७;४) ।

जौहरी और सर्राफ़—हारे, मोती तथा जवाहरात बहुमूल्य रत्नों के व्यवसायियों को जौहरी कहा जाता है और इसी प्रकार सोने-चाँदी के आभूषणों के बेचने वालों को सर्राफ़ कहते हैं । व्यावसायिक होने पर भी ये दोनों जातियों के रूप में माने जाते हैं । सन्तों के काल में मोतियों का तथा बहुमूल्य रत्नों का व्यवसाय उन्नत स्थिति में था और जौहरियों की इस दृष्टि से बहुत प्रतिष्ठा थी । वे न केवल रत्नों का व्यापार करते थे वरन् उनको तैयार भी करते थे । इस कला में भी ये कुशल थे । सिकन्दर लोदी के समय अबरक के मोती बनाने वाले मियाँ ताहा नामक जौहरी का पता चलता है । इस काल में हारे-मोती का व्यवसाय खुले रूप से होता था और शहर के बीच में उनके अपने बाजार भी होते थे । वस्तुतः सोना, चाँदी तथा रत्नों के प्रति भारतवर्ष के आभिजात्य वर्ग का आकर्षण प्राचीन काल से चला आ रहा था ।[२]

सन्तों ने जौहरी को मोती-हीरा के व्यवसायी के रूप में और उसके परखने के कौशल को विशेष रूप से महत्व दिया है और उन्होंने जौहरी के प्रति उस युग के सामाजिक आदर-भाव को इस रूप में प्रगट किया है कि—"जौहरी हीरों की हाट में ही मिल सकता है, हीरा वहाँ नहीं खोजना चाहिये जहाँ कुजड़ों का बाजार हो ।[३]" इसी प्रकार रत्नों की ठीक पहिचान जौहरी को ही होती है, यह स्वीकार किया गया है । जौहरी मूल्यवान् रत्नों पर रीझता है, क्योंकि उनके मूल्य का वास्तविक अन्दाज वही लगा सकता है और उनके खरे-खोटे होने की परीक्षा भी वही कर सकता है । वह हाथ में लेकर ही रत्न के सच्चे होने का अन्दाज लगा लेता है, जब कि सर्राफ़ कसौटी पर सोने को परखता है । हीरे की कीमत का कथन जौहरी ही कर सकता है, क्योंकि वह

१—क० ग्र०, पृ० २८२;२९ : वही, पृ० ९५; २०, २१. २—डॉ० रिजवी उ० ते० का० भा०, भा० १, पृ० २७३ : हिन्दी सा० अनुशीलन पृ० ४९ : अकबर, राहुल सां०, पृ० २११ : आइने अकबरी, भा० १, पृ० ९ : जहाँ० आत्मकथा, पृ० ४७१ : कादम्बरी, डॉ० वासुदेव, पृ० ५९ : नैषधचरितम्, डॉ० च० पृ० ५५. ८८. क० बी०, पृ० २९६;१६९.

पारखी हैं। लेकिन वह मूर्ख को उसका मूल्य क्यों बताये, वह उसे समझा कहाँ सकता है।[1] वस्तुतः अपने आध्यात्मिक रूपकों में जौहरी के सन्दर्भों से सन्तों का तद्विषयक ज्ञान प्रकट होता है। रामचरण का कहना है—"हीरे का मेल हीरे से ही हो सकता है, रत्नजटित आभूषणों में विल्लोरी पत्थरों का उपयोग नहीं किया जा सकता।" इसी प्रकार पानपदास के अनुसार—"जब काँच के पोतों के बीच में गँथे हुए मुक्ताओं की माला जौहरी के हाथ में पड़ती है तब क्षण भर में वह उसके मूल्य का हिसाब कर लेता है। वह काँच के पोतों को अलग कर मुक्ताओं को स्वीकार करता है।"[2]

जौहरी के समान सर्राफ़ का उल्लेख करते हुए सन्तों ने उसे भी खरा-खोटा की पहचान करने वाला स्वीकार किया है। उसके सामने सोने की खोट छिप नहीं सकती, क्षण भर में वह उसका पता लगा लेता है। उसका तराजू (तुला) विशेष रूप से तौलने में सधा होता है। वह अपनी कसौटी पर सोने की परख करता है और जो सोना उस पर खरा उतरता है वह श्रेष्ठ कहलाता है।[3]

तम्बोली—पान का व्यापार करने वाली जाति, जो मुख्यतः पान लगाने का कार्य करती है, तम्बोली कहलाती है। तम्बोली अपने पान को पीला करता है अर्थात् पकाता है। इसी भाव को कबीर इस प्रकार व्यक्त करते हैं—"तम्बोली के पान ज्यों दिन-दिन पीला होई।' वस्तुतः पीले पके हुए पान का स्वाद अधिक बढ़ जाता है, इसी कारण विरहणी के पीलेपन से उसकी उपमा दी गई है। तम्बोली अपने पान की रक्षा का ध्यान चित्त में निरन्तर रखता है।[4] पान कोमल पदार्थ है, अतः उसके सड़ने की सम्भावना बनी रहती है और इसी कारण उसके विषय में चिन्ता करने की आवश्यकता भी है। पान का बीड़ा बनाने का काम प्रायः उसकी पत्नी तम्बोलिन करती है। तम्बोलिन कुशलता के साथ बीड़ा बनाकर प्रेमी जनों को खिलाती है।[5] तम्बोली को पान की रक्षा के लिये उन्हें उलटते-पलटते रहना पड़ता है। पान लगाने के लिये उसे चूना तैयार करने कीं विधियाँ भी ज्ञात होनी चाहिये और पान के सड़े हुए

१—धरम० बा०, पृ० २९;२६. ४ : दादू बा०, भा० १, पृ० ८५;३ : वही, पृ० १५४;१४ : बषना बा०, पृ० ४६;४ : रज्जब बा०, पृ० २०२;११. २—रामचरण स्नेही, पृ० ७२४; ३१ पानपबोध, पृ० ४१;२. ३—गु० ग्र०, पृ० ३८१;४२ : वही, पृ० ४१३; १ : वही, पृ० ७३१;८ : वही, पृ० ७९१; १ : वही, पृ० ९३२; १८ : वही, पृ० १०७२; ५. ४—क०ग्र०, पृ० ५१;२९ : गु० ग्रं०, पृ० ८३२;१. ५—धरम० बा०, पृ० ६६; ६.

अंश को कतरते रहना चाहिये, क्योंकि इस प्रकार पान के शीघ्र सड़ने से रक्षा हो सकेगी—'बैठि तम्बोलिन बिटिया हो, कतरे बँगला पान।'[1] सूरदास ने भी कृष्ण के विवाह के प्रसङ्ग में नन्द-नन्दन को, तम्बोलिन के द्वारा 'बीरा' दिये जाने का उल्लेख किया है।[2]

अहीर—पशुपालक जाति जिसका आभीरों से सम्बन्ध जोड़ा जाता है, सन्तों ने अहीर, ग्वाला तथा ग्वालिन का उल्लेख दूध बेचने के सम्बन्ध में किया है। यह कार्य मुख्यतः इस जाति के हाथ में रहा है, इससे इसका पता चलता है। कृष्ण-काव्य के अन्तर्गत इस जाति को विशेष महत्व प्राप्त हुआ है।[3] यारी साहब दूध दुहने, दही मथने तथा मक्खन निकालने वाली ग्वालिन (ग्वालियाँ) का उल्लेख करते हैं।[4] गुलाल साहब ने अहीर के विषय में किञ्चित् विस्तार से चर्चा की है—"अहीर गाय, भैंस के लेहड़ को चराता है। बछड़ों और पड़वों की यत्न से रक्षा करता है। बछड़ों को चराते समय सब के खेतों को बचाता है। यदि भैंस कुछ बेकार वस्तु खा लेती है तो वह उसे निकालने की युक्ति जानता है। गोट में दूध दुहता है और पशुओं को खूटे में बाँधकर उनके सामने दौरी में चारा रखता है। फिर यह अहीर दूध दही की व्यवस्था करता है और घी निकालता है। उसको बेचकर अपना काम चलाता है।" पलटू के सामने भी अहीर के गाय और बछड़े की कल्पना प्रत्यक्ष है। कबीर ने बावली गूजरी का वर्णन किया है जो फूटी मटकी में दही बेचती है, वस्तुतः अहीर के निकट की जाति गूजर है।

कहार, धीवर और मल्लाह—सेवा करने वाली ये जातियाँ एक-दूसरे के निकट हैं। परन्तु इनमें भी विभिन्नता और ऊँच-नीच की भावना है। सम्भवतः इनमें कहार, उच्च जातियों के घर में पानी भरने तथा डोली ढोने का काम करने के कारण अन्य दोनों से शृंखला में ऊँचा माना जा सकता है। कबीर कहारों के द्वारा डोली ढोने का उल्लेख करते हैं। इस काल में पालकी, डोली और सुखपाल आदि का उपयोग महिलाओं के लिये विशेष रूप से किया जाता था। धरमदास ने कहार के लिये महारा शब्द का प्रयोग किया है जो 'महर' शब्द ही है—"सैयां महरा मोर डोलिया फँदाओ।' सन्तों ने कहारों के

१—मलूक बा०, पृ० १३;४.६ : बुल्ला बा०, पृ० ३१०;७९० : पलटू बा०, भा० ३, पृ० ६८;२२१. २—डॉ० मायारानी टण्डन अ० सा० भू०, पृ० ४४३. ३—वही, पृ० ४४७. ४—यारी० बा०, पृ० ४;१३ : गु० बा० भु०, पृ० २५३;८९, : पलटू:, भा० १, पृ० २२;४८ : क० ग्र०, पृ० २०७;२५४.

अन्य कार्यों का—बंहगी (काँवर) ढोला तथा पानी भरने आदि का उल्लेख नहीं किया है। सूरदास में कहारों के द्वारा काँवर ढोने का सन्दर्भ मिलता है।[1]

वस्तुतः कहार मछली मारने का काम भी करता है—'महरू मछा मारि ना जाने गहरे पैठा धाई हो।' परन्तु मछली मारने वाले को मुख्यतः धीवर धीमर, झीवर और धीरन कहा गया है। धीवर के ये अनेक रूप हैं। कबीर कहते हैं—'धीरन मच्छ भरि डेहरि हो' अर्थात् धीवर ने डेहरि (मछली रखने की पिटारी) भर मछली मारी है। नानक और कबीर 'झीवर' के द्वारा मछली मारने के लिये तृष्णा रूपी जाल फेकने की बात कहते हैं। सन्तों ने संसार में काल रूपी जाल डालने वाले 'धीमर' का रूपक प्रस्तुत किया है—"बव्बा बड़ा जगत जञ्जाल जाल जम फांसी डारी। ज्यों धीमर जल माँहि पकरि करि मछरी मारी।"[2]

मल्लाह जाति का उल्लेख सन्तों ने नौका चलाने वाले केवट के रूप में किया है। उन्होंने प्रायः केवट को गुरु के रूप में संसार रूपी सागर से पार उतारने वाला स्वीकार किया है। यह कल्पना उनको बहुत प्रिय है। कबीर ने 'खेवट' को हरि रूपी नौका को पार उतारने वाला गुरु कहा है, जो भव-सागर पार करता है। शेखफ़रीद और दादू, बिना गुरु केवट के पार उतरना सम्भव नहीं मानते। धरमदास और सुन्दरदास भी 'कनिहार' (कर्णधार) को पार उतारने के लिये आवश्यक मानते हैं और पलटू बिना मल्लाह के पैर भीगे बिना पार जाना सम्भव नहीं मानते। तुलसी साहब प्रिय के देश पार उतार कर पहुँचाने वाले केवट की आकांक्षा करते हैं।[3]

धोबी—सन्तों ने धोबी का उल्लेख भी रूपक प्रस्तुत करने के लिये ही किया है। जिस प्रकार धोबी कपड़ों का मैल उतारकर उजला कर देता है,

---

१—क० ग्र०, पृ० ११७;९० : धरम० बा०, पृ० ६८ : अ० सा० भू०, पृ० ४५४. २—क० ग्र०, पृ० ११२;७७ : क० बी०, पृ० ३०५;१ : नानक गु० ग्र०, पृ० ९५५;१८. १ : क० ग्र०, पृ० २५५;७९ : तु०;घ० रामायन) पृ० ६४;४ : दरि० वि० अनु०, पृ० १३६;३३, १४६;२ : तु० श०, भा० १, पृ० २७;२१. ३—क० ग्र०, पृ० १६७;३२१ : वही, पृ० २१७;३८९, २०५; ३४६ : गु० ग्र०, पृ० ४८८;७ : दा० बा० भा० १, पृ० २;१८ : धरम० बा०, पृ० ५२;२० : सुन्दर बि०, पृ० १३८;९ : पलटू, भा०२, पृ० १; २ : तु० श०, भा० १, पृ० ८७;१

उसी प्रकार सत्गुरु अथवा हरिनाम से मनुष्य का मन उज्ज्वल होता है। धरमदास कहते हैं-"धोबी (सत्गुरु) कपड़े की रेह लगाकर सानी करता है, भट्टी चढ़ाता है, सरोवर या नदी में सिला पर पटक कर धोता है और तब कहीं उसका (मन का) मैल छुड़ा पाता है।" और वे यह भी बतलाते हैं कि भट्टी पर बार-बार रखने से ही कपड़ा अधिकाधिक उज्ज्वल होता जाता है। परन्तु कबीर ऐसे रङ्ग की (आध्यात्मिक प्रेम के रङ्ग की) चर्चा करते हैं जिसको धोबी धो-धोकर मर जाने पर भी उज्ज्वल नहीं कर पाता। रज्जब "धोबी की 'घुमस' (पटकने) को 'कुचीर' (मैला कपड़ा) के उज्ज्वल करने के लिये उसी प्रकार आवश्यक मानते हैं जैसे शिष्य गुरु या पीर की मार से निर्मल होता है।" दूलनदास ने साबुन के पानी से दाग़ धोने की चर्चा की है। वे कहते हैं, साबुन को लपेटकर घाट पर मल-मल कर धोने से ही वस्त्र उज्ज्वल होता है। पलटू भी चादर (चादर वस्तुतः आत्मा है) के दाग़ छुड़ाने के लिये भट्टी पर चढ़ाकर साबुन से मल-मल कर धोने का उपदेश देते हैं। कई सन्तों ने गुरु रूप में धोबी का रूपक दिया है, यथा—रामचरण, तुलसी साहब आदि।

पेशेवर जातियाँ—**चमार**—चमड़े का काम करने वाली एक अन्त्यज जाति। रैदास स्वयं इस जाति से सम्बन्ध होने के कारण कहते हैं—'जाके कुटुम्ब के ढेढ़ सब ढोर ढ़ोवंत"— इससे पता चलता है कि चमारों का मुख्य पेशा मरे जानवरों को ढ़ोना और उनकी खाल निकालना रहा है। कबीर भी इसी प्रकार मरी गाय को चमार को देने की चर्चा करते हैं, जो खाल निकाल कर उसकी रङ्गाई-कमाई करता है। वह उससे मशक (रुकनौती) भी तैयार करता है। वस्तुतः अन्त्यज होने के कारण चमार अपने कर्म से हीन माना जाता रहा है—'यह मन भया चमार चमारी करत है।' यहाँ चमारी शब्द कर्म की निकृष्टता के लिये प्रयुक्त है,[1] जिससे चमारों के प्रति उस काल का भाव व्यक्त होता है।

अभी तक जिन जातियों का विवेचन किया गया है, वस्तुतः उनका जातिगत विकास पेशे के आधार पर ही हुआ है और ऐसे अनेक पेशे करने वाले

१—धरम० बा०, पृ० १; ३ : वही, पृ० ८२, १० : क० ग्र०, पृ० २९; ११ : रज्जब बा०, पृ० ५२५; १७ : दूलन बा०, पृ० ८; २, ६; ६ : पलटू बा०, भा० ३, पृ० २; ४:

लोग रहें हैं जिन्होंने अपनी जातिगत विशेषता अपने पेशे से ही ग्रहण कर ली है। परन्तु इनमें भी कुछ पेशेवर जाति से सम्बद्ध लगती हैं पर वस्तुतः बाद में उनकी स्थिति जाति के रूप में निश्चित हो सकी है। और भी कुछ ऐसे पेशों का उल्लेख सन्त-काव्य में मिलता है जिनको विशुद्ध पेशे के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

दर्जी—कपड़ा सीने वाले लोगों को दर्जी कहा जाता है, परन्तु ये एक जाति के रूप में भी स्वीकार किये जा सकते हैं। दर्जी अपना सीने का कार्य सुई और धागा से करता है जिसका उल्लेख सन्तों ने किया है। सीने के पूर्व दर्जी कपड़े को काट कर टुकड़े-टुकड़े कर देता है। वस्तुतः सन्तों ने दर्जी का रूपक भी गुरु के लिये ही प्रायः किया है।[1] दर्जी जिन अन्य उपकरणों से अपना काम करता है, उनका भी उल्लेख मिलता है। रामचरण के अनुसार दर्जी गज, कैंची और सुई डोरा से अपना कार्य करता है—गज से वह नापता है, कैंची से काटता है और सूई के माध्यम से डोरा डालकर जोड़ता है।[2]

भड़भूजा—अन्न को भाड़ में भूंजकर उपयोग में लाने की प्रथा भारत में बहुत प्राचीन है। इस कार्य को करने वालों की एक विशिष्ट जाति बन जाना स्वाभाविक रहा है। भड़भूजा का पेशा आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता रहा है, यह सन्तों की वाणी से सिद्ध है—'भड़भुज रूप जीवे जग मझिया' अथवा 'ज्ञानी मूढ़ गुरु और चेला, चोर साहू भरभइजा'। यहाँ कबीर तथा पलटू दोनों ने भड़भूजे के काम अर्थात् भाँड़ झोकने को निरर्थक स्वीकार किया है। वस्तुतः उसके साथ भूने हुए अन्न के स्थान पर भाड़ का संयोग अधिक मान लिया गया है और पत्तियों को झोंक कर भाड़ जलाना लोक में भी 'भाड़ झोंकना' मुहावरा बन गया है।[3]

रङ्गरेज—कपड़े रङ्गने वाली एक जाति है। पानपदास आध्यात्मिक सन्दर्भ में कहते हैं—'कहा रङ्ग को देखे-देख ले रङ्गरेज' जिसका अर्थ लौकिक रूप में हो सकता है कि कपड़े पर रङ्ग कैसा चढ़ता है, यह रङ्गरेज पर निर्भर

१—क० ग्र०, पृ० ९१; १० : गु० ग्र०, पृ० ९५५ : नानक : सं० मु० सा० : रज्जब, पृ० ५२३; २३—'ज्यूँ कपड़ा दरजी के जाय टूक-टूक करि लेइ बनाय', रज्जब बा०, पृ० ४; ४९. २—राम० च०, पृ० ३५९; १०५ : सुन्दर वि०, पृ० ४; १०—'ज्यूँ कपड़ा दरजी गही व्योंतत'. ३—सं० क०, पृ० २७; २५ : पलटू बा०, भा० ३, पृ० ३; ६ : सु० वि०, पृ० ४२; ३.

करता है। पलटूदास ने रङ्गरेज के माट (नाँद) में मजीठी रङ्ग में करारी रङ्गाई का उल्लेख किया है। उनके अनुसार सुन्दर रङ्गी हुई साड़ी को धारण कर पतिव्रता स्त्री अपने पति को प्रसन्न करती है।[1]

मनिहार—मध्यकाल में घरेलू उद्योगों में चूड़ियाँ बनाने का काम भी सम्मिलित था।[2] सन्तों ने यद्यपि मनिहार को अपने रूपकों में विशेष रूप से ग्रहण नहीं किया, फिर भी नानक ने इसका उल्लेख किया है—'ना मनिआरू ना चुड़िया ना से बँगुड़ी आहा'। इसके बाद तुलसी साहब ने न केवल मनिहार और उसकी चूड़ी की चर्चा की है वरन् उसके द्वारा बनाई हुई ऐसी काँच की चूड़ियों का भी उल्लेख किया है जो धक्का लगते ही फूट जाती है। इससे चूड़ियों की बारीकी का सङ्केत मिलता। उन्होंने यह भी कहा है कि टूटे हुए काँच को गलाकर मनिहार पुनः चूड़ियों में परिवर्तित कर देता है।[3]

सिकलीगर—अस्त्रों पर सान चढ़ाने वाला सिकलीगर कहलाता है। वस्तुतः यह वस्तुओं का मोरचा आदि छुड़ाकर चमकदार भी बनाता है और उन पर कलई भी करता है। ऐसा जान पड़ता है कि शीशे के पीछे मसाला लगाकर उसको देखने योग्य दर्पण बनाने का काम भी इसका रहा है। कबीर ऐसे सिकलीगर की चर्चा करते हैं जो 'मसकला' फेर कर दर्पण (देह) बना लेता है। आध्यात्मिक प्रसङ्ग में सन्तों ने इसकी भी गुरु के रूप में कल्पना की है। वषना भी सिकलीगर के बाजार में 'मसकला' लगाकर आरसी के निर्मल दर्पण को बनाने वाले कारीगर (गुरु) की चर्चा करते हैं। वैसे सिकलीगर का काम अस्त्र-शस्त्रों का मोरचा साफ करना और उन पर सान चढ़ाना (चमकदार करना) है। दरिया वि० सिकलीगर के द्वारा मोरचा साफ कराने का उल्लेख करते हैं कि उससे ऐसी 'सिकिल' करानी चाहिये कि बाद में मोरचा ही न लगे। अन्य सन्तों ने भी गुरु रूप में सिकलींगर को मोरचा उतारने वाला और बाण तथा तलवार पर मसकला कर शान चढ़ाने वाल माना है।[4] यह शब्द 'सेकल' अरबी शब्द से बना है, इससे इस पेशे का सम्बन्ध ईरानी-अरबी जातियों

१—पा० बोध, पृ० ९९; २ : पलटू, भा० ३, पृ० २७; ५९. २—डॉ० अशरफ ता० ए० का० आ० हि० ३—गु० ग्र०, पृ० ५५८, ३ : तु० घ० रामा०, पृ० २४४, ४, २४८, २. ४—क० ग्र०, पृ० ६३, ४० : क० बी०, पृ० २४६, ६ : वषना बा०, पृ० १७५, २ : दरि० बि० अनु०, पृ० १९, २४, १७; ७ : गरी० बा०, पृ० २०, ९६ : राम० चर०, पृ० ५, ७४ : पलटू, पृ० ४५; २ तु० श० भा०, पृ० १५०, ८.

से माना जा सकता है। परन्तु डॉ० वासुदेवशरण इस 'सिकल' शब्द की स्थिति बाण के 'हर्षचरित' में स्वीकार करते हैं—'सिकल किये हुये खड्ग के समान आकाश श्वेत हो गया था'। इससे यह स्वीकार किया जा सकता है कि सिकलगीरी का काम भारत में प्राचीन समय से चला आ रहा था।[1]

मरजिया—समुद्र में ग़ोता लगाकर मोती निकालने वाले (वास्तव में मोती की सीप) को मरजिया या मरजीवा कहा जाता है। सन्तों को समुद्र से मोता निकालने वाले इस मरजिया का रूपक भी आकर्षक लगा है और उन्होंने साधना में गहरे पैठकर गहन-तत्व को प्राप्त करने वाले साधक के रूप में प्रायः उसकी कल्पना भी की है। कबीर गहरे समुद्र (पाताल) में प्रवेश कर निर्भीक भाव से मोती (लाल) निकालने वाले मरजिया के ढाढ़स की प्रशंसा करते हैं। बषना उनकी डोरी का भी उल्लेख करते हैं जिसके सहारे से वह सागर से मोती (मुक्ता तथा रत्न भी) निकाल लाता है। रज्जब कहते हैं कि समुद्र में सिर पर भार लेकर प्रवेश नहीं कर सकता, उसे मुक्त भाव से वहाँ प्रवेश करना होगा। वह समुद्र में समाहित (मरी-समुद्र समाई) होकर ही संसार के लिये रत्न प्राप्त करता है। पलटूदास के अनुसार यह मरजिया ही है जो गोता मारकर तुरन्त मोती निकाल लाता है अर्थात् वह जानता है कि मोती कहाँ प्राप्त होता है। परन्तु ऐसा नहीं है कि मरजिया के हाथ सदा मोती ही आता है। तुलसी साहब के अनुसार उसके हाथ कभी शङ्ख और कभी सीपी भी आ जाती है।[2] इनके अतिरिक्त अन्य सन्तों ने भी इस शब्द का साधक के रूपक में प्रयोग किया है।[3]

कसाई—पशुओं को मारकर इनका माँस बेचने वाले कसाई कहलाते हैं। पशुओं के प्रति इनकी क्रूरता के कारण इनके प्रति सन्तों का भाव उपेक्षा का होना स्वाभाविक है। कहा जा चुका है कि सन्तों ने जीव-दया पर बल दिया है। कबीर, काल को कसाई के रूप में मानते हैं। उन्होंने कसाई की छुरी का भी उल्लेख किया है। पलटू भी स्वीकार करते हैं—'पीर पराई ना लखे सोई जाति कसाई।'

१—डॉ० वासु० हर्षचरित, पृ० ५१. २—क० वी०, पृ० ४१९;३०२: बषना० वा०, पृ० १४०; १२४: रज्जब वा०, पृ० ३८१; ३: पलटू वा०, भा०, १ पृ० ५७;१०६: तु० रत्न, पृ० ३०. ३—दा० वा०, भा० १, पृ० ५२;६७: गरी० वा०, पृ० ४२; ३, ४६;२३: पा० बोध, पृ० ११०; १४: पा० सु० वेद, पृ० ३७; २५.

स्वतन्त्र पेशे के लोग—**दलाल**—वस्तुतः यह व्यवसाय से सम्बद्ध व्यक्ति है जो व्यापारियों के बीच सौदा करवाकर अपनी दलाली (कमीशन) प्राप्त करता है। क्योंकि दलाल का काम केवल मध्यस्था का है, इस कारण उसको प्रायः बहुत आदर से नहीं देखा जाता है। परन्तु सन्तों के काल में यह सम्मान प्राप्त व्यक्ति होता था। कबीर जप-तप को दलाली में देना चाहते हैं, क्योंकि उनके लिये इसका महत्व नहीं है। व्यवसायी परिवार से सम्बद्ध होने के कारण नानक दलाल के महत्व से परिचित हैं–'धरम दलालु पाए निसाणु, नानक नाम लाहा परमाणु।' वे जानते हैं कि व्यवसाय में नाम का परवाना दलाल से प्राप्त कर लाभ उठाया जा सकता है। इसी प्रकार बषना दिल्ली में चोखा वाणिज्य-कराने वाले दलाल का उल्लेख करते हैं। वस्तुतः बड़े नगरों में दूसरे स्थानों के व्यवसायियों का काम दलाल के बिना नहीं हो सकता। रज्जब गुरु को ही दलाल मानते हैं जो आध्यात्मिक सौदा तय करवाता है।[१] अन्य सन्तों ने भी इस रूपक को अपनाया है—'कहें दास गरीब दलाल सोई, सौदा नाम कीन्हा समतुल है जी'।—गरी० दा० बा०, पृ० १२६; १.४। इस युग में दलालों की स्थिति बहुत निश्चित थी।[२]

वैद्य—आयुर्वेद की प्रतिष्ठा भारतवर्ष में प्राचीन काल से चली आ रही है। समाज में व्यक्तियों के स्वास्थ की रक्षा उसकी सुख-शान्ति के लिये आवश्यक है। शारीरिक व्याधियाँ और उनका निदान समाज के विकास के साथ सम्बद्ध माना जाता है। इसके निदान तथा उपचार शास्त्र का विकास भारतीय विचारकों ने बहुत अधिक किया था। वैद्य इसी शास्त्र ज्ञान के आधार पर रोगों का इलाज करते हैं। सन्तों ने रोगों को आध्यात्मिकता के सन्दर्भ में सांसारिक प्रवञ्चना स्वीकार किया है और इसी कारण उन्होंने प्रायः गुरु को और कभी-कभी राम को वैद्य माना है।

कबीर के अनुसार वैद्य रसायनों का ज्ञाता होता है, जड़ी-बूटियों का (संजीवनी मूरि) प्रयोग करता है, रोगियों की व्यथा को तुरन्त दूर करता है, बूटी को घिसकर पिलाते ही रोगी निरोग हो जाता है, चोट

१—क० ग्र०, पृ० १३८; १५५ : गु० ग्र०, पृ० ७८६; १ : बषना वा०, पृ० ११६; ६४ : रज्जब० वा०, पृ० ५; ५० २–डॉ० अशरफ़ ला० ए० क०, पृ० १०७.

पर हल्दी चूना लगाकर उसकी पीड़ा हरता है और सन्निपात के रोगी को ठीक करने वाला वैद्य ही सिद्ध माना जा सकता है।[१] रैदास औषधियों और रसायनों के गूढ़ प्रभाव से परिचित हैं। इसी कारण नानक, अङ्गद, अर्जुनदेव, रामदास आदि सन्तों ने वैद्य का गुरु या नाम के रूप में उल्लेख किया है।[२] नानक कहते हैं—"वैद्य बुलाया गया और उसने बाँह पकड़ कर नाड़ी देखी। पर वैद्य ऐसा भोला (मूर्ख) है कि वह कलेजे की पीड़ा को नहीं जान पाया। पहले उसे रोग की पहिचान (निदान) करना होगा, फिर ऐसी दारु (दवा) देनी चाहिये जिससे कि रोगी रोग से मुक्त हो। जिस दवा से रोग दूर हो उसी से शरीर को सुख मिलता है और उसी वैद्य को यश मिलता है।" इसी प्रकार अर्जुनदेव सङ्ग में अनेक औषधियों को रखने वाले वैद्य का उल्लेख करते हैं।[३]

सिङ्गाजी ऐसे घाव की चर्चा करते हैं जिसमें छुरी या कटारी का कोई निशान नहीं है और ऐसी स्थिति में वैद्य नहीं जानता कि दवा कहाँ लगायी जाय। धरमदास बूटी के रस को प्याला में पीने की बात कहते हैं। रज्जब के अनुसार विविध प्रकार की बूटियों के प्रभाव का ज्ञान वैद्य ही रखता है। और यह भी कहते है कि बिना औषधि के पथ्य क्या कर सकता है और बिना पथ्य के औषधि काम नहीं कर सकती है अर्थात् दोनों की स्थिति अन्योन्याश्रित है। वेदना दूर करने के लिये बषना औषधि रखने की बात करते हैं अथवा रसायन पीने की।[४] इस प्रकार सन्तों को खाने की औषधि, पीने के रस और भस्मादिक रसायनों का ज्ञान है। सन्तों ने ऐसे वैद्यों का भी उल्लेख किया है जो ठीक ढङ्ग से न नाड़ी का ज्ञान रखते हैं और न ठीक निदान ही करते हैं। ऐसे वैद्य के मिलने पर भी रोग की पीड़ा नहीं जाती। वषना ऐसे वृद्धों की चर्चा करते हैं जिनकी अवस्था के कारण

१—क० ग्र०, पृ० १३०, १३१, १३२ : वही, पृ० १४९; १८३ : वही, पृ० २३५ : वही, पृ० २६२ : क०बी०, पृ० २०४;५७. २—रवि० ज्वाला०, पृ० ११;२१ : गु०ग्र०, पृ० ८३६;२ : वही, पृ०१४८;२ : वही, पृ०३७३;५. १ : वही, पृ० ६८८; १ 'संसारु रोगीनाम दारु मैलु लागे सच बिना' 'नानक'. ३—गु० ग्र० पृ० १६८;१ : वही, पृ० १२७८; १. ४—सि० बा०; हि० अनु०, वर्ष १० अंक ३, पृ० ३७ : धरम० बा०, पृ० २६;२ : रज्जब० बा०, पृ० ४; ३४ : वही, पृ० २२५;७ : बषना० बा०, पृ० २;६ : वही, पृ० ७९;४५.

नाड़ी शिथिल होने लगती है और कहते हैं ऐसे व्यक्ति को वैद्य कहाँ मिलेगा ? सुन्दर के अनुसार, शरीर में चक्र की स्थिति में व्याप्त नाड़ियों के रहस्य को जानने वाला ही वैद्य कहलाने का अधिकारी है।[१] इस युग में साधु, सिद्ध तथा योगी लोग भी इलाज करते थे और प्रायः लोग असाध्य रोगों में उनकी शरण में जाते थे।[२]

सन्तों को वैद्यक-शास्त्र की अनेक बातों का ज्ञान है। यह तो उनके लिये साधारण जानने की बात है कि औषधियों में लता के पत्तों का भी उपयोग होता है, औषधियाँ पीसी जाती हैं अथवा कूटी जाती है। परन्तु ये इस बात का भी ज्ञान रखते हैं कि मनुष्य की साँस चलने की प्रक्रिया किस प्रकार है पलटू कहते हैं—"बैठने के समय साँस बारह अङ्गुल तक चलती है, चलते समय अठारह अङ्गुल, सोते समय तीस अंगुल, मैथुन के समय चौंसठ अङ्गुल, जप और तपस्या करने वालों की आठ अङ्गुल तथा योगी की केवल चार अङ्गुल पर स्थिर रहती है।[३]" पलटू ऐसे रोगियों का भी उल्लेख करते हैं जो अपने रोग का संवरण नहीं कर पाते और दोष वैद्य को देते हैं।

पलटू रसायन तैयार करने की प्रक्रिया का भी उल्लेख करते हैं जिसमें शीशी, सम्पुट देना, दवाई पीसना, भली-भाँति मूदंना, भट्टी जलाकर चढ़ाना, ईंधन से अग्नि का ताप देना आदि का वर्णन किया है। तुलसी साहब ने बूटियों से घूटी तैयार करने का भी ज़िक्र किया है और यह भी माना है कि औषधि का निदान वही वैद्य कर सकता है जो नाड़ी से व्यथा को समझ पाता है। तुलसी साहब ने वैद्य के साथ हक़ीम का भी उल्लेख किया है जिसका सम्बन्ध यूनानी रोग-निदान शास्त्र से है।[४] मध्यकाल में मुस्लिम शासकों के बीच भी आयुर्वेद का प्रचलन रहा है। सिकन्दर लोदी के शासन-काल में संस्कृत के आयुर्वेद ग्रंथों का फारसी में अनुवाद किया गया। मुग़ल काल में अनेक वैद्यों ने ख्याति प्राप्त की थी।[५]

१—बषना० बा०, पृ० ८७; ५७ : वही, पृ० ८८; ५८ : वही, पृ० ९३; ६६ : सु० ग्र०, भा० २, पृ० १०३; १५. २—बु० बा०, पृ० १० १३—'आवे जोगी करे तबीबी तब सब पावे'. ३—पलटू० बा०, भा० २, पृ० ६१; ६३ : वही, भा० १, पृ० ७८; १६६. ४—पलटू० बा०, भा० १, पृ० १०३; २६६ : तु० बा०, पृ० २५१; ६ : तु० श०, भा० १, पृ० ४; १०. ५—डॉ० ई० प्र० म० भु० का इ०, पृ० ५४२ : डॉ० म० वि० प०-उ० म० का० भा०, पृ० ४८२.

मशालची—मध्यकाल में प्रकाश व्यवस्था के विविध उपकरणों में मशाल का महत्वपूर्ण स्थान था। मशालों का प्रयोग विशेषकर अस्थायी रूप से चलते-फिरते किया जा सकता था। भीड़-भाड़ के साथ रोशनी के लिये मशालों का प्रयोग किया जाता था। सेनाओं में भी इनका उपयोग होता था। मशालों को लेकर चलने वालों को मशालची कहते हैं। सन्तों ने मशालची की मशाल लेकर चलने की स्थिति से अपना दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। मशालची की मशाल की रोशनी ऊपर की ओर तो जाती है परन्तु उसको अपना पैर नहीं दिखाई देता। वह प्रकाश देकर सबका मार्ग प्रशस्त करता है, परन्तु उसे स्वयं अपना मार्ग नहीं मिल पाता।[1]

ढिंढोरा पीटने वाला—जन साधारण में राज्याज्ञाओं तथा आदेशों को प्रचारित करने के लिये अथवा अन्य घोषणाओं के लिये ढिंढोरा पीटने वाले का उपयोग होता रहा है। यह ढोल पीटकर या डुग्गी पीटकर जनता के बीच समाचार को प्रचारित करता रहा है। वस्तुतः जिन आज्ञाओं या सूचनाओं को वह घोषित करता है, उसमें इसका अपना कुछ नहीं होता है। इसी कारण इसको केवल बात कहने वाला (गाल बजाने वाला) माना गया है। धरमदास इसी दृष्टि से कहते हैं—'ढोलिया साधू सदा संसार'। परन्तु इस ढोल पीटकर घोषणाओं को प्रचारित करने में उसका अपना महत्व है—"ढोल पीटने वाले का कर्तव्य नगर में घर-घर समाचार पहुँचाना है जिससे लोग सतर्क हो जाँय। सन्तों में डोंडी पीटने का प्रयोग, अधिकार की घोषणा के रूप में किया गया है—'डोंडी बाजे नाम की वरन भेष की नाहिं।"[2]

पनिहारी और पीसनहारी—ये दोनों कार्य लौकिक जीवन में स्त्रियों के द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। वस्तुतः ये दोनों न केवल सामाजिक कार्य की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं, वरन् इनका सामाजिक जीवन में भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है, विशेषकर पनिहारी का व्यक्तित्व पनघट से सम्बद्ध होकर लौकिक जीवन को कोमल और स्निग्ध करता रहा है। कबीर कहते हैं कि यदि पनिहारी की रस्सी टूट जाय तो उसको घड़ा के विना ही लौटना पड़ेगा। हरि पुरुष के अनुसार पनिहारी को सिर पर घड़ा रखकर सीधा अपना मार्ग देखना चाहिये अन्यथा ठोकर लगकर घड़ा के गिर जाने और

१—पलटू० बा०, भा० ३, पृ० ४७; ९९. २—धरम० बा०, पृ० ४१; २८ : वही, पृ० १६; १ : दूलन० बा०, पृ० २९; ६ : पलटू० बा०, भा० ३, पृ० ४; ८.

टूट जाने का डर है। यारी साहब भी सिर पर कलसे को धारण किये हुए पनिहारी की कल्पना करते हैं।[1] यदि कुँआ गहरा है तो पानी भरने में कठिनाई होती है। इसी प्रकार सूखे कुँआ और विस्तृत घाट से भी पनिहारी निराश होकर लौटती है। कुँए पर खड़ी हुई पनिहारी भी बिना रस्सी के पानी कैसे भर सकती है या रस्सी के टूट जाने पर उसका क्या वश चल सकता है।[2]

अनाज से आटा तैयार करने के लिये हाथ की चक्की का ही प्रचलन था और ऐसी स्थिति में पीसनहारी का महत्व स्वयं सिद्ध है। वस्तुतः पानी भरने तथा पीसने का कार्य घर की स्त्रियाँ ही करती थीं, इस कारण इन दोनों कार्यों को केवल सेवा-कार्य के रूप में ही नहीं माना जा सकता है। प्रायः परिवारों की बहुएँ पीसने का कार्य करती हैं, इसी कारण कबीर सुन्दरी को मन मारकर बारीक पीसने के लिये उपदेश देते हैं। गुलाल साहब को इस बात का भी अनुभव है कि पीसने वाली अपना अन्न बारीक पीसने के बाद आँचल झाड़ कर उठती है। पीसने वाली प्रायः वियोगिनी तथा विधवा स्त्रियाँ ही होती हैं जो पीसने के साथ ही अपने हृदय की वेदना भी व्यक्त करती हैं—'पिसना पीसे रांड़ री, पिउ पिउ करे पुकार'। इस भाव को व्यक्त करने वाले लोक-साहित्य में अनेक गीत प्रचलित हैं।[3] इनके साथ पोतनहारी का भी उल्लेख मिलता जो है मिट्टी से घरों की पुताई करती है।[4]

अन्य विविध पेशे—अनेक वेष धारण करने वाला **बहुरूपिया** जो इस प्रकार समाज का मनोरञ्जन करता है। इत्र आदि सुगन्धित द्रव्यों को बेचने वाला **गन्धी**, जोकें लगाकर खराब रक्त को निकालने वाला **सींगी** (जिसे सींगी लगाना भी कहते हैं), तीर बनाने वाला **तीरगर**, अनेक नकलों से लोक का मनोरञ्जन करने वाला **भाँड़**, शहद निकालने वाला **मधुआ**, लकड़ी काटने, चीरने और बेचने वाला **लकड़ीहारा**, जो कुल्हाड़ी से लकड़ी भी

१—सं० कबीर, पृ० ५३;५० : हरि० पु०, पृ० ६१ : यारी० बा०, पृ० ५;१५. २—क० ग्रं०, पृ० १३३;१४० : वही, पृ० १८६;२९८ : वही, पृ० २६८; ११ : वही, पृ० ३०६; १४१. ३—क० ग्र०, पृ० २९;१३. २० : गु० बा० भु०, पृ० ६०; १७३ : पलटू बा०, भा० १, पृ० १७;३६. ४—क० ग्र०, पृ० १३८; १५५.

काटता है, दीवार की चिनाई करने वाला **मेमार** या **राज**, ढुलाई आदि का काम करने वाला **मजदूर** तथा अनेक प्रकार की कारीगरी करने वाला **कारीगर**, इन सबका उल्लेख सन्त-काव्य में मिलता है ।[1]

परिवार—भारतीय सामाजिक व्यवस्था में हिन्दू सम्मिलित परिवार एक सुदृढ़ इकाई के रूप में प्राचीन काल से चली आ रही थी। संयुक्त परिवारों की यह स्थिति मध्यकाल में और भी विकसित हो चुकी थी। पाँचवीं शती तक भारतीय समाज ज्ञान-विज्ञान, व्यापार-व्यवसाय तथा अन्य सभी क्षेत्रों में अग्रसर होता जा रहा था। परन्तु छठीं शताब्दी से ही ज्यों-ज्यों हिन्दुओं की राजनीतिक और सामाजिक शक्तियाँ विशृङ्खलित होती गईं, त्यों-त्यों आत्मरक्षा की भावना से प्रेरित होकर जातियों और वर्गों के ढाँचों के साथ ही उन्होंने परिवार को भी एक साधन के रूप में स्वीकार किया। एक ओर जाति-पाँति के बन्धन कड़े और कठोर होते गये तो दूसरी ओर संयुक्त परिवार का आश्रय भी अधिकाधिक बढ़ता गया। आर्थिक निर्भरता के कारण भी संयुक्त परिवारों की स्थिति अनिवार्य हो गयी थी। भूमि पर निर्भर रहने वाले लोगों को संयुक्त रूप से कार्य करना अधिक सुविधाजनक जान पड़ता है।[2]

वैसे तो आर्यों के प्राचीन सङ्गठन का आधार भी कौटुम्बिक सम्बन्ध था और इसी के आधार पर राष्ट्रों का जन्म भी हुआ था, परन्तु इस परिवार में मुख्यतया माता-पिता और सन्तान आती थी। क्रमशः मध्यकाल में यह पारिवारिक सङ्गठन एक बड़ी इकाई के रूप में सङ्गठित होता है जिसके अन्तर्गत माता-पिता या सास-सासुर, भाई-बहन, बहु, पति, देवर, जेठ, चाचा, ताऊत जेठानी, देवरानी, बाबा, दादी आदि अनेक सम्बन्धी माने गये हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक पारिवारिक सम्बन्धी भी हैं, जैसे—बुआ, मौसी, फूफा, मौसा मामा, नाना आदि। सन्तों को इस पारिवारिक जीवन का और उसके

१—पानप० सु० बे०, पृ० ३२; ४ : रज्जब० बा०, पृ० २८३; १८ : वही, पृ० २०; ५ : स० सु० सा०, पृ० ५२३; २३ : पलटू० बा०, भा० १, पृ० १७; ३६ : गरी० बा०, पृ० १४३; १४ : क० ग्र०, पृ० २५; १२. ४३ : प० बा०, भा०, १, पृ० २; ४२ : दरि० वि० अनु०, पृ० १८४; ८१७ : पानप-बोध, पृ० ९३; १, २ : तु० शब्द०, भा० १, पृ० १२०; ६ : रज्जब० बा०, पृ० २७१; १५० : घरनी० बा०, पृ० १४; २ : दा०, बा, भा० १, पृ० १९८; ३५. २—हिन्दू परि० मी०, पृ० ६३, ६४.

सङ्गठित स्वरूप का पूर्ण अनुभव है। उन्होंने अपने काव्य में न केवल इनका उल्लेख किया है वरन् इनकी सम्बन्धात्मक स्थितियों पर भी प्रकाश डाला है। सन्तों ने सांसारिक तथा पारिवारिक जीवन को माया रूप में आध्यात्मिक-साधना के मार्ग की बाधा के रूप में ही माना है, परन्तु उनकी साधना-पद्धति संसार या परिवार में रहकर अग्रसर होने की थी। इस कारण उनका पारिवारिक जीवन का अनुभव बहुत प्रत्यक्ष है।

वधू की स्थिति—पारिवार का मुख्य केन्द्र पति-पत्नी का सम्बन्ध है, ये ही गृहपति और गृहिणी के रूप में उसकी व्यवस्था को सञ्चालित करते हैं। लौकिक जीवन में पति-पत्नी की स्थिति अपने संयुक्त परिवार के बीच पुत्र और वधू के रूप में निर्धारित होती है। लोकगीतों की भावाभिव्यक्ति में इस वधू का महत्वपूर्ण स्थान है और पुत्री के व्यक्तित्व का जो रूप इन गीतों में निहित है, वह भी बहू बनने की सम्भावना के साथ ही है। सन्तों ने अपने पति के साथ सास, ससुर, जेठ, ननद, देवर आदि के बीच में इसी वधू को अङ्कित किया है। "वह सास के द्वारा प्रताड़ित, ससुर की प्यारी, जेठ के नाम से डरने वाली, देवर से प्रेम करने वाली और अपने प्रिय (राम) से वियुक्त होने के कारण बावली है। और उधर यह वधू अपने झगड़ा करने वाले पिता और मतवाली माँ से भी खिन्न है। केवल अपने बड़े भाई के साथ रहने में उसे सन्तोष है, क्योंकि तभी उसका पति उससे प्यार करता था।"[१]

विवाह के उपरान्त बहू के रूप में लड़की को इतना नियन्त्रण और आक्रोश सहना पड़ता है कि ससुराल की कल्पना मात्र से वह सङ्कुचित होने लगती है। धरमदास इसी स्थिति का वर्णन करते है—"अपनी सखी, सहेलियों के बीच आँगन में खेलती हुई लड़की का मुख गौना निकट आने की सम्भावना से धूमिल हो गया। गौने के बाद ही सास उसे पानी भरने को भेजेगी और अनुभवहीन बहू का मन कुएँ को देखकर ही उद्विग्न हो उठता है। पनघट की भीड़ के बीच उसकी गागर फूट गयी और अब वह सोचती है कि वह छूँछे हाथों घर जाकर क्या उत्तर देगी? घर पर दारुण सास है और हठीली ननद। न कोई सङ्गी है न साथी, किससे वह अपना दुःख कहेगी। इस प्रकार वह स्त्री द्वार पर खड़ी सिसकियाँ लेती है और मन में पछताती है कि प्रिय भी उससे मुख से नहीं बोलते। किस गुण से वह सन्तुष्ट होगा।"[२] इस चित्रण में परिवार में बहू की स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सास

१—स० कबीर, पृ० ११५, २५. २—धरम० बा०, पृ० ५९,४.

बहू से अनेकानेक घर के कार्य लेती है। कबीर के अनुसार सास बहू को चरखा (रहटा) पर बारीक सूत कातने का आदेश देती है, क्योंकि बिना काते निस्तार नहीं और इस पर बहू, पति की सौगन्ध खाकर सूत कातने का वचन देती है।[1]

बहू, सास और ननद के प्रति सदा शङ्कालु रहती है। उसे निरन्तर भय है कि किसी काम को बिगाड़ देने पर अथवा किसी वस्तु को खो देने पर उसे उनकी प्रताड़ना सहनी पड़ेगी। हार खो जाने का उसे उतना दुःख नहीं है, जितना सास का भय है।[2] ननद के आतङ्क से भी भाभी डरती है, क्योंकि वह जानती है कि बहन का भाई पर प्रभाव है। कभी-कभी तो पड़ोसिन भी दोनों के बीच में अन्तर डाल देती है और उसे ननद को मानना पड़ता है। बहू सास को कठोर और ननद को बैरिन के रूप में समझती है, क्योंकि वह लड़कर उसे बाहर निकाल देती है—'सास मोरी दारुणि ससुर मोर भोला ननद बैरिन भइली काढ़ि दियो डोला हो।' यहाँ ससुर को अवश्य भोला कहा गया है।[3]

नैहर और ससुराल—पुत्री के प्रति पिता और घर के बन्धु-बान्धवों का यही कर्तव्य है कि उसके लिये वर खोज कर विवाह कर दिया जाय। विवाह के अवसर पर परिवार के लोग मण्डप छाते हैं, लगन लिखाते हैं, सखी-सहेलियाँ मङ्गल गान करती हैं, जीवन के सुख-दुःख के प्रतीक के रूप में हल्दी चढ़ाई जाती है और फिर पति के साथ गाँठ जोड़ कर भाँवर फेर दी जाती है। इस प्रकार परिवार के स्नेह में पली हुई लड़की पराई हो जाती है और अपने पति के साथ सास-ससुर, देवर-जेठ, नन्द, देवरानी, जेठानी के बीच चली जाती है। यदि बहू के रूप में इस कन्या से कोई दोष या अपराध हो जाता है तो सास, ननद उसे उलाहना देती हैं और वह लज्जित हो जाती है—"सासु ननद दोऊ देत उलाहन रहब लाज मुख गोइ हो।"[4] बहू के रूप में इसको जैसा ऊपर कहा गया है, सास और ननद का कठोर अनुशासन सहना पड़ता है और अनेक बार प्रताड़ना भी सहनी पड़ती है। परन्तु कभी-कभी यही बहू उदण्ड तथा उग्र स्वभाव के कारण अथवा कौशल से सभी को अपने वश में कर लेती है। ऐसी स्त्री अपनी सास तथा ननद को बाँध कर रखती है, ससुर को गाली देकर ठीक रखती है

१—क० ग्रं०, पृ० १६५; २२८. २—वही, पृ० २१३; ३७८. ३—बु० भु०, पृ० २२; ५७. ४—क० ग्रं०, पृ० १६५; २२६, २२७ : क० बीजक, पृ० ३०५; १.

और अन्य सबको भी इसी प्रकार आतङ्कित कर अपने पति पर पूर्ण अधिकार कर लेती है।[1] सम्भवतः ऐसा तभी होता है जब स्त्री कुशलता से अपने पति को वश कर लेती है।

विरहिणी नारी—पति के परदेश चले जाने पर नारी की स्थिति और भी दयनीय हो जाती है। वैसे भी उसके मन में अपने पति के प्रति निरन्तर सङ्कोच बना रहता है—"समय अधिक बीत गया और प्रिय नहीं आये। नैहर में प्रिय उसे लेने नहीं आये और वह लाजवश नहीं कह सकती। ससुराल जाने में भी उसे लज्जा का अनुभव होता है, वह क्या करे, नहीं जानती।"[2] ऐसी स्थिति में जब कि उसके पति परदेश में हैं उसे अपने मायके में रहना भी क्रूर लगता है, यद्यपि लड़कियों को अपने मायके पर बड़ा गर्व होता है। "वह सोचती है कि उसे कोई ऐसा गुण नहीं आता है, फिर वह किस प्रकार वहाँ अपना निर्वाह करेगी। उसकी सौत भी वहाँ है और ऐसी स्थिति में उसके मान की रक्षा कैसे होगी। सास-ननद वैसे ही दारुण हैं, पति नहीं होने पर उनकी कठोरता और भी अधिक बढ़ जायेगी। गाँव के लोग ऐसे (लड़या) कलङ्क लगाने वाले हैं कि ससुर के साथ ही अपराध लगाते हैं। ऐसी स्थिति में विरहिणी स्त्री रात-दिन दुःख की ज्वाला में बिना पति के अपने यौवनरूपी मन को खो रही है, किसी प्रकार नियम धर्म में अपने मन को लगाकर सांसारिक कर्मों में अपने मन को मग्न रखती है।"[3]

समाज में पति के बिना (चाहे पति परदेश ही क्यों न गया हो) स्त्री का सम्मान नहीं। उसके उल्लास को लोग आलोचना की दृष्टि से देखते हैं। विरहिणी-स्त्री यदि किसी के साथ प्रेम करती है, तो वह लज्जा छोड़कर अपने सास-ससुर तथा ननद आदि के सम्मुख प्रकट कर देती है। लोक-समाज के सामने उसका यह बड़ा साहसिक क़दम है। गाँव के लोग उसकी हँसी उड़ाते हैं, उसकी प्रताड़ना करते हैं, सास-ससुर मारते-पीटते हैं और देवर को उसके पीछे लगा देते हैं। ऐसी मनःस्थिति में वह स्त्री अपने नैहर के लोगों—भाई-भौजाई आदि का कहना भी नहीं मानती।[4] वस्तुतः यहाँ गुलाब साहब ने अपने रूपक में लोकजीवन का यथार्थ चित्रण किया है।

इसी प्रकार का एक दूसरा चित्र प्रस्तुत किया गया है जिसमें स्त्री

१—क० बीजक, पृ० २११; ६२. २—गु० बा० भु०, पृ० २३८; ५४४.
३—गु० बा० भ० पृ० ६७:१९३. ४—वही, पृ० २७३; ६८१.

अपने मायके से अभिमानवश ससुराल नहीं जाना चाहती और दूसरी ओर गाँव के पास-पड़ोस के लोग उसके यौवन-पूर्ण शरीर को देखते हैं और रात-दिन इस बात की चर्चा चलाते हैं कि जवान लड़की पीहर में क्यों है? उसके हृदय की पीड़ा को कोई नहीं जानता है कि वह आँचल पसार-पसार कर अपने पति के वापस आने की कामना करती रहती है। यह कौन जानता है कि वह ससुराल अपने ससुर की सङ्गति से बचने के लिये नहीं जाती—उसको अपने ससुर के आचरण के प्रति सम्भवतः अविश्वास हैं। वहाँ सास, ननद तथा सौत के झगड़ा से उसकी रक्षा किस प्रकार होगी।[1]

कर्कशा-नारी—पारिवारिक जीवन में अनेकानेक सम्बन्धों के बीच में भी सन्तों की दृष्टि नारी की ओर एकाग्र रही हैं। वैसे भी सन्तों ने नारी को सम्पूर्ण सांसारिकता का प्रतीक मानकर माया, भ्रम और प्रवञ्चना के रूप में वर्णित किया हैं। परन्तु नारी के सम्बन्ध में यह उनकी आध्यात्मिक दृष्टि है। सन्तों ने सामाजिक और पारिवारिक सन्दर्भ में नारी के कर्कश रूप का वर्णन किया है, जो वस्तुतः यथार्थ जीवन से ग्रहण किया गया है। दरिया के अनुसार जिस परिवार में कर्कशा-स्त्री होती है उसकी ससस्त सुख और सम्पत्ति निरर्थक चली जाती है। इस प्रकार उन्होंने ऐसी स्त्री का चित्र प्रस्तुत किया है—"वही कर्कशा-स्त्री है, जिसको भलाई की बात भाती नहीं और अपनी रुचि के लिये झगड़ती है। उसे मार-पीट का भी डर नहीं होता। वह नेत्रों में काजल लगा कर और नख से शिख तक शृङ्गार कर आभूषण धारण कर अहङ्कार के साथ झमक कर चलती है। अपने पति के साथ सुबह-शाम वाद-विवाद और झगड़ा करती है। वह अपने प्रिय से रूठकर बैठ जाती है, उसका सारा ध्यान खाने-पीने और भोग-विलास में रहता है।"[2] वस्तुतः ऐसी स्त्री किसी भी सामाजिक जीवन में मिल सकती है।

फूहड़ नारी—कर्कशा-स्त्री के समान ही सन्तों की दृष्टि में फूहड़ स्त्री का चित्र आया है। पलटू साहब कहते हैं—"फूहड़ नारी आलसवश ऐसी भूलती है कि भात में हींग डालती है। इसी प्रकार सभी काम उल्टे-सीधे करती हैं। बारीक सूत कातने के बजाय मोटा सूत काततती है। पीछे लँहगा जलता है और वह चूल्हे में पानी डालती है। आँख में महावर लगाती हैं और पैर में काजल लगाती है। इस प्रकार वह स्त्री हँसिया के विवाह में

१—गु० बा० भु०, पृ० २८०; ७१०. २—दरि० वि० अनु०, पृ०१५६, २२.

खुरपे का गीत गाती है।[१]" यहाँ किञ्चित अतिरञ्जना करके कवि ने चित्र को और भी व्यञ्जित कर दिया है।

अनैतिक सम्बन्ध—सन्तों ने लौकिक जीवन को केवल काल्पनिक रूप से ही अपने काव्य में व्यञ्जित किया है। ऐसी स्थिति में समाज के या परिवार के विविध पक्षों के साङ्गोपाङ्ग चित्रण की अपेक्षा उनसे नहीं की जा सकती। जो कुछ इस जीवन के सूत्रों का सङ्कलन किया जा सकता है, वह केवल अनेक सन्दर्भों से एकत्र करके ही। सन्तों ने अपने आध्यात्मिक सत्य के गूढ़ रहस्य को व्यञ्जित करने में उलटवासियों का प्रयोग किया है जिनमें प्रकृति तथा सामाजिक जीवन की सहज स्थितियों के विषय के माध्यम से वे ऐसा कर सके हैं। इन विषयों में परिवारिक सम्बन्धों की अनेक अनैतिक तथा वर्जित स्थितियों का अङ्कन किया गया है। इस प्रकार के रूपकों में "पुत्र माता को रख लेता है, कुँवारी कन्या पिता के साथ चली जाती है। बहू ससुर का संसर्ग करती है और अपनी सास की सपत्नी हो जाती है। समधी के साथ समधिन जाकर घर बसाती है।"[२] इन विसङ्गतियों में प्रत्यक्ष रूप से साधारण परिवार का चित्र नहीं स्वीकार किया जा सकता, परन्तु यह माना जा सकता है कि समाज के किसी स्तर पर इन अनैतिक तथा वर्जित सम्बन्धों की स्थिति सन्तों के पर्यवेक्षण में आयी है और उन्होंने इसी से प्रेरित होकर अपनी इन उलटवासियों का प्रयोग किया होगा।

विविध सम्बन्धों की स्थिति—जिन सम्बन्धों का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है उनके अतिरिक्त सन्तों के काव्य में निम्नलिखित अन्य सम्बन्ध भी पाये जाते हैं—साला, साली, ननदोई[३], समधी[४], भाभी[५], दादा, बाबा, परबाबा[६], भानजी,[७] दादी,[८] चाचा, चाची, फूफेरा (भाई-बहन), ममेरा (भाई-बहन) और मौसेरा (खलेरा भाई-बहन)।[९] सन्तों ने इस प्रकार के संयुक्त परिवार में लड़ाई-झगड़े का चित्रण भी किया है। कबीर कहते हैं—"इस घर में भारी झगड़ा मचा रहता है। रात-दिन स्त्री और लड़के भोजन-वस्त्र के लिये

१—पलटू बा०, भा०, २, पृ० ११४; २५६. २—क० बीजक, पृ० ११७; ६—ऐसी अनेक उलटवासियाँ सन्तों में मिलती हैं. ३—गरी० बा०, पृ० ११२; ३. ४—वही, पृ० ११४; ६. ५—पलटू, भा० २, पृ० २; ४. ६—क० बीजक, पृ० ११२; ५. ७—क० ग्र०, पृ० ; २०. ८—वही, पृ०; ३०५. ९—धरनी० बा०, पृ० ८; ९, १०.

आपस में झगड़ा करते हैं और कोई किसी की भी बात नहीं मानता। परिवार के इस प्रकार के झगड़ों से मनुष्य का मन दुःखी और उद्विग्न हो जाता है।" पलटू पड़ोसियों की तकरार और झगड़े से भी परिचित हैं। "ये पड़ोसी अपने झोपड़ों से नित्य उठकर एक दूसरे की प्रतिद्वन्द्विता में लड़ाई-झगड़ा करते हैं। ये नहीं समझते कि उनका विवाद निरर्थक है, वे तो क्षणिक और साधारण बातों पर खटपट कर लेते हैं।"[1]

समाज के अन्य अङ्ग—**दास और दासी**—भारतीय समाज में दास और दासियों की स्थिति बिके हुए गुलाम जैसी थी। इनसे आजन्म अथवा वर्ण के अनुसार सेवा लेने का अधिकार तथा आदान-प्रदान करने की सुविधा समाज में प्रचलित रही है। इसके साथ ही मुसलमानों के आने से गुलाम बेचने की प्रथा का परिचय भी यहाँ के समाज को हो चुका था, वैसे भी यहाँ के दास-दासियों की स्थिति बहुत भिन्न नहीं थी। कबीर के अनुसार—'जास का सेवक तास को पाईये' अर्थात् सेवक की भलाई अपने मालिक के पास रहने में ही है। इन दास-दासियों और उनके बच्चों की चिन्ता करने वाला कोई नहीं था—'चेरि के बालक के नाईं कासु बात कहेरे' चेरी का बालक अपनी बात किससे कहे। फिर भी मध्य युग में सेवा का आदर्श ऊँचा था और उसकी भावना से सन्त भी प्रभावित थे, यह अलग बात है कि वे आध्यात्मिक सेवा को ही मुख्य सेवा मानते थे।[2] कबीर अपने समय की बेगार से भी परिचित हैं—'जनम अनेक गया अरु आया, की बेगारि का भाड़ा पाया' और गुलामों के बेचने की पद्धति से भी उनका परिचय है—'मैं गुलाम मोहि बेचि गुसाईं, तन मन धन मेरा रामजी के तांई।' लगता है कबीर के समय लोग अपने लड़के या लड़की को बेच दिया करते थे—'कोई लरिका बेचई लरकी बेचे कोइ।'[3]

धरमदास अपने को गुलाम कहकर ही स्वामी के प्रति पूर्णतः समर्पित होने की बात करते हैं। रामदास सिर पर भार रखकर बेगार करने वाले बेगरिया की चर्चा करते हैं। नानक सेवा करने वाले को सच्चा चाकर स्वीकार करते हैं। अर्जुनदेव पंखा झलना, पानी भरना तथा चक्की पीसना, दास का

१—क० बीजक, पृ० ११४;३ : पलटू बा०, भा० १, पृ० ९२; २३८. २—क० ग्र०, पृ० १५६; १८९ : वही, पृ० १९३;३१० : वही, पृ० २४१ (रमैणी) ३—क० ग्र०, पृ० १२३; ११० : वही, पृ० १२४; ११३ : स० कबीर, पृ० २५५;४३.

सेवा कार्य मानते हैं। बषना के 'बिन मोल की बाँदि' कहने में यह निहित है कि बाँदियों के बिकने की परम्परा से ये परिचित हैं।[1] मलूकदास, धरनीदास, बुल्ला साहब, केशवदास, रामचरण तथा पलटूदास आदि सन्तों ने चाकर, दास, गुलाम, सेवक, ख़िदमतग़ार की चर्चा की है। उन्होंने लौकिक-सामाजिक जीवन की गुलामी से मुक्त होकर आध्यात्मिक स्वामी की सेवा को स्वीकार किया है।[2] यह अवश्य है कि अपने इस स्वामी के प्रति उनका प्रणत-भाव दास की भावना के समान है। जैसा कि कहा गया है कि दास-दासियों की रखने की तथा उनके आदान-प्रदान की प्रथा भारतवर्ष में पहले से ही प्रचलित रही है[3] और यह प्रथा मुस्लिम आक्रमणकारियों के साथ भी इस देश में आई है।[4] ऐसी स्थिति में सन्तों के काव्य में इसका पूरा परिचय मिलना स्वाभाविक है।

गारुड़ी—सर्पों के विष को उतारने की विद्या के जानने वाले को गारुड़ी कहते हैं। इस विद्या का प्रचार प्राचीन समय से भारत में रहा है। जड़ी-बूटियों से विष को उतारने के अतिरिक्त मन्त्र-तन्त्र (झाड़-फूंक) से भी विष उतारा जाता रहा है। यहाँ तक कि इस ज्ञान का प्रचार यहाँ से अरब देशों में भी हुआ।[5] गारुड़ी वस्तुतः सपेरा ही है जो साँप को दिखाकर मनोरञ्जन करता है और साथ ही विष उतारने की विद्या भी जानता है। उस काल में बड़े-बड़े नगरों के चौराहों पर सपेरा बीन बजाकर और साँप नचाकर अपनी जीविका कमाते थे।[6] सन्तों ने गारुड़ी का उल्लेख विष (सांसारिक भोग-विलास) उतारने वाले के रूप में किया है। कबीर कहते हैं—"मैं विष से मरता हूँ और तुम गारुड़ी हो, मुझे क्यों नहीं अमृत-

१—धरम० बा०, पृ० २४; १३ : गु० ग्र०, पृ० १६६;४ (रामदास) : वही, पृ० ७२६;४ (नानक) : वही, पृ० ७४८;७ (अर्जुनदेव) : बषना बा०, पृ० २८;६, १०. २—मलूक० बा०, पृ० १६;१ : धरनी० बा०, पृ० ४२; ३१ : बु० बा० भु०, पृ० २७; ७३ : केशव० बा० भु०, पृ० १५; ३३ : रामचरण० बा०, पृ० १५७; २४ : पलटू बा०, भा० ३, पृ० १०२; २३. ३—डॉ० ओ० म० का० भा० संस्कृति, पृ० ४८. ४—डॉ० रिजवी तु० का० भा०, भा० १, पृ० २३८, ३२५ : जहाँ आ० कथा, पृ० ३८० : डॉ० यासीन पृ० ४३. ५—अरब भा० सम्बन्ध, पृ० १२८. ६—डॉ० असरफ़ ला० एण्ड क० आ० हि०, पृ० २११.

दान देकर जिलाते। मुझे सर्प (सांसारिकता) ने डसा है और शरीर में विष व्याप रहा है। साँपिन पिटारी में जागती है और रात-दिन डँसती है, केवल गारुड़ी के रामरसायन से ही जीना हो सकता है।"[1] इसी प्रकार बषना, गुरुदेव को गारुड़ी के रूप में वर्णित करते हैं, जो सर्पिणी के विकराल विष से लहरें खाते हुए व्यक्ति को अमर औषधि से जिला देता है। वह सर्प की सभी बातों से भली-भाँति परिचित होता है, उसको बाँबी से बाहर निकालता है और अपने बीन के नाद से उसको आकर्षित कर मन्त्र द्वारा पिटारी में बन्द कर लेता है। वह तीन बार मन्त्र पढ़कर फूँकता है और चौथी बार विष उतर जाता है।[2] दादूदयाल और रज्जब ने मन को भुजङ्ग के विष को उतारने वाला और वश में करने वाला गुरुरूपी गारुड़ी माना है। गरीबदास भी गारुड़ी के द्वारा सर्प को वश में करने और विष उतारने का वर्णन करते हैं—"साँपिन बाँबी में छिपी रहती है और इतने पर कोई जान नहीं पाता। उसको गारुड़ी 'न्योल-जड़ी' को सूँघकर अपने वश में कर सकता है। वह बीन बजाकर सर्पिणी को उत्तेजित कर देता है और वह फुँफकारने लगती है। जो अनजान गारुड़ी है, वह उससे भयभीत होकर भाग खड़ा होता है। जो सच्चा गारुड़ी (गुरु) है, वह सर्प का मन्त्र जानता है। वह नागदर्शन की 'तिरगुन' जड़ी से विषधर को वश में कर लेता है। बाजीगर अपनी डुगडुगी (सम्भवतः बीन) से विषधर को भ्रम में डाल देता है और पिटारी में बन्द कर उसे घर-घर नचाता घूमता है।" पलटू ने भूत उतारने वाली हादी का उल्लेख भी किया है, यद्यपि अन्य सन्तों में भूत उतारने आदि के सन्दर्भ नहीं हैं।[3]

वेश्या—सन्तों की दृष्टि समाज के सभी पक्षों पर गयी है। उन्होंने समाज के ऐसे अङ्गों की कड़ी आलोचना की है, जो उसके उन्नायक-तत्व नहीं थे। वेश्याओं तथा गणिकाओं का प्रचलन प्राचीन काल से चला आ रहा है। "इस काल में वेश्याओं का प्रचलन और भी अधिक था क्योंकि स्त्री-शिक्षा का अभाव था। अतः वेश्याएं, सुलभ-सौन्दर्य, बौद्धिक विकास-चातुर्य और अलङ्करण आदि का केन्द्र बन गयी थीं। मध्य काल में मन्दिरों के उत्सवों तथा

१—क० ग्र०, पृ० ११४; ८३. २—बषना० बा०, पृ० ७२; ३८. ३—दा० बा०, भा० १, पृ० ८; ८१, ११२ : रज्जब० बा०, पृ० २०; १७ : गरी० बा०, पृ० १७०; ११ : पलटू० बा०, भा० ३, पृ० ७६; १३६.

विवाह एवं मनोरञ्जन के अवसर पर गणिका आमन्त्रित की जाती थी।[1]" मुग़ल काल में वेश्याओं का प्रभाव समाज पर काफी मात्रा में था। अकबर को वेश्याओं को नियन्त्रित करने के लिये शहर के बाहर शैतानपुर में रखना पड़ा था।[2]

सन्तों ने समाज पर पड़ने वाले वेश्याओं के कुप्रभाव का उल्लेख और आलोचना की है। क़बीर कहते हैं—"गणिका के घर पुत्र जन्मा है, उसके पिता का नाम क्या कहा जाय' ? लगता है चेरियों को रखेली के रूप में रखने का प्रचलन भी विशेष रूप से था—'चेरी के बालक की नाई कासूँ बाप कहेरें'। अपने पति को छोड़कर स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति ग्रहण कर लेती थीं, या पति को छोड़ने वाली स्त्रियों को समाज कुलक्षणी वेश्या कहने लगता था—'ओई कलत्रीं कुलखणी परिहरि छोड़ि भतार।"[3] रज्जब के अनुसार अनेक पुरुषों का संसर्ग करने पर भी गणिका का कोई पुरुष नहीं होता और न उसके पिता और पुत्र की स्थिति स्पष्ट रहती है। दरिया वि० पतिब्रता और वेश्या के अन्तर को दृष्टि में रखते हुए तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डालते हैं—"वेश्या तो मलमल धारण करती है और गले में मोती तथा मणियों का हार धारण करती है। परन्तु घर की पतिव्रता नारी गजी (मोटी) की धोती पहन कर रूखे-सूखे आहार पर रह जाती है। ऐसे लोगों की रातें वेश्या के सङ्ग बीतती हैं।"[4]

वेश्याओं में नाच-गाने का भी प्रचलन था, इनको नर्तकी के रूप में जाना जाता था—'पाँव बिन पातर निरतकार'। दरिया (मा०) के अनुसार बिना चरणों के वेश्या का नर्तकी होना कैसे सम्भव हो सकता है। गणिकाएँ लोगों को रिझाने के लिये नाना प्रकार के श्रृङ्गार करती हैं जिससे लोगों का मन उनकी ओर आकर्षित हो जाता है। सन्तों को अपने काल के रण्डियों और भड़ुओं के बीच में विषय वासनाओं में रत रहने वाले लोगों का ज्ञान है और वह यह भी जानते हैं कि वह पैसे की ही मित्रता रखती है, किसी की स्त्री नहीं हो सकती।[5] पलटू दास अपने रूपक में वेश्या का पूरा

१—हिं० सा० बृ० इ० प्र०, भा० पृ० १७० (डॉ० राजबली पांडे). २—अकबरनामा, पृ० १२६. ३—क० ग्र०, पृ० १६३; ३१० : वही, पृ० ६; २२ : गु० ग्र०, पृ० ५१६; ३ (अगरदास). ४—रज्जब बा०, पृ० २६४; ८७: द र० वि० अनु०, पृ० १५०; २१ : वही, पृ० १५६; २२. ५—दरिया (भा०), पृ० ४६; ४ : रामचरण, पृ० ७०·७० वही पृ० १०३; ६ : वही, पृ० १८७; ११.

चित्र प्रस्तुत करते है–"वेश्या शृङ्गार करके बाज़ार के बीच में बैठी है और वहाँ से सभी लोगों से नज़र लड़ाती है। सबसे मीठी-मीठी बातें करती हैं और उनकी गाँठ पर दृष्टि रखती है। चन्दन और इत्र का उपयोग करती है। मलमल के बढ़िया कपड़े पहनती है और अनेकानेक पुरुषों के संसर्ग की आशा करती हैं। सबसे प्रेम प्रदर्शित करके ठगती हैं।[१]" तुलसी साहब अपने समय के ऐसे कुटिल कुपन्थगामी विषय रस में लिप्त लोगों से परिचित हैं जो वेश्याओं के साथ राग-रङ्ग में अपना जीवन बिताते हैं।[२] इस प्रकार सन्तों के काव्य में अनेकानेक ऐसे सन्दर्भ हैं जिनसे समाज के इस पक्ष पर भली प्रकार प्रकाश पड़ता है।

असामाजिक तत्व—प्रत्येक समाज में असामाजिक तत्व भी विद्यमान रहते हैं जो समाज की मर्यादा, व्यवस्था और नियन्त्रण के विरुद्ध रहते हैं। सन्त अपने समसामयिक जीवन के इन तत्वों से भली-भाँति परिचित थे और उन्होंने उनका विरोध भी किया है। समाज में इस प्रकार के तत्व कुछ तो नैतिक आचरण सम्बन्धी मान्यताओं को लेकर होते हैं और कुछ केवल समाज की वाह्य मर्यादाओं के विरुद्ध ही पड़ते हैं। जहाँ तक नैतिक क्षेत्र का प्रश्न है, सन्तों ने सामाजिक जीवन में अहिंसा, मोह, लोभ, अहङ्कार, ईर्ष्या, द्वेष, निर्दयता, पाखण्ड आदि का विरोध किया है और उनकी तीव्र तथा कटु आलोचना भी की है।

परन्तु सन्तों ने अपने समय के ऐसे असामाजिक तत्वों को भी देखा है जो समाज की बाहरी व्यवस्था को विश्रृङ्खलित करते हैं। "समाज में धोखे का व्यापार चल रहा है और इसी में संसार भ्रमित होकर घूमता है। इस संसार में सभी इसी धोखे में फँसे हैं, कोई माला धारण कर कपट का व्यापार करता है और कोई घर-घर जाकर झूठ का व्यापार करता है। लोग आपस में कपट का व्यवहार करते हैं और झूठ-सत्य का विवेक नहीं करते। दूसरे की पीड़ा को नहीं समझते और मृत्यु के प्रति गाफिल हैं" कबीर ने भी धोखे-धडी की दुनियाँ को भली-भाँति देखा है।[३]

इस काल में चोरी तथा ठगी जैसे अपराधों के लिये अत्यन्त कठोर दण्ड

१—पलटू बा०, भा० १, पृ० १५; ३८. २—तु० शब्द, भा० १, पृ० ४६; २. ३—गु० बा० भु०, पृ० ६४; १८५ : वही०, पृ० ६५; १८६ : वही०, पृ० ७३; २१० : वही०, पृ० ३३६; ८६३ : वही०, पृ० ३४२; ८६९ : क० ग्र०, पृ० २५; ४६.

देने की व्यवस्था थी। अङ्ग-भङ्ग करना, अन्धा करना, कोड़े लगवाना, लम्बे अरसे के लिये कारागार में डाल देना आदि साधारण दण्ड थे। अपराध स्वीकार कर लेने पर भी कठोर दण्ड दिये जाते थे। कभी-कभी मौत की सजा तक बड़ी निर्दयता के साथ दी जाती थी, खुले आम फाँसी लगा दी जाती थी और चोर या ठग को उस पर टाँग दिया जाता था।[1] परन्तु इन सबके बावजूद भी देश में उनका आतङ्क छाया रहा है और इस लम्बे काल के दौरान इस क्षेत्र में चोरी-ठगी आदि का प्रचलन राज्यशक्ति के सङ्कुठित तथा शिथिल होने के साथ ही कम-वेश होता रहा है। वैसे भी इस प्रकार के असामाजिक तत्व सभी युगों के समाज में पाये जाते हैं।

कभी-कभी किसी क्षेत्र विशेष में चोर या ठग अधिक प्रसिद्ध हो जाते हैं। कबीर की दृष्टि में अनेक रूप और वेष बनाने वाले बनारस के ठग हैं। उनके अनुसार—"ठग लोग नये सम्बन्ध स्थापित कर धोखा देकर ठगी करते हैं। ये ठग बिना मुख से बोले ही चुपचाप सबको ठगते हुए घूमते हैं। यदि चोर से बचना है तो रात में जागना चाहिये और यदि ठग से बचना है तो सतर्कता बरतनी चाहिये।" उनके अनुसार "समाज में चोरों का डर बहुत है, इसलिये लोगों को अपनी रक्षा के लिए रात में उठ-उठ कर पहरा देना चाहिये।"[2] नानक देव तथा अर्जुन देव सब कुछ अपहरण करने वाले ठगों तथा अत्यन्त कुशल चोरों से परिचित हैं। दरिया (मा०) के अनुसार ठगों के बीच से बचकर घर पहुँच जाना आसान काम नहीं हैं। उपगारी के अनुसार ठग प्रलोभन देकर धन और प्राण तक ले लेने में सङ्कोच नहीं करता। रामचरण अपने युग के ऐसे चोरों का उल्लेख करते हैं जो तीर्थ, व्रत तथा स्नानादि तो करते हैं पर चोरी की आदत नहीं छोड़ते। साथ ही चोर के साथ जुआरी का भी उल्लेख किया है। चोर अपने व्यसन के कारण दूसरे के धन का अपहरण करने की इच्छा करता है, परन्तु कभी धनी के घर पकड़ा जाता है और शोर मचता है, तब उस पर मार पड़ती है और सब उसे चोर कह कर पुकारते हैं। फिर रस्सी से बाँध कर और हाँथों में हथकड़ी डालकर

१—तु० का० भा०, पृ० १८ : उ० ते० का०, भा०, पृ० ११२ : जहाँ० आ० क०, पृ० ४८३, २—क० ग्र०, पृ० २८२; ६ वही०, पृ० ११६; ८६ : वही०, पृ० २१९; ३६४ : वही०, पृ० २०६; ३५०.

उसे ले जाते हैं ।[1] गरीबदास धन-सम्पत्ति लेकर चलने वाले राहगीरों के साथ ठगों का उल्लेख करते हैं जो मौका पाकर उन्हें लूट लेते हैं। इसी प्रकार तुलसी साहब भी अपने समय की बढ़ी हुई बटमारी (लूट) तथा ठगी से भली-भाँति परिचित हैं। उनके अनुसार रास्तों पर ऐसे लुटेरे रहते हैं जो माल लाद कर ले जाने वालों का शिकार करके लूट लेते हैं ।[2]

१—गु० ग्र०, पृ० ६६१;२ (नानक) : वही०, पृ० ८३८; ८ (अर्जुन) : दरि० मा०, पृ० ५३; ३ : उपगारी० बा०, पृ० ४९;२४ : रामचरण० वा०, पृ० १८१; ११ : वही०, पृ० ३०५;१३ : वही०, पृ० ४७८; ४७,
२—गरी० बा०, पृ० १४७; ११ : तुलसी घट० रामा०, पृ० ६४; ६.

पञ्चम प्रकरण

आर्थिक-व्यवस्था

भौतिक विरक्ति की प्रवृत्ति—सन्तों का काव्य अलौकिक जीवन के आदर्श पर प्रतिष्ठित हैं। उन्होंने आध्यात्मिक साधना को लौकिक जीवन की अपेक्षा सदा महत्वपूर्ण माना है और लौकिक जीवन के सहज स्तर पर आध्यात्मिक जीवन के अलौकिक तत्व की प्रतिष्ठा और उसकी उपलब्धि उनकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति की मूलप्रेरणा रही है। उनके लिये सांसारिक जीवन, उसकी व्यवस्था और आर्थिक सुख-सुविधायें उपेक्षणीय रही हैं। उन्होंने संसार के ऐश्वर्य, भोग-विलास और सम्पत्ति के उपभोग को क्षणिक मानकर त्याज्य समझा है। कबीर के अनुसार "मधु-मक्खी के समान धनरूपी मधु का सञ्चय करने वाला व्यक्ति यह नहीं जानता कि मरने के बाद कुछ साथ नहीं जाता। मनुष्य का रूप, ऐश्वर्य और भोग सब मरघट पर पहुँचकर समाप्त हो जाता है।"[1] इस प्रकार कबीर सन्तों की भौतिक विरक्ति की मनोवृत्ति को व्यक्त करते हैं, जिसके अनुसार संसार की क्षणिकता मनुष्य को किसी स्थायी सारवान् वस्तु की ओर प्रेरित करती है।

सन्तों के अनुसार पता नहीं कब मिट्टी खिसक जाय, अतः भित्ति उठाकर टाटी क्यों लगायी जाय? साढ़े तीन हाथ का घेरा अन्ततः मिलना है, फिर ऊँचा वेड़ा क्यों बनाया जाय? इसी प्रकार मन्दिर-महल बनाना भी बेकार है, जब मरने के पीछे एक घड़ी भी रहने नहीं दिया जाता। यह धन-माया क्या किसी के सङ्ग जाती है? जिनके पास लाख और करोड़ की दौलत रहती है, वे भी यहाँ से नङ्गे पैर ही जाते हैं।[2] कबीर सन्तों की विरक्ति के मौलिक आधार क्षणिकता को इस प्रकार व्यक्त करते हैं—"लाखों-करोड़ों की सम्पदा जिन्होंने जोड़कर जमीन में गाड़ रखी है, वे भी हाथ हिलाते हुए

१—क० ग्र०, पृ० १६६; २४१. २—क० ग्र०, पृ० २०८ : ३६१ : वही, पृ० २२१; ४०१ : वही, पृ० २४९; ९.

यहाँ से जाते हैं। हमारे दादा, बावा और परबाबा जिन सभों ने जमीन और बर्तन-भाड़े आदिक जुटाये थे, उन्होंने आखिर यहीं सब छोड़ा ही। यहाँ उपजते और विनसते बादर की छाँह के समान कहीं देर लगती है।"[1] शेख फरीद कहते हैं—"जिनके विजय उद्घोष के लिये नगाड़े और तुरही बजते थे, जो सिर पर राज-छत्र धारण करते थे और जिनकी विरुदावली चारण गाते थे, वे भी कवरिस्तान ले जाये जाकर गरीब यतीमों की तरह से दफ़ना दिये गये। जिनके ऊँचे महल और हवेलियाँ थीं और जिन्होंने झूठा सौदा करके सम्पदा एकत्र की थी, वे भी कबर में दफना दिये गये।"[2]

इस विरक्ति की भावना से प्रेरित होकर मलूकदास कहते हैं—"यह घोड़े-हाथी की सम्पदा केवल चार दिन रहेगी, फिर इसका अस्तित्व मिट जायगा और सब मिट्टी में मिल जायगा।" गुलाब साहब भी 'सब कुछ खाक में मिल जायगा' इस भावना से अनुप्राणित हैं। धरनीदास के अनुसार—"घुड़साल, हाथीखाना, खजाना और सुन्दर स्त्रियाँ सभी जहाँ के तहाँ रह जायेंगे और चार जन उठाकर ले जायेंगे तथा अग्नि में जला देंगे या नदी में वहा देंगे।" पलटू भी संसार की क्षणिकता पर बल देते हैं—"करोड़ों जोड़ने पर भी कौड़ी साथ नहीं जाती, राजा, रङ्क और फकीर सभी इस रास्ते पर लँगोटी भी छोड़ कर जाते हैं।....बड़े-बड़े आलमगीर बादशाह जिनकी दुहाई मुल्कों में फिरती थी, जिनका हुक्म खलक़ में चलता था, बड़े-बड़े सरदार-उमराव हाथ जोड़ कर सामने खड़े रहते थे और शरीर में तेल, इत्र लगाकर जरी के काम की पगड़ी बाँधते थे, आखिर में उनको भी ख़ाक़ होकर एक नीला सा दाग मात्र रह जाना था।.... संसार में आदमी मुट्ठी बाँधे आता है और हाथ पसारे जाता है। बड़े-बड़े विक्रमादित्य राजा अपना 'साका' चलाकर मर गये।"[3]

सांसारिक धन-सम्पत्ति की क्षणभङ्गुरता के कारण विरक्ति की भावना सामान्य भाव से सभी सन्तों में पाई जाती है। गुरु तेगबहादुर 'धन धरनी अरु सम्पत्ति सगरी' को इस शरीर के साथ छूटने वाली मानते हैं। पानपदास ने भी सारी आसक्ति को 'बालू के मन्दिर' के समान क्षण में विनष्ट

१—क० बीजक, पृ० ३१२, २—स० सु० सा० (शेख फरीद), पृ० ४१५; २५, २८ : वही, पृ० ४१६, २६. ३—मलू० बा०, पृ० १४; ५ : गुला० बा० भु०, पृ० २८२; ११८ : धरनी० बा०, पृ० १०; ३१-४० : पलटू० बा०, भा० २, पृ० ७०; ७१, ४४.

होने वाली कहा है। तुलसी साहब मानते हैं—"हुक्म, हुकूमत, शक्ति, सेना (घोड़े, रथ आदि की), बैल, रूपवती स्त्रियाँ सभी को त्यागना होगा।"[1] इस प्रकार सभी सन्तों ने जीवन की आर्थिक आसक्ति से अपनी विरक्ति व्यक्त की है और इस मौलिक प्रवृत्ति के आधार पर इनकी आर्थिक दृष्टि का निर्धारण भी किया जा सकता है। इस प्रकार इनकी विरक्ति की यह भावना सारे सामाजिक अर्थ पर आधारित वर्ग-भेद को एक नई दृष्टि से देखने के लिये प्रेरित करती है।

आत्मसन्तोष का आदर्श—लौकिक विरक्ति की भावना से मूलतः प्रेरित होने पर भी सन्तों ने लोक और समाज के नितान्त त्याग को स्वीकार नहीं किया है। इसी प्रकार उन्होंने मनुष्य की आवश्यकताओं को भी स्वीकार किया है, क्योंकि ये आवश्यकताएँ उसके शरीर-धर्म से सम्बद्ध हैं। सन्तों ने साधना के क्षेत्र में भी इस बात को घोषित किया है—'भूखे भगति न कीजे, यह माला अपनी लीजे।' कबीर ने निर्भीकतापूर्वक सन्तों के लिये जीवन-धारण की आवश्यकतानुसार "दो सेर आटा, एक पाव घी, आधा सेर दाल' दोनों समय भोजन के लिये तथा सोने के लिये 'चार पैर की खाट, तकिया और दोहर' की माँग प्रस्तुत की है। इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि कबीर आदि सन्त केवल जीवन-धारण की आवश्यकताओं तक अपनी इच्छाओं को सीमित रखना चाहते हैं। रहने के लिये वे झोपड़ी मात्र की आकांक्षा करते हैं क्योंकि अधिक की आकांक्षा भोग-विलास का परिचायक है जो मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में बाधक है। कबीर अपना झोपड़ा गंगा के किनारे बनाना चाहते हैं, जहाँ उनको निर्मल जल पीने की सुविधा रहे।[2] आगे कबीर इच्छा प्रकट करते हैं कि "उन्हें किसी राजा के यहाँ हाथ पसारने न जाना पड़े। उनके लिये तो अमीर के दूध की अपेक्षा गरीब का पानी ही अमृत है। राजा दुर्योधन की खीर की तुलना में उनको विदुर का साग अधिक रुचिकर लगता है।" दरिया साहब रूखा-सूखा खाकर प्रसन्न रहने वाले फकीर को अधिक सच्चा मानते हैं। इसी प्रकार झगड़ा और प्रपञ्च के भोग-विलास की अपेक्षा पलटूदास भीख माँगकर खाना अच्छा मानते हैं। इसके अतिरिक्त सन्तों की दृष्टि में सांसारिक जीवन में मनुष्य के करोड़पति होने

१—स० सु० सा० (तेगबहादुर), पृ० ३९७; २९ : पानप० बोध०, पृ० १२३; ३ : तु० श०, भा० १, पृ० ६६; २०. २—सं० कबीर, पृ० १४०; ११ : वही, पृ० २५६; ५४.

तथा फकीर होने में कोई अन्तर नहीं है। यह तो मन की भावना है चाहे खाली मान लिया जाय या भरा। उसके लिये फूलों की सेज और हाथी की सवारी तथा भूमि-शयन और पैदल चलने में कोई अन्तर नहीं। इसी प्रकार चाहे तो मलमल तथा जरी के काम के कपड़े धारण करे या शाल-दुशाला ओढ़े अथवा आग तापकर मृगछाला ओढ़े।[1]

वस्तुतः सन्तों की विरक्ति तथा दृष्टि का यह परिणाम रहा है कि उन्होंने जीवन की आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार वस्तुओं के ग्रहण और त्याग को अपनाया है। उन्होंने आर्थिक सुख-सुविधाओं की अपेक्षा अपने द्वारा उपलब्ध आध्यात्मिक शक्ति को उपलब्ध करने पर बल दिया है। इसी आग्रह के फलस्वरूप उनमें एक ओर सांसारिकता के प्रति असङ्ग भाव है तो दूसरी ओर जिन आवश्यकताओं को उन्होंने स्वीकार किया है, वे बहुत सीमित हैं।

वर्ग-भेद : **उच्चवर्ग**—आर्थिक दृष्टि से सन्तों के काल में स्पष्टतः दो वर्ग परिलक्षित होते हैं। यह अलग बात है कि इनके बीच में कई स्तर आ गये हैं। उच्चवर्ग के लोग टेढ़ी पाग बाँधते हैं, मुँह में पान के बीड़े खाते हैं और स्त्री तथा सोने का उपयोग करते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जिनके द्वार पर हाँथी बंधा रहता है। ये उज्ज्वल वस्त्र धारण करते हैं और ऊंचे आवासों में निवास करते हैं। कबीरदास दस मन अनाज हो जाने पर और चार टका गाँठ में आ जाने पर गर्व करने वाले लोगों से परिचित हैं। वस्तुतः यह इतना धन उच्चवर्ग का लक्षण नहीं हैं, केवल साधारण मध्यम-स्थिति का द्योतक है। वैसे वे सौ गाँव और लाख टका रखने वाले की साहिबी को भी चार दिन की मानते हैं।[2] इन अमीर लोगों के सामने नौकर हाथ जोड़कर खड़े रहते हैं, वे सुगन्धित तेल-फुलेल का प्रयोग करते हैं, जरी के काम के कपड़े धारण करते हैं। उनके महलों में रङ्ग-बिरङ्गे कालीन बिछे रहते हैं और सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित स्त्रियाँ उनकी सेज पर सोती हैं। उनका भोजन कलिया और पुलाव है। चिराग़ जलाकर शीशियों में भरी मदिरा का पान करते हैं तथा कुशलता के साथ वस्त्रों के गलों के बन्द लगाकर सोते हैं।

१—सं० कबीर०, पृ० १९७; ९ : दरिया० बि० अनु०, पृ० १३; ३६, ५ : पलटू बा० भा०, पृ० ९२; २३८ : वही०, भा० १, पृ० १२; ३०. २—स० कबी०, पृ० २०४; ५ : वही०, पृ० २०७; २ : वही०, पृ० २५३; ३४ : वही०, पृ० २५४; ३८ : वही०, पृ० २३९; १.

उच्चवर्ग के लोग झूठ-सच बोलकर इतना धन पैदा करते हैं कि उनको घन जमीन में गाड़ना पड़ता है। उनका भोजन इतना गरिष्ठ और भारी होता है कि उसको हजम करने के लिये उन्हें औषधि कूट-कूट कर खानी पड़ती है।[1]

दरिया साहब (बि०) तेल-फुलेल से सुगन्धित, कण्ठ में मोतियों की माला धारण करने वाले तथा धन पर गर्व करने वाले लोगों का उल्लेख करते हैं जो दूसरों की स्त्रियों पर दृष्टि डालते हैं। इसी प्रकार पलटूदास सुन्दरियों के साथ सुखपाल पर झूलने का सुख लेने वाले, चार जून भोजन करने वाले, पान चबाने वाले, सेज पर सोने वाले तथा रात-दिन दूध का सेवन करने वाले लोगों का उल्लेख करते हैं। हरि पुरुष भी ऐसे उच्चवर्ग के समाज का चित्र प्रस्तुत करते हैं जिसके लोग अभिमान से मूछों पर ताव देते हैं, दूसरों को मच्छर के समान हीन मानते हैं, नाना प्रकार के रास-रङ्ग में लीन रहते हैं, अपने गढ़ और महलों में सुख की सेज पर सोते हैं, शरीर में नाना विधि के सुगन्धित द्रव्य लगाते हैं और उसकी सज्जा करते हैं तथा खान-पान और भोग में समय व्यतीत करते हैं।[2]

राजन्य वर्ग—सन्तों ने अपने समय के राजाओं के ऐश्वर्य-विलास को देखा था और उसका अनुभव उनको प्राप्त था। तीसरे प्रकरण में राजाओं के जीवन के विषय में सङ्केत किया जा चुका है। सन्त राजाओं के भोग-विलास, छत्र-सिंहासन, सुन्दरियों से रमण तथा पान-कपूर-चन्दन आदि सुवासित वस्तुओं के प्रयोग से परिचित हैं।[3] इसके अतिरिक्त उनके दरबार के ऐश्वर्य, शोभा और विलास का चित्रण यत्र-तत्र सन्तकाव्य में मिलता है—(देखिए—प्रकरण तृतीय)। महल में रहने वाले बादशाहों का वर्णन करते हुए दरिया (बि०) कहते हैं—"चारों ओर से विस्तृत महल बनाया गया है जिसके बीच में अनेक वर्ण चित्र अङ्कित है। वहाँ हीरा, जवाहरात से विजड़ित तख्त तैयार करके स्थापित किया गया है। इस पर आसीन होकर राजा शोभा प्राप्त करता है, आम और खास (दरबार) में सुगन्धि चतुर्दिक् फैली हुयी है और मोती की श्वेत झालरें झलमला रही हैं। उसी महल में कनक का पलङ्ग बिछा हुआ है और कक्ष में जड़े हुए हीरा तथा माणिक्य की ज्योति प्रकाशमान् है।

१—पलटू० बा०, भा० २, पृ० ७१;४४ : वही०, पृ० ७१;४९ : वही०, पृ० ७२;५० : वही०, पृ० ७२;५१. २—दरि० बि० अनु०, पृ० १५१;२१.६ पलटू० बा०, भा० २, पृ० ९;२५ : हरि० पु० बा०, पृ० ३६१;९. ३—सं० कबीर०, पृ० ६५;५

बेगमें सहेलियों सहित स्वामी की कोर्निश वजा लाती हैं। खोजा और खवास सिर पर चँवर डुलाते है और चिराग़ जलाते हैं।"[1]

निर्धन : निम्नवर्ग—सन्तों के काव्य में इस वर्ग की पर्याप्त झाँकी मिलती है। उसका कारण है कि इस वर्ग से उसका निकट का सम्बन्ध रहा है। डॉ० रामखेलावन पाण्डेय के अनुसार—"वैभव विलास की अवाध धारा में तरङ्गायित जीवन और दरिद्रता की आँच में तपने वाले सामान्य जीवन में तुलना भला कैसे हो सकती है—एकनि दीन्हा पाट पटम्बर, एकनि सेज निवारा। एकनि दीन्हा गरे गूदरी, एकनि सेज पगारा।"[2]

सन्त, निर्धन वर्ग से सम्वद्ध रहे हैं जिनको दगली (मोटे वस्त्र का अङ्गरखा) न पहनने पर भी जाड़ा नहीं सताता, जो चूनी-भूसी खाकर भी रह सकते हैं, जिनके जर्जर घर का बरेड़ा (बलीड़ों) टेढ़ा है, और औलोती अर्रा रही है या पानी बरसने से (छिनहर) की (फिरहर) टाटी चू रही है।[3] इसी प्रकार उनके परिवार के बच्चों को पेट भर खाने को भी भली भाँति नहीं मिलता, फिर भी साधुजनों के आ जाने पर स्वयं जमीन पर सोते हैं और उनको खाट दे देते हैं, उनको खाने को रोटी देते हैं और स्वयं चवेना खाकर रह जाते हैं।[4]

गाँव के जीवन में इस प्रकार की आर्थिक विपन्नता सन्तों की दृष्टि में आयी है। वहाँ की स्थिति सन्तोषजनक नहीं है; विशेषकर कर वसूलने वाले कर्मचारी यमदूत की भाँति जमा वसूल करने के लिये लगे रहते हैं और वसूली की बाकी में घर, जमीन, पशु, बैल आदि ले लेते हैं[5]—(द्र०—तृतीय प्रकरण)।

सामाजिक असमानता—सन्त अपने समाज की आर्थिक असमानता से भली-भाँति परिचित हैं। जैसा ऊपर कहा गया है, वे स्वयं निम्न-वर्ग से सम्बद्ध रहे हैं और वे अपने समय के उच्च-वर्ग के जीवन से पूर्णतः परिचित रहे हैं। इस कारण दोनों की असमानता का बोध भी उनके मन में स्पष्ट है। यह अलग बात है कि वे स्वयं आध्यात्मिक जीवन की ओर प्रेरित रहे हैं, इस कारण उन्होंने सम्पूर्ण आर्थिक आवश्यकताओं की उपेक्षा की है। इसी दृष्टि से इस असमानता के प्रति उनके मन में विद्रोह नहीं जाग सका। कवीर के अनुसार—"किसी को रेशमी वस्त्र और निवाड़ से बुने पलङ्ग प्राप्त

१—दरि० बि० अनु०, पृ० १३; २९. २—डॉ० रामखेलावन पाण्डेय, स० सा० बि० पाटल, पृ० ५५. ३—सं० कबीर०, पृ० ६२; ३ : वही०, पृ० ३६३; ८९ : क० ग्र०, पृ० ९६; २२ : वही०, पृ० २८१; २७३. ४—सं० कबीर, पृ० १६९; ६. ५—सं० कबीर, पृ० १४९; ३.

हैं और किसी को नारियल और प्याज तक नहीं मिलता, वे करेला खाकर जीते हैं। कोई व्यक्ति मोतियों तथा मुक्ताओं से आभूषित है और कोई रोग से दुखी जीवन बिताता है।" परन्तु इस असमानता के पीछे कबीर यही भाव पाते हैं कि "कुम्हार (ईश्वर) ने एक ही मिट्टी गूँथकर उसमें अनेक प्रकार की कान्ति उत्पन्न की है।" आगे कबीर इस विषमता को अधिक स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हैं—"कैसी विडम्बना है, गरीब को कोई आदर नहीं देता, लाख यत्न करने पर भी अमीर उसकी ओर ध्यान नहीं देता और उसकी ओर पीठ फिराकर बैठता है। परन्तु यदि धनवान् निर्धन के यहाँ जाता है तो वह आदरपूर्वक उसकी अभ्यर्थना करता है।"[1] नानक देव भी कहते हैं कि समाज में "कोई भीख माँगकर खाता है और कोई ऐश्वर्य भोगता है। कोई सम्मान प्राप्त करता है और किसी का अपमान होता है।"[2] सन्तों ने स्पष्टतः इस असमानता का कारण सामाजिक न मानकर ईश्वरीय विधान के रूप में स्वीकार किया है।

खेती और पैदावार—भारतवर्ष हजारों वर्षों से कृषिप्रधान देश रहा है। पशु-चारण सम्बन्धी घुमक्कड़ जातियाँ भी इस देश में आकर मुख्यतः खेती के काम में संलग्न हो गई थीं। मध्यकाल में भी अधिकांश देश की जनता गाँवों में खेती करती थी। मुस्लिम इतिहासकारों, बादशाहों की जीवनियों तथा उनकी आत्मकथाओं के साक्ष्य पर यह कहा जा सकता है कि इस काल के शासकों ने देश की खेती की ओर सदा ध्यान रखा है। उन्होंने कृषि की उन्नति, उसकी रक्षा और सिंचाई आदि के प्रबन्ध की ओर ध्यान दिया है। इनके सामने यह स्पष्ट था कि देश की समृद्धि का मौलिक आधार खेती ही है, क्योंकि अधिकांश जनता का जीवन-निर्वाह इसी पर निर्भर है। अनेक बादशाहों ने युद्धों के बीच भी इस बात का ध्यान रखा है कि खेती का नुकसान न हो और हो भी तो राज्य उसका हर्जाना दे (जहाँगीर की यह घोषणा थी)।[3]

सन्तों के काव्य में खेती की व्यवस्था सम्बन्धी व्यापक सन्दर्भ प्राप्त नहीं होते। परन्तु उन्होंने गाँव के मुखिया, पटवारी तथा मुकद्दम आदि का उल्लेख

१—सं० कबीर, पृ० १०६;१६ : वही, पृ० २१३; ८ २—डॉ० रामखेलावन पांडेय, पाटल, पृ० ५५ ३—पूर्व मध्यकालीन भा० बा० उ०, पृ० १२२ : तु० का० भा०, भा० १, पृ० १८ : वही०, भा० २, पृ० ७४ : उ० ते० क० भा०, भा० १, पृ० ५१ : वही०, भा० २, पृ० १६ : तु० का० भा०, भा० २, पृ० २७३; ६३ : जहाँ आ० क०, पृ० ३५३.

किया है—(द्र० तृतीय प्रचरण)। इसके साथ ही खेतों की पैमाइश (डोरी से नापना) और मालगुजारी की वसूली का वर्णन भी उनके काव्य में मिल जायगा। यदि किसान अपने खेतों को बिना सूचना दिये बढ़ा लेते थे तो उन्हें दण्ड दिया जाता था और यदि मालगुज़ारी बाकी रह जाती थी तो उसे कठोर अपराध माना जाता था। उसको राजा के प्रति विश्वासघात जैसा अपराध मानकर किसानों को बँधवा दिया जाता था और पीटा जाता था। जैसा पहले ही तीसरे प्रकरण में कहा जा चुका है कि मालगुज़ारी का लेखा पटवारी आदि के द्वारा काग़ज़ों में लिखा जाता था। ऐसी कठोरता की स्थिति में कभी-कभी किसानों को अपना स्थान (गाँव) छोड़ना भी पड़ जाता था।[1]

खेती—सन्त, सामान्य जीवन से सम्बद्ध रहने के कारण गाँव के जीवन और खेती के कार्यों से भली-भाँति परिचित हैं। वे खेत की भूमियों से परिचित थे और जानते थे कि किस प्रकार के खेत उपजाऊ होते हैं और कैसे खेतों में उपज नहीं होती। कबीर 'बोंहड़ा' खेत की चर्चा करते हैं, जो वह निचला खेत है जिसमें पानी इकट्ठा होकर ठहर जाता है और सूखा पड़ने पर भी खेती की जा सकती है—"राम नाम करि बोंहड़ा बाँही बीज अघाइ। अन्ति कालि सूखा पड़े, तो निरफ कदे न जाइ।"[2] इसी प्रकार सन्त 'कालर' या 'कल्लर' खेत का उल्लेख भी करते हैं जो छाया में आया हुआ अथवा बञ्जर खेत है जिसमें किसी प्रकार की पैदावार नहीं होती। कबीर ऊसर खेत के विषय में कहते हैं—'ऊसर बोय न ऊपजे अति घन बरसे मेह'। नानकदेव कहते हैं कि 'कल्लर' खेत में खेती करने से क्या लाभ'? रामदास भी 'कलरु' खेत को 'बिसियारा' मानकर निरर्थक कहते हैं। दादूदयाल और रज्जब भी समर्थन करते हैं—'कालर खेत न नीपजे जे बाहें सौ बार' या 'रज्जब नर नीपजे नहीं जैसे कालरि खेत'। दरिया (मा०) ऐसे 'अड़बा' खेत का भी उल्लेख करते हैं जो बाहर से हरा-भरा दिखाई देता है परन्तु उसमें उपज नहीं होती।[3]

खेतों के चारों ओर बाड़ लगाकर रक्षा की जाती है। एक बार अगर खेत में बाड़ लगा दी जाय तो फिर खेत को कोई उजाड़ नहीं सकता। बाड़ के बिना

१—क० ग्र०, पृ० १६३; २२२. २—क० ग्र०, पृ० ५८;४. ३—गु० ग्र०, पृ० ४१९; ४ : वही०, पृ० १०१६;६ (नानक) 'कल्लर खेती तरवर कण्डे बागापहिराई कजलु झरे' : वही०, पृ० ९८२ ५: दा० बा०, पृ० १२१; ४० : रज्जब० बा०, पृ० २४०; १० : दरि० मा० बा०, पृ० ३६;२०.
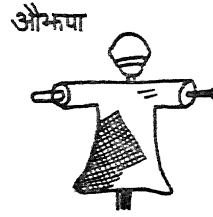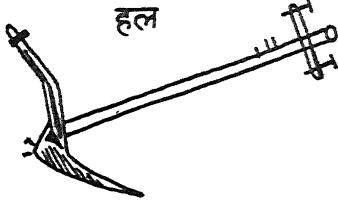
हल
औझपा
पामरा या फावड़ा
खुरपी
गोफन
गड़ांसा
दरांती अथवा हँसिया
चरस
ढेकली
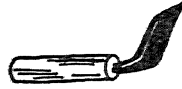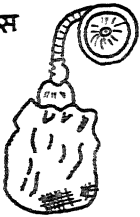
खेती की रक्षा उसी प्रकार नहीं हो सकती, जिस प्रकार भक्ति के बिना मुक्ति नहीं मिलती।[1] इसी प्रकार खेतों के विभाजन के लिये मेड़ बनायी जाती है।[2] खेत को जोतने के पूर्व उससे काँस तथा अन्य झाड़-झङ्खाड़ साफ किये जाते हैं।[3] उसके बाद जोतने का प्रश्न आता है। जोतने के लिये हल का उपयोग किया जाता है जिसमें दो बैल जोते जाते हैं। नानकदेव सावन मास के आने पर सत का हल जोतने का प्रस्ताव करते हैं। रामदास के अनुसार हल जोतने में उद्यम किये बिना किसान अपनी किसानी में सफल नहीं हो सकता।[4] सिंगा जी हल जोतने के लिये जुआ में बैलों की रास लगाकर नाँधने का वर्णन करते हैं। उन्होंने जुएँ के 'कड़' (गले में डालने का घेर) और 'आर' (जिस कील से उसे बन्द करते हैं) का उल्लेख किया है। बषना युक्ति-पूर्वक हल में फाल लगाने से भली भाँति जुताई होने की चर्चा करते हैं। हल को चलाने वाला हलवाहा या हरवाहा होता है जो खेत जोतता है। धरनीदास खेती के लिये हल, बैल, आर और बीज को महत्वपूर्ण मानते हैं।[5] कबीर ने खेत की क्यारियों का भी उल्लेख किया है। बुवाई और सिंचाई के लिये इस प्रकार की क्यारियाँ आवश्यक भी होती है।[6] खेत तैयार होने के पश्चात् बुवाई का प्रश्न उठता है। सन्तों ने अपने रूपकों, उपमाओं तथा दृष्टान्तों के लिये बीज बोने की प्रक्रिया को अधिक अपनाया है। कबीर के अनुसार बिना बीज पड़े खेत में उपज किस प्रकार होगी? जैसा बीज खेत में पड़ेगा, वैसा ही अन्न उपजेगा। नानक के अनुसार अच्छा बीज (सचु नामु) पाकर अच्छी खेती (सहज) हो सकती है। रामदास भी कहते हैं कि जैसा बीज बोओगे वैसा ही काटोगे। सिंगा जी खेती के मूलमन्त्र के रूप में बीज को स्वीकार करते है।[7] बषना, गुरु के द्वारा शिष्यरूपी खेत में नामरूपी बीज

१—रामचरण० स्नेही, पृ० ४९५; ३३ : गु० ग्र०, पृ० ९४७; ३ (अमर) वही०, पृ० ४४१; ९३. २—भी० बा० भु०, पृ० ९६; २६८. ३—सिंगा जी बा०, अनु०, वर्ष १०, अङ्क ३, पृ० १३. ४—गु० ग्र०, पृ० ७३; १ (नानक) वही०, पृ० १६६; ४५ : राम०. ५—सिंगा० बा० हि० अनु०, वर्ष १०, अङ्क ३, पृ० १३ : बषना० बा०, पृ० १५०; ३ : दरि० वि०, अनु०, पृ० ११२; ९. २ : धरनी० बा०, पृ० १६; ६. २. ६—क० ग्र०, पृ० २८; ५. ७—क० बी०, पृ० ३३; १२ : गु० ग्र०, पृ० ३४; ५४ : वही, पृ० ३०९; ४ (रामदास) सिंगा० बा० हि०, अनु०, वर्ष १०, अङ्क ३, पृ० १ ३.

को बोने की चर्चा करते हैं। इसी प्रकार यारी साहब, सुन्दरदास, बुल्लासाहब, रामचरण तथा भीखा साहब आदि सभी सन्तों ने खेती के लिये बीज को मौलिक और महत्वपूर्ण माना है।[1]

सन्तों ने खेत की जुताई के सम्बन्ध में कुदाली, जिससे गोड़ाई की जाती है कमाना, अर्थात् खेत को भली प्रकार बुवाई के लिये तैयार करना तथा ढेलों को फोड़कर समरस करने का उल्लेख किया है। इसी प्रकार बीज रखने का कोठा और रखवाली करने के लिये डावजा (मचान) का भी वर्णन किया है। बखारी, जिसमें अन्न भरा जाता है, सीला (कटाई के बाद गिरा हुआ अन्न) बीनने और गाहने के सन्दर्भ भी मिलते हैं।[2] बुवाई के साथ रोपाई की चर्चा भी की गयी है, वस्तुतः धान के पौधों की रोपाई होती है। खेत की रक्षा के लिये मचान बाँधने के अतिरिक्त गोला चलाकर (गोफन से ढेले मारकर) पक्षियों को उड़ाया जाता है। खेतों में मुँह मारने वाले पशुओं के गले में ठरका (खाट का पावा जैसा) बाँधते हैं।[3]

सिंचाई—खेती के लिये सिंचाई बहुत आवश्यक है, बिना सिंचाई के प्रबन्ध के खेती की व्यवस्था भली प्रकार नहीं की जा सकती। सन्तों ने रहँट, ढेकली, चरस या मोट के द्वारा सिंचाई का उल्लेख किया है। सम्भवतः इस काल में सबसे अधिक विकसित कुएँ से सिंचाई करने की पद्धति रहँट थी। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार रहँट से सिंचाई की पद्धति प्राचीन भारत से चली आ रही है। उनके अनुसार 'बाण' ने हर्षचरित में 'कूपोदंचनघटीयन्त्रमाला' का उल्लेख इसी के लिये किया है।[4] कुछ भी हो, हमारे आलोच्यकाल में फारस से आये हुए इस प्रकार के रहँट (पारशियन ह्वील) का प्रचलन पर्याप्त मात्रा में हो चुका था। इब्नेबतूता ने अपनी यात्रा के दौरान में इनके प्रयोग का वर्णन किया है।[5]

रहँट में मालाकार में लगे हुए डब्बे होते हैं जो ऊपर नीचे, आते-जाते रहते हैं, जिसमें पानी भरकर ऊपर आता है और खाली होने के बाद कुएँ में नीचे चला जाता है। सन्त रहँट की इस प्रक्रिया से प्रायः अपने रूपक में ग्रहण

१—बषना० बा०, पृ० १०४; ८२ : सु० ग्र०, ज्ञानी को अङ्ग : बु० बा० भु०, पृ० २१; ५३ : रामचरण बा०, पृ० ३५; ३६ : भी० बा०, पृ० ९६ २६८. २—बषना० बा०, पृ० १०४; ८२. ३—सिंगा० बा० हि० अनु०, वर्ष १०, अङ्क ३, पृ० १३ : बषना० बा०, पृ० ५१; ४. ४—हर्षचरित, पृ० ५९. ५—तु० का० भा०, भा० २, पृ० २७३.

करते हैं। रहँट की घड़ियाँ आती-जाती हुई पानी में डूबती-उतराती रहती हैं। इस रहँट को बैलों के द्वारा चलाया जाता है। सन्त, इस रहट को घट के बीच में स्थित अमृत की वावड़ी या कुँआ से अमृत-तत्व को ग्रहण करने वाली प्रक्रिया (साधना) के रूप में मानते हैं। यह चरखा के रूप में चलता रहता है।[1] दूसरी सिंचाई की पद्धति ढेकली है। एक लम्बी बल्ली में एक ओर भारी बोझा बाँधकर और दूसरी ओर पानी भरने का बर्तन बाँधकर सिंचाई करने की इस पद्धति को ढेकली कहते हैं। कबीर ने कुँआ (कमल) से ढेकली (सुरति) ढोलनहार के द्वारा प्रेमरस पीने की चर्चा की है।[2] तीसरी पद्धति चरस या मोट की है जिसमें पानी से भरी चमड़े की एक भारी मोट को बैल ढाल में उतरते हुए खींचते हैं। वस्तुत: जब पानी से भरा मोट ऊपर आता है तब सींचने वाला सम्भालकर कुंड़ में पानी उड़ेल लेता है और पानी खाली होने के बाद उसे नीचे ढकेल देता है। जिस प्रकार चरस पानी भर-भर कर लाता है और पानी ढुल्का देता है, उसी प्रकार जीव चौरासी योनियों के आवागमन में जन्म खपाते रहते हैं।[3]

उपज—खेती की फसल तैयार होने में बाधाएँ भी हैं, जिनसे सन्त परिचित हैं। पशुओं से फसल को बचाना होता है, क्योंकि ये तैयार खेत को नष्ट कर देते हैं। हरिण जैसे पशु खेतों को उजाड़ डालते हैं, इसलिये किसान को रखवाली करनी होती है। पक्षी भी खेती को नष्ट करते हैं—विशेषकर बालों में अनाज आने के बाद उनसे विशेष आशङ्का होती है।[4] खेतों के फसल काटने के लिये चोर भी लगते हैं, अत: उनसे रक्षा करने के लिये सतर्क किया गया है। फसल के तैयार होने के बाद खलियान में अनाज लाया जाता है। खलियान प्राय: खेत से दूर सुविधाजनक स्थानों में ही लगाये जाते हैं—'गंगा तीर मोरी खेती बारी, जमुना तीर खरिहाना', कबीर के आध्यात्मिक रूपक में यही सन्दर्भ परिलक्षित होता है। अर्जुनदेव

१—क० ग्र०, पृ० १३२; १३७ : गु० ग्र०, पृ० १३२९; १(नानक) : धरम० बा०, पृ० ८४; २० : बषना० बा० पृ० ७१; ४१. १ दरि०, वि० अनु०, पृ० ११३; ९. ७ : वही०, पृ० १२३; १५. ५ : दरि० भा०, पृ० ६४; १ : सुन्दर बा०, पृ० ६२; २०. २—क० ग्र०, पृ० १८.१० ३—क० बी०, पृ० ५८; ४७ : रामचरण बा०, पृ० १२२; २४ : वही०, पृ० ४१६; ५७. ४—क० ग्र०, पृ० ३०६; ३५२ : वही०, पृ० २१९; ३९६ : त्रिगा० बा० हि०, अनु०, वर्ष १०, अङ्क ३, पृ० १३ : गु० ग्र० ११०८; २.

के अनुसार यदि अन्न नहीं उपजेगा तो किसान खलियान में क्या गाहेगा ? **गाहना**—वस्तुतः भूसा से अनाज को अलग करने की प्रक्रिया है। अनाज को अलग कर लेने के बाद उसे कोठा या कोठार में भरा जाता है।[1]

सन्तों के काव्य में खेती की उपज का कोई विस्तृत उल्लेख नहीं हुआ है, क्योंकि सन्तों के आध्यात्मिक प्रसङ्गों में इसका कोई विशेष सन्दर्भ प्रस्तुत नहीं हुआ। पलटूदास ने वर्ष की दो मुख्य फ़सलों—रबी और खरीफ़ का उल्लेख-मात्र किया है।[2] जिन उपजों का उल्लेख इस काव्य में हुआ है, वे इस प्रकार हैं—**कण** (गेहूँ)[3] **धान** (पयाल भी)।[4] ईख के अपेक्षाकृत अधिक सन्दर्भ है। कबीर गड़ेरी के रस चूसने का उल्लेख करते हैं। रामचरण के अनुसार ईख का रस चूस लेने के बाद उसकी खोई को कोई नहीं छूता। वे कहते हैं खांड कैसे मिले, उसका खेत तो ईख ही है। वस्तुतः ईख (इक्षु) की खेती की परम्परा भारतवर्ष में बहुत प्राचीन समय से चली आ रही है।[5] **तिल**—इससे तेल निकालने तथा इसके फूलों की गन्ध का उल्लेख किया गया है। तिल को पेरने से तेल निकलता है।[6] सरसों और राई का भी तेल होता है।[7] **पान**—इसकी बाड़ी होती है जिसमें पान की बेलें फैली रहती है। सम्भवतः पान 'दिसान्तर' (बाहर के प्रदेशों, में) भेजा जाता था, क्योंकि दरिया (मा०) के अनुसार पान परदेश में जाकर ही रस देता है।[8] **कपास**—रुई के लिये कपास की खेती इस देश में काफी समुन्नत स्थिति में इस काल में होती थी। कपास की उपज, रुई के व्यवसाय और सूत के उद्यम के विषय में यह बात ऐतिहासिक साक्ष्यों से सिद्ध है।[9] सन्तों ने कपास की खेती तथा रुई आदि के विषय में अनेक सन्दर्भ दिये हैं। कबीर, कपास से भरी हुई कोठियों की चर्चा करते हैं। कपास

१—क० ग्र०, पृ० ९३; १४ : गु० ग्र०, पृ० १००३; १३ (अर्जुन) : बषना० बा०, पृ० १०४; ८२. २—पलटू० बा०, भा० १, पृ० १०२; २६२, ३-गु०ग्रं०, पृ० ११३७; ४ : बषना० बा०, पृ० १०४; ८२: मलूक बा०, पृ० ३९. ४—सु० ग्र०, ज्ञान को अङ्ग ५—सं० कबीर, पृ० २५९; ७२: रामचरन० बा०, पृ० ५७; ३५, १९४; ७०२ : दूलन० बा०, पृ० ३५; ३ : पलटू० बा०, भा० २, पृ० ६६; ५१ : फूलदेव सहाय, ईख और चीनी, पृ० ९—११, ६—दा० बा०, भा० १, पृ० १८०; ५ : दरि० बि०, पृ० ३४. ७—गरीब० बा०, पृ० १६३; ४: गु० बा० भु०, पृ० ३७०; ९२५, ८—दरि० भा० बा०, पृ० ३; ३१, ३२, ९—म०यु० का इ०, डॉ० ई०प्र०, पृ० ५२२, ५२३ : जहाँ० आ० क०, पृ० ४१२.

की कोठी में आग लग जाने पर वह सूखी लकड़ी या घास के समान जल जाती है। रज्जब ने कपास से बिनौले निकालकर रूई बनाने और रूई को धुनकर पूनी तैयार करने का उल्लेख किया है, जिनको लगाकर चर्खे से सूत की कताई होती है।[1] रूई की धुनाई, कताई और बुनाई के सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा।

सन्तों ने फलों में **ककड़ी, लौकी, नींबू, आम, केला, नारियल, दाख, बड़हल, सदाफल, बिजौरा, गूलर, निमकोरी** (निम्बाफल), **तरबूज, कद्दू,** तथा **भाटा** का उल्लेख किया है। इनमें कदली का सम्बन्ध स्वाति नक्षत्र के जल से स्थापित किया गया है—"कदली सीप भुजङ्गमुखी एक बूंद तिहुँ भाइ"—(क० ग्र०, पृ० ४७; २५, ४)। अन्य का उल्लेख सामान्य ढङ्ग का है।[2] वस्तुतः उपज के अन्तर्गत जिन अन्नों, पदार्थों तथा फलों आदि का उल्लेख सन्त-काव्य में मिलता है, उनके आधार पर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनके आशय की यह सीमारेखा है, इसके आधार पर उस काल की पैदावार का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। केवल उनके आध्यात्मिक प्रसङ्गों को व्यञ्जित करने में जिन वस्तुओं से सहायता मिल सकी है, उनका ही उपयोग सन्तों ने किया है।

उद्योग-धन्धे—सन्तों का सम्बन्ध समाज के सामान्य स्तर से था और इस कारण उनको लोकजीवन का व्यापक अनुभव था। इनमें से अनेक सन्तों को ग्रामीण उद्योग-धन्धों का व्यावहारिक अनुभव भी था। इस कारण इनके काव्य में ऐसे अनेक सन्दर्भ आये हैं जिनके आधार पर तत्कालीन उद्योग-धन्धों की स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

लुहारी—पिछले प्रकरण में ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर बताया गया है कि इस काल में इस देश में लोहे की कारीगरी की पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। यहाँ फौलादी लोहे के अस्त्र-शस्त्र तथा अन्य वस्तुएँ कौशल के साथ

१—क० ग्र०, पृ० २७; ६० : वही०, पृ० ३५; ३२, ९८; ३१ : पलटू० बा०, भा० १, पृ० १०; २६, २—स० कबीर, पृ० ९६; ६ : वही०, पृ० १३७; ८ : वही०, पृ० १८८; १२ : क० ग्र०, पृ० १६१; २१६ : वही०, पृ० २००; २३१, २९९; १७७ : गरीब० बा०, पृ० ४; ३३ : वही०, पृ० १८७; ५ : क० ग्र०; पृ० ४७; २५. ४ : वही०, पृ० १८२; २७७ : रैदास बा०, पृ० २३; ४७ : रामचरण बा०, पृ० २१८; २२ : क० बी०, पृ० ४१२; १४४.

बनाई जाती थीं। सन्तों ने प्रायः गाँव के साधारण लुहार का उल्लेख किया है, अतः उसकी धोंकनी, भट्ठी, अङ्गार, निहाई (अहरन) तथा उसके हथौड़े का प्रमुखतः वर्णन हुआ है। कूट-कूटकर लोहा गढ़ा जाता है, आग में डालकर लोहे को ताव देते हैं और धोंकनी से अग्नि को प्रज्ज्वलित रखते हैं।[1]

सुनारी—सोना को गलाकर उससे अनेकानेक आभूषण बनाने का काम सुनारी कहलाता है। इस काल में सुनारी का काम बहुत ही कौशल के साथ कारीगर करते थे, जिसका उल्लेख इस काल के ऐतिहासिक ग्रन्थों में हुआ है। सुनार, सोना को कसौटी पर कसकर पहचानता है। सोने को साफ करने के लिये लोनखड़ी, नौसादर तथा सोहागा का प्रयोग किया जाता है। सुनार, छेनी के द्वारा गढ़ाई करता है। वह फूँकनी से लौ को प्रज्ज्वलित करता है, सिड़ासी से आभूषण को पकड़ता है, ताँबा या राँगा की खोट मिलाता है, कल्हिया या घड़िया में सोना-चाँदी गलाता है और शोधता है। इस प्रकार सुनार सोने को अग्नि में तपाकर निर्मल करता है, उसे गलाकर आभूषण बनाता है और अहरन (निहाई) पर हथौड़े से उसे गढ़कर हीरा आदि जड़-कर बहुमूल्य आभूषण तैयार करता है। वह काँटे पर तोला-रत्ती से आभूषणों की तौल करता है।[2]

बढ़ईगीरी—लकड़ी का काम करने वाला बढ़ई कहलाता है। यह आरा से लकड़ी चीरता है, बसुला से काट-छाँटकर आकार प्रदान करता है, रुखानी से छेद करता है और रन्दा से सफाई करता है।[3] इस काल में लकड़ी के कारीगर भी कुशल कलाकार थे, जिसके सन्दर्भ इस काल के इतिहास ग्रन्थों में मिलते हैं—(द्र०—चतुर्थ प्रकरण)।

सिकलीगीरी—अस्त्रों और औजारों पर धार या सान रखने का तथा कलई करने का काम सिकलीगीरी कहलाता है। इस काम को करने वाला

१—क० ग्र०, पृ० ७३; १० : दा० बा०, पृ० १०; १०२ : सं० सु० सा० : रज्जब, पृ० ५२३; २३ : वही०, पृ० १९१; २८ : मलूक० बा०, पृ० २१; १२ : गु० बा० मु०, पृ० ३५७; १०३. २—क० ग्र०, पृ० ९४; १७ : वही०, पृ० १३७; १५० : रैदास, बा० च० बि०, पृ० ९; १७ : वही०, पृ० ४२; ८६ : सुं० बि०, पृ० ११५; २२ : चरन० बा०, भा० २, पृ० ४०; १९ : गु० बा० मु०, पृ० ३५५; ६०१ : दरि० बि० अनु०, पृ० १८४; ८. १६ ३—धरम० बा०, पृ० ६८; १६ : रामचरण स्नेही, पृ० १८१; ६.

बसुला
ग्रारा
रंदा
बिधनी (बरमा)
गिरमिटिया बर्मा
मदिरा निकालने की विधि
गुड़
चूल्हा
तेल का कोल्हू
तरवरी
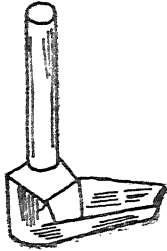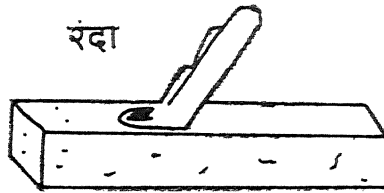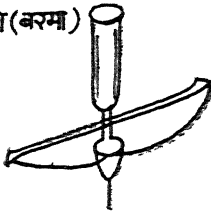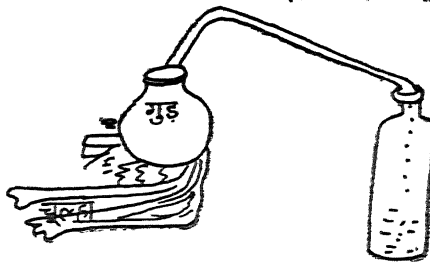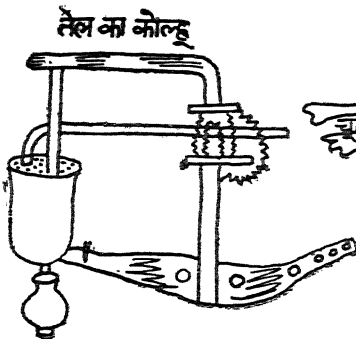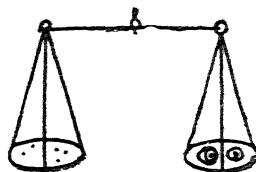
मोरचा या दाग को झाँवा से छुड़ाता है, फिर रन्दे से चमकाता है और मस-कला करके कुरण्ड फेरता है। यह कारीगर मसकला फेरकर दर्पण बनाता है। कबीर ने सिकलीगर के द्वारा मसकला फेरकर दर्पण बनाने का भी उल्लेख कई बार किया है। बपना भी आरसी बनाने का उल्लेख करते हैं। अन्यत्र इसके द्वारा मोरचा छुड़ाने, सान चढ़ाने और चमकाने के कार्य का ही उल्लेख किया गया है।[1]

रुई का उद्योग—रुई का उद्योग-धन्धा भारतवर्ष में सर्वाधिक उन्नत अवस्था में था। इस काल में सूती कपड़ों की इस देश में बुनाई की कारीगरी देश-विदेश में प्रसिद्ध थी। देश भर में इस उद्योग के कई केन्द्र थे जो अपनी निजी विशेषताओं के लिये प्रसिद्ध थे—(द्र०—चतुर्थ प्रकरण)।[2] कपास की पैदावार इस देश के कई क्षेत्रों में अच्छी होती रही है और उससे इस उद्योग को प्रोत्साहन मिला है। सन्तों का सम्बन्ध ग्राम-उद्योगों से रहा है, इस कारण उन्होंने रुई की धुनाई, कताई तथा बुनाई का उसी रूप में वर्णन किया है।

धुनाई—कपास से बिनौले निकालने की क्रिया को **ओटाई** कहते हैं। कपास से बिनौले निकालकर उसकी धुनाई की जाती है। इस प्रकार रुई के रेशे उभर आते हैं और इससे कताई का काम आसानी से किया जा सकता है। सन्तों ने इस काम को करने वाले धुनिया का उल्लेख किया है। यह ताँत के यन्त्र (धुनकी) से धुनाई का काम करता है और ताँत को मुठिया से पीटकर रुई धुनता है। इस प्रकार रुई के बिनौले नीचे झड़ जाते हैं, घुण्डी तथा गाँठें नहीं रह जाती और वह फूलकर मुलायम हो जाती हैं।[3]

कताई—चरखा कातने का प्रचार इस देश में प्राचीन समय से चला आ रहा है। यह ग्रामीण कुटीर-उद्योग का एक महत्वपूर्ण अङ्ग रहा है। अधिकतर चरखे से सूत कातने का काम स्त्रियाँ करती थीं। वस्तुतः स्त्रियों के लिये यह एक अनिवार्य कर्त्तव्य माना जाता था—'सासु कहे कानि बहु ऐसे, बिन

१—पलटू० बा०, भा० १, पृ० १;२ : क० ग्र०, पृ० ८३;४० क० बी०, पृ० ३९४;१६० : वही०, पृ० २४१;८६ : बपना० बा०, पृ० १७५;२ : दरि० बि० अनु०, पृ० १२२;१५. ३ : गरी० बा०, पृ० २०;१६. २—म० यु० का० इ० डॉ० ई० प्र०, पृ० ५२२, ५२३ : जहाँ० आ० क०, पृ० ४१२ : म० का० भा० स०, पृ० १३२ ३—रज्जब बा०, पृ० १२८;१७—'ज्यों चरखी घों कपास ओटाई' : तु० श०, भा० १, पृ० १२४;१७ : (दरि०) : भा०, पृ० ३७;४

काते निसतरिबों कैसे।' और स्त्रियाँ बहुत बारीक सूत कातना महत्व का कार्य मानती थीं—'चरखा जिनि अरे, कातोंगी हजरी का सूत, नणद के भइया की सों।' कबीर की भाँति बषना भी सास के द्वारा बहू को 'हजरी सूत' कातने का आदेश देने का सङ्केत करते हैं। चरखा कातना पारिवारिक जीवनक्रम का अङ्ग बन गया था और इसी कारण कताई को लेकर परिवार की बहुओं में आपस में प्रतिद्वन्द्विता और ईर्ष्या-द्वेष चलता था। बषना के अनुसार घर की बड़ी बहू इस द्वेष के कारण छोटी बहू के तकुवे को तोड़ देती है और बाद में उसे सीधा करने के लिए लोढ़ा (गोल पत्थर) भी नहीं देती। धरमदास के अनुसार बूढ़ी स्त्रियाँ सूत कातती हैं। दादू के साक्ष्य पर यह कहा जा सकता है कि परिवार में मनों सूत काता जाता था।[1]

सन्तों ने अपने रूपकों में इस काल के गाँवों में प्रयुक्त होने वाले चरखों की बनावट का उल्लेख किया है। कबीर के अनुसार चरखे में चार खूँटियाँ लगाई जाती हैं, दो चमरखियों में तकुवा लगाया जाता है, बाँई ओर रहँट रहता है, जिसको घुमाने से तकुवा घुमता है। यह चरखा बढ़ई के द्वारा तैयार किया जाता है। बषना भी चरखे की चार खूँटियों, दो चमरखियों, तकुवा तथा रहँट का उल्लेख करते हैं। चलते समय रहँट शब्द करता है। बुल्ला साहब रुई की लिपटी हुई पूनी से सूत कातने की चर्चा करते हैं। वस्तुतः पूनी का सूत श्रेष्ठता से सम्बद्ध होता है। जैसी रुई की पूनी तैयार की जाती है, वैसा ही सूत निकलता है।[2] यथासम्भव सूत में गाँठें नहीं पड़नी चाहिये, इस कारण कातने वाली सूत के तार को टूटने नहीं देती। इस प्रकार का सूत बुनने वाले जुलाहे के मन अधिक भाता है। यदि सूत उलझ जाता है तो उसे सावधानी से सुलझाना चाहिये। सूत कातते समय जब तकुआ की नली (डंडी) भर जाती है तब उसे उतारकर आँटी तैयार कर ली जाती है। कबीर तकुवे से सूत को उलटकर आँटी पर चढ़ाने की प्रक्रिया का उल्लेख करते हैं— 'ताकू केरे सूत ज्यों उलटि अपूठा आणि।'[3] बषना ने चरखा कातने के विषय

१—क० ग्र०, पृ० १६५;२२८ : वही०, पृ० ९२;१३ : बषना० बा०, पृ० ९९;७६ : धरम० बा०, पृ० ३६;१२ : दादू बा०, भा० १, पृ० ६;२३.
२—क० ग्र०, पृ० १६५;२२८ : स० वि०, पृ० ९०;१८ : बषना० बा०, पृ० ६६;७६ : बुल्ला० बा० भु०, पृ० २५;६७ : दूलन० बा०, पृ० २५;३.
३—बषना० बा०, पृ० ६६;७६ : दा० बा०, भा० १, पृ० ६;२३ : बुल्ला० बा० भु०, पृ० २५;६७ : रामचरन बा०, पृ० ३२७;२४ : क० ग्र०, पृ० २८;१
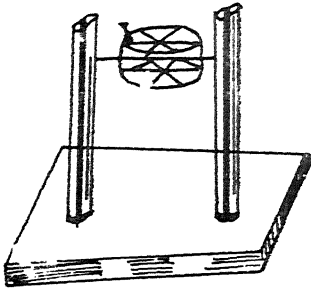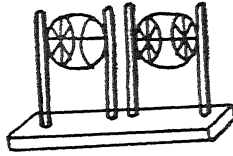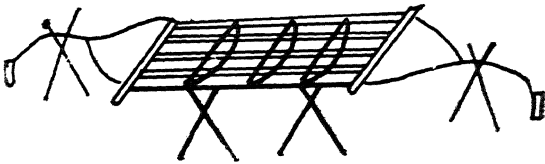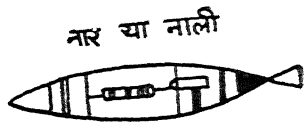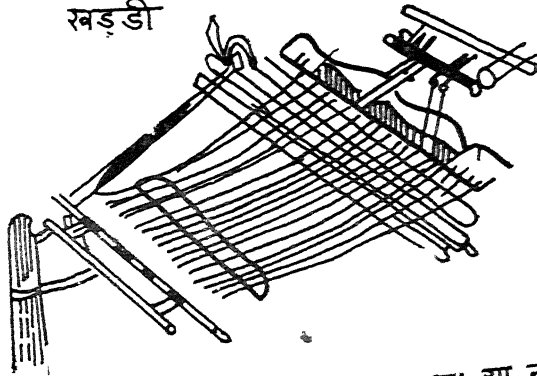
चररवी
चक्कर बान
पाई
कूच
खड़डी
नार या नाली
तूरि

में उस काल की भावना का एक महत्वपूर्ण सङ्केत दिया है—'ल्होड़ी बहु तन कातन लागी। तो वषना घर की नासों भागी।'[१] इसके अनुसार जिस घर की बहुएँ सूत कातने लगती हैं, उनकी विपन्नता दूर हो जाती है।

बुनाई—जिस प्रकार कताई में चरखे का प्रयोग होता है उसी प्रकार बुनाई के लिये करघे का प्रचार भी पर्याप्त था। इस कार्य को जुलाहा या कोली करते थे। कबीर स्वयं जुलाहा होने के कारण करघे के काम का निकट से परिचय रखते थे। उन्होंने करघे तथा उस पर बुनाई करने का विस्तृत चर्चा अपने रूपकों में की है। कबीर के अनुसार करघे में कुछ फासले पर दो गोड़े खड़े किये जाते हैं, वस्तुतः ये कैंची की तरह बाँधी गयी होती हैं जिनसे ताने का थामने का काम लिया जाता है। वषना दो खूँटियों के बीच ताना तानने की चर्चा करते हैं। इस दृष्टि से सम्भवतः ये दो खूँटियाँ गोड़े ही हैं, जिन पर ताना फैलाया जाता है।[२] ताना फैलाने के लिये सूत को लेकर फेरा लगाना होता है और चरखी पर सूत की गुण्डियाँ बना ली जाती हैं, जिनको बाने के लिये नलियों में चढ़ा लिया जाता है। ताना जब फैलाया जाता है तब उसके तारों को एक-एक करके कन्धे में भर लिया जाता है, जिसे सूत का भरना कहते हैं। फिर जिस ओर गड्ढा बनाया जाता है, उस ओर जुलाहा पैर लटका कर बैठता है और पैरों से ताने को ऊपर-नीचे दबाता रहता है। वह सूत से भरी छोटी-छोटी नलियों को, बाना तैयार करने के लिये इधर-उधर फेंकता जाता है और तार के इधर-उधर जाने से बुनाई होती रहती है। बुनाई के समय नली आने-जाने से खुर-खुर की ध्वनि भी सुनाई देती रहती है। बीच-बीच में जब कभी नली से तार टूट जाता है तब जुलाहा उस सूत को मुररिया (ऐंठन देकर) जोड़ देता है।[३]

थान के अनुसार नौ गज, दस गज अथवा इक्कीस गज तक की पुरिया (ताना) तानी जाती है। उस पुरिया के फैलाव में साठ सूत की गुण्डी रखी जाती है और उसे नौ खण्डों में राछ (यन्त्र विशेष) के द्वारा बहत्तर भाग कर लिये जाते हैं। इस प्रकार जो अटेरन पर लिपटती हुई आँटी होती है उस सूत को चर्खी की सहायता से नली (बाँस या बगनर की पोली

१—वषना० बा०, पृ० ९९; ७६ २—क० बीजक, पृ० २१३; ६४: वषना० बा०, पृ० ९९; ७७. ३—क० बीजक, पृ० ३२६; ३ : वही०, पृ० ४६; २८ : क० ग्र०, पृ० १८२; २९.

नली) पर लपेटते हैं । इसके बाद दो गोड़े (खूँटे) गाड़कर तानी को माँड़ी के लिये तानते हैं । एक कठौते में बहुत महीन मैदा पीस कर, उसे दो बार छान कर तैयार करते हैं । इस मैदा तथा पानी के घोल को माँड़ी कहते हैं । इसमें सूत की आण्टियों को डुबो लिया जाता है । इस डुबोने की क्रिया को पाई करना कहते हैं । अथवा इन लटों को दूसरे ढङ्ग से पाई करने के लिये तानां फैलाई जाती है । सूत के इस लम्बे फैलाव में बीच-बीच में थोड़ी-थोड़ी दूर के फासले पर सटे या पतली लकड़ियाँ डाल देते हैं जिन्हें सरकण्डे कहते हैं । ये प्राय: तीन फीट लम्बी होती हैं । सूत को सरकण्डों में डालकर तानी के सिरों को रस्सियों द्वारा बाँध कर कूँची को कठौते में माँडी के घोल में डुबो कर फैले हुए सूत पर बार-बार फेरते हैं । चूँकि कूँच माँझा भी कहलाता है, इसलिये इस फेरने की क्रिया को माँझा या पान करना कहते हैं । तानी के तार आपस में उलझ न जायें इसलिये उसमें सरकण्डे डाले जाते हैं । कूँची से सूत की सफाई करना और सुलझाना एक साथ होता है । पाई करने के बाद उस सूत को एक-एक तार करके झरने (कन्घे) में भर दिया जाता है, इस क्रिया को भरना कहा गया है । कभी-कभी बुनते समय तार उनमें उलझ जाता है जिसे झुँझलाकर कभी छोड़ भी देना पड़ता है या सूत को तोड़ कर उसमें मुररिया कर जोड़ लगाया जाता है ।[1]

सन्तों में अनेक को करघे पर कपड़े की बुनाई का अनुभव है । अर्जुनदेव बाने की उलटी-सीधी बुनाई से परिचित हैं । अङ्गददेव 'खूबि' (भट्टी) चढ़ाने की प्रक्रिया का उल्लेख करते हैं जिससे सूत पर पक्का रङ्ग चढ़ाया जाता है । नानकदेव के अनुसार यदि नलियों में सूत भरते समय सूत उलझ जाय तो ताना से क्या होगा ? क्योंकि बुनाई के समय उसमें से सूत नहीं निकलेगा । धरमदास बुढ़ियों के द्वारा सूत कातने तथा जुलाहे से कपड़ा बनवाने का उल्लेख करते हैं । गरीबदास ने किञ्चित् विस्तार से करघे पर बुनाई का रूपक ग्रहण किया है । उन्होंने कोरी के द्वारा करघा लगाने के साथ ही राछ (बुनाई का एक औजार), तुरिया (जुलाहे की हत्थी जिस पर सूत लपेटा जाता है), पान (माँझा देना), लड्डी (फैलाया हुआ पूरा

१—सं० कबीर, पृ० ५७;५४ : क० बीजक, पृ० ४६;२८ : क० ग्र०, पृ० १८२;२९ : क० बीजक, पृ० २१३;६४ : वही०, पृ० ३२६;३ : क० ग्र०, पृ० १२२;१०९.

करघा

रहट

रहट

घड़िया

कुआं

चरखा
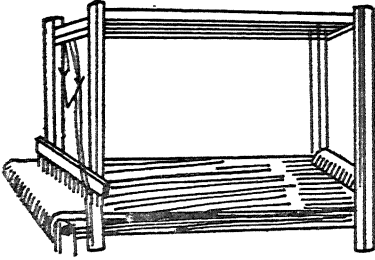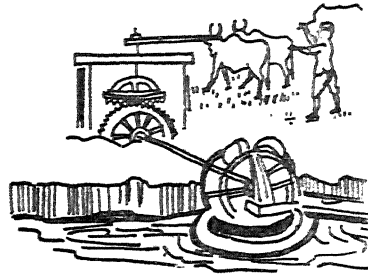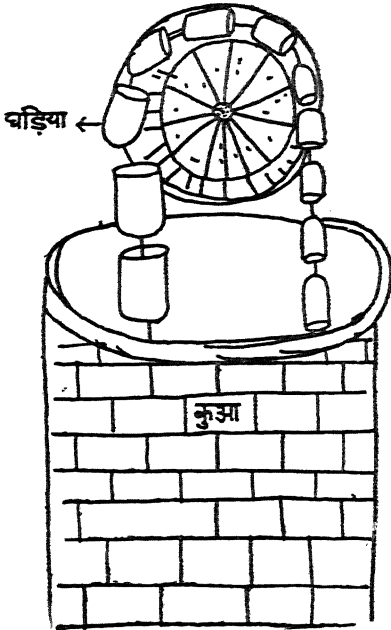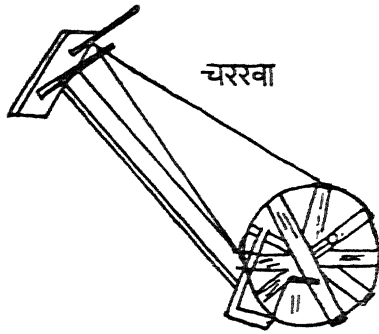
करघा) आदि का प्रयोग किया है। पलटूदास ने भी कबीर के अनुसरण पर करघे की समस्त प्रक्रिया का रूपक स्वीकार किया है। उन्होंने तैयार किये हुए कपड़े पर चमक लाने के लिए कुन्दी लगाने वाले कुन्दीगर का भी उल्लेख किया है।[1]

करघे पर बुनाई का सबसे अधिक अनुभव सन्तों में स्वभावतः कबीर को है। उनके अनुसार जुलाहा सूत को भारी करने के लिये अधिक मात्रा में माँड़ी देता है। इस प्रकार ढाई सेर सूत का पाँच सेर सूत हो जाता है और दाम अच्छे मिलते हैं। परन्तु सूत के मोटे हो जाने के कारण कोशिश करने पर भी उसके खिचाव में झोल आ जाता है। कबीर के अनुसार करघे का काम प्रातःकाल अच्छा होता है, क्योंकि दोपहर का समय बाजार जाने का है। अन्यत्र उनका कहना है कि बरसात में, हवा में नमी के कारण सूत का धागा टूटता नहीं है, अतः कताई और बुनाई अच्छी होती है—'चमके बिजुरी तार अनन्त।' परन्तु गरमी में उसका तार जल्दी-जल्दी टूटता है। इसी प्रकार करघे में तेल देने से बुनाई में आसानी होती है—'कहें कबीर तेल जब मेल्या बुनत न लागी बारा।' करघे पर चादर की बुनाई का उल्लेख गुलाल साहब ने किया है तथा गरीबदास ने रेजी और गजी की बुनाई की चर्चा की है।[2] इससे स्पष्ट है कि सन्त केवल सामान्य लौकिक-जीवन से परिचित हैं।

तिल-सरसों की पिराई—सरसों और तिल आदि को पेरकर तेल निकालने का कार्य कुटीर-उद्योग के अन्तर्गत आता है। सन्तों ने तेली के द्वारा तिलहन से तेल निकालने का उल्लेख किया है। चतुर्थ प्रकरण में पेशेवर जातियों के अन्तर्गत तेली का उल्लेख किया जा चुका है। तेली, कोल्हू को बैलों से चलाकर तेल निकालता है। कोल्हू साधारण-सा लकड़ी का यन्त्र होता है, जिसके बीच में एक लाट लगी रहती है जिससे सरसों आदि पेरा जाता है। इसी लाट से लगी हुयी अरयन को बैल खींचता रहता है

१—गु० ग्र०, पृ० १८५; ६ : वही०, पृ० ९५५; १: वही०, पृ० ६३४; ६: धरम० बा०, पृ० ३६; १२ : ग० बा०, पृ० १३२; ३, पलटू बा०, भा० २; पृ० २५; ५६, ९२; ८४ : वही०, भा० १, पृ० ११; २६. २—सं० कबीर, पृ० ५८; ५४ : क० ग्र०, पृ० १९९; ३२८ : वही०, पृ० १२३; १०६ : गुलाल बा० भु०, पृ० १४५; ४१२ : गरीब० बा०, पृ० १३२; ३.

जिससे लाट घानी में घूमती रहती है और तम्मान में घानी से तेल निकल कर एकत्र होता रहता है और खल घानी में ही जमा होती रहती है। घानी में एक बार पेरने के लिये जितनी सरसों डाली जाती है, उसे एक घानी कहते हैं। साधारणतया एक घानी का वजन दस सेर होता है। कबीर को इस बात का भी अनुभव है कि कच्ची सरसों पेरने से न खली निकलती है और न तेल ही—'काची सरसों पेल्ह के ना खली ना तेल'—क० ग्र०, पृ० २५४; ६८।[1]

गन्ने की पिराई—गन्ने से रस निकालने के लिये उसे कोल्हू में पेरा जाता है। इस रस से ही खाँड आदि तैयार की जाती है। सन्तों ने गन्ने के इस कोल्हू का भी उल्लेख किया है। दादू गन्ने के मौसम में कोल्हू के चलने का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं—'घर-घर-घर कोल्हू चले अमी महारस जापू।' इससे गाँव में स्थान-स्थान पर कोल्हुओं के चलने की कल्पना सजीव होती है। गन्ने के कोल्हू में ईख के टुकड़े लगाये जाते हैं, जिससे एक ओर रस गिरता रहता है और दूसरी ओर छोई (खोई)—'जैसे कोल्हू ईख को रस तजि छोई लेह।'[2]

शराब खींचना—भारतवर्ष में प्राचीन समय से ही मदिरा-पान का प्रचलन रहा है और अनेक प्रकार की उत्कृष्ट मदिरायें तैयार की जाती रही हैं। मध्यकालीन में मुस्लिम बादशाहों के शासन के अन्तर्गत मदिरापान में कमी नहीं हुयी, यद्यपि इस्लाम-धर्म के अन्तर्गत मदिरा-पान वर्जित रहा है और कुछ बादशाहों ने इसे दण्डनीय अपराध घोषित भी किया है। यहाँ तक कि जहाँगीर जैसे बादशाह इस व्यसन में पूर्णतः मग्न थे। इस काल में शराब प्रायः गुड़, महुवा, जौ तथा चावल से बनाई जाती थी, परन्तु इनके

१—गरी० बा०, पृ० १४७; २, ७—'कोल्हू चले बिन लाट वे'। : गु० बा० भु०, पृ० ३८; १०३—'कोल्हू हाँके घनियाँ लगाय, अरइन खोदि खोदि हँकतो जाय'। : रामचरन बा०, पृ० ११७; ११—'तेली का तम्मान कूं जे धोवे सौ बार'। इनके अतिरिक्त कोल्हू, घानी, बैल तथा पिराई के लिये अन्य सन्दर्भ—रज्जब बा०, पृ० १६९; ४ : गु० बा० भु०, पृ० ३७०; ९५५ : दरि० वि० अनु०, पृ० १४१; १८, ५३ ग० बा०, पृ० ६०; ६, ७ २—कबीर बीजक, पृ० ३८; १७ : दा० बा०, भा० १, पृ० १०; ९४ : रामचरन बा०, पृ० ३; ४,

अतिरिक्त ताड़ और नारियल के रस से तथा अन्य फलों और मसालों से भी मदिरा तैयार की जाती थी।[1]

सन्तों ने आध्यात्मिक आनन्द की अभिव्यक्ति के लिये मदिरा के रूपक को अत्यधिक प्रयुक्त किया है। मदिरा-पान से आने वाले नशा की तुलना आध्यात्मिक मस्ती से की है। उन्होंने कलवार के द्वारा मदिरा बनाने की प्रक्रिया का उल्लेख भी इसी रूप में किया है। मदिरा चुआने के लिये एक भट्ठी तैयार की जाती है जिसमें लकड़ी झोंककर अग्नि प्रज्ज्वलित कर ताप देते हैं। फिर दो बर्तनों को एक नली से जोड़ दिया जाता है। एक बर्तन में गुड़ या महुवा के ख़मीर (लहन) को भर दिया जाता है। इसमें मदिरा को गुणकारी बनाने के लिये अन्य अर्क भी मिला दिये जाते हैं। या सुगन्धित पदार्थ डाल दिये जाते हैं। भट्ठी के ताप से जब बर्तन के अन्दर का पदार्थ खौलता है तो उसके ऊपर के बर्तन पर पुचारा देते रहते हैं, जिससे नली के दूसरी ओर चूने में आसानी होती है। नली के माध्यम से इस प्रकार मदिरा दूसरे बर्तन में एकत्र होती रहती है।[2]

धन्धे—इन विभिन्न उद्योगों के अतिरिक्त अन्य अनेक धन्धे पेशे के रूप में लोग करते थे। वस्तुतः इन पेशों के करने वालों की, वंश-परम्परा से एक ही काम करते रहने के कारण, जातियाँ विकसित हो चुकी थीं। इनका विवेचन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। केवल यहाँ प्रस्तुत सन्दर्भ में इनकी गणना कर देना मात्र पर्याप्त होगा। दर्जी, धोबी, मनिहार, चमार, कुम्हार, रंगरेज, छिपिया, तमोली, माली, मरजिवा, हलवाई, झींवर मछुवा, भड़भूजा, पनिहारी, पीसनहारी और चक्की पीसने वाली आदि। इनके सन्दर्भ के लिये द्र०—चतुर्थ प्रकरण।

वस्तु और सामग्री—विशिष्ट क्षेत्रों में काम में आने वाली वस्तुओं का उल्लेख उन्हीं सन्दर्भों में किया गया है अथवा आगे किया जायगा। उदाहरण स्वरूप खेती सम्बन्धी उपकरणों अथवा विभिन्न उद्योगों के यन्त्रों आदि का

१—बाबर और हुमायूँ, पृ० ६५ : तु० का० भा०, भा० १, पृ० २७३ : तु० जहाँगीरी, पृ० ३०६ : मु० का० भा०, भा० १ पृ० ३९१ : जहाँ० आ० क०, पृ० ३४१, ४१०, ३७४ : ला० ए० क० आ० हि०, पृ० ९१, २—क० ग्र०, पृ० ११०; ७१-७५ : वही०, पृ० १३९; १५५ : स० कबीर, पृ० १७६; १ : वही०, पृ० १७७; २ : दूलन० बा०, पृ० १९;८.

विवरण उन प्रसङ्गों में किया गया है। इसी प्रकार भोजन तथा अभूषणों की चर्चा अगले प्रकरण में रीति-रिवाज के अन्तर्गत की जायेगी। परन्तु इनके अतिरिक्त जीवन के उपयोग में आने वाली अन्य अनेक वस्तुएं और सामग्री हैं जिनकी चर्चा सन्तों में मिलती है। इस समस्त सामग्री पर भी कई वर्गों में विभाजित करके विचार किया जा सकता है।

बर्तन-भाँड़ा—पारिवारिक उपयोग में अनेक प्रकार के बर्तन आते हैं। कुछ ऐसे बर्तन प्रयोग में आते हैं जो मिट्टी से बनाकर पका लिये जाते हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण **घड़ा** या **कुम्भ** है। मिट्टी का घड़ा या कुम्भ, पानी भरने के काम आता है। इससे आग बुझाई जा सकती है, परन्तु यह कच्चा कुम्भ चोट पड़ने से टूट भी सकता है।[1] घड़ा से छोटा, पानी भरने का मिट्टी का बर्तन **गागर, गगरिया** या **गागरी** कहलाती है। गगरी लेकर पानी भरने के लिये पनघट पर जाने वाली पनिहारिन लोक-जीवन में महत्वपूर्ण है। जिस गागर में नौ छेद हों उसमें पानी कैसे रुक सकता है।[2] पानी भरने के बड़े बर्तन को **मटका** या **मटकी** कहते हैं, यह भी मिट्टी की होती है।[3] मटकी, दही बेंचने की बड़ी हाँड़ी को भी कहते हैं–'कहे कबीर गुजरी बौरानी, मटकी फूटी जोति समानी'–(क० ग्र०, पृ० २०७;३५४)। मिट्टी के अन्य बर्तनों में **हाँड़ी** भी है, जिसमें गरीब लोग खाना पका लेते हैं। क्योंकि यह माँजी नहीं जा सकती, इसलिये वह काली ही रहती है—'कबहुँक दाग लगावहि, कारी हांडी हाथ।' सन्तों ने **काठ की हाँड़ी** का भी उल्लेख किया है, जो आग पर नहीं चढ़ाई जा सकती। सम्भवतः इसका उपयोग खट्टी वस्तुओं अथवा आचार आदि रखने के काम में आता होगा।[4] इसके अतिरिक्त मिट्टी के बर्तनों में **सुराही, करुवा, प्याला, कूंड़ा, माट** (मटका) आदि हैं।[5] इनमें **सुराही** और **प्याला** धातु के भी हो सकते हैं। इनका उपयोग प्रस्तुत-सन्दर्भ में मदिरापान के लिये हुआ है।

१—क० ग्र०, पृ० ७;३२, २४;१२ : धरम० बा०, पृ० ८;४ : पलटू बा०, भा० ३, पृ० १५;३०. २—सु० ग्र०, भा० १, पृ० ७३;१५: या० बा०, पृ० ३;७ : रामचरन बा०, पृ० १७०;३. ३—गु० ग्र०, पृ० ३७४;१. ४—क० बी०, पृ० ८४;६९ : क० ग्र०, पृ० २४;३१. ५—गरी० बा०, पृ० २०७;८ : रामचरन बा०, पृ० १८;२५ : गरी० बा०, पृ० १२१;२ : सु० ग्र०, भा० १, पृ० ७३;१५.

गल्ला

मटका

कूड़ा

घड़ा

गागर

दही जमाने का कूँडा

मसक

सीढ़ी

चक्की
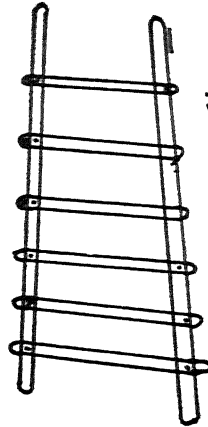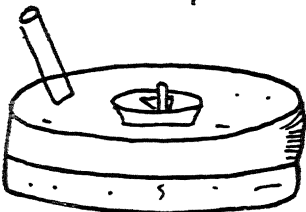
धातु के बर्तनों में **कलसा** पानी भरने के काम आता है। कभी-कभी सोने के कलसा का भी उल्लेख है।[1] **थाली** और **थाल** भोजन परोसने के काम में आने वाले बर्तन हैं।[2] कटोरा और कटोरी में रसदार पदार्थ परोसे जाते हैं।[3] कटोरी का उपयोग जल घड़ी में भी किया जाता है—'काया कटोरी जल में मेल्ही बूड़त वार न लागे।' कबीर ने पीतल की **टोकनी** का भी उल्लेख किया है जो एक प्रकार से चपटी चौड़े मुँह का पानी भरने का वर्तन होता है। धातु के अन्य बर्तनों में **झारी**, **गडुवा** तथा लोटा का उल्लेख किया जा सकता है तथा लोहे के बर्तनों में कलछी या **कलछुरी**, **कड़ाही** और तवा महत्वपूर्ण है।[4] सन्तों ने इन विभिन्न प्रकार के बर्तनों को बर्तन, वासन, भाँड़, बासरा आदि कहा है।[5] ये बर्तन मिट्टी, पीतल, ताँबा, काँसा तथा लोहे से बनाये जाते हैं। कबीर के अनुसार पीतल के बर्तन में खटाई नहीं रखी जा सकती—(क० ग्र०, पृ० ३६;६)। सन्तों के काल में पीतल, ताँबा, कांसा तथा कसकुट आदि के बर्तन बनाने के अनेक केन्द्र थे। दिल्ली के पास ताँबे के अच्छे कारीगर थे। काशी में पीतल के बर्तन अच्छे बनते थे। बङ्गाल में कांसे के वर्तन तैयार किये जाते थे। पीतल के बर्तनों का अधिक रिवाज था। राजाओं तथा उच्च-वर्ग के लोगों में सोने-चाँदी के जड़ाऊ बर्तनों का प्रचलन भी था।[6] सन्तों का सम्पर्क और सम्बन्ध समाज के निम्न वर्ग से था, अतः उन्होंने प्रायः लोक में प्रचलित बर्तनों का ही उल्लेख किया है।

घरेलू उपयोग की वस्तुएँ—सन्तों के काव्य में सामान्य लोक जीवन का अङ्कन प्रमुखतः हुआ है। ऐसी स्थिति में सन्तों ने सामान्य व्यवहार में आने

१—गु० बा० भु०, पृ० ६२;१७६ : वही०, पृ० ६६;१९१ : क० ग्र०, पृ० ४८;७. २—गु० बा० भु०, पृ० ६७;१६२ : गु० ग्र०, पृ० ६४४;३ : (अमरदास)। ३—क० ग्र०, पृ० २००;३३१ : वषना० वा०, पृ० ५२;१ : गु० ग्र०, पृ० ५५३;१ : गु० बा० भु०, पृ० ४५;१२५. ४—क० ग्र०, पृ० ३५;५ : वही०, पृ० १७३;२५१ : सं० क०, पृ० २३७;७ : धरम० बा०, पृ० ८;३.१ : रज्जब बा०, पृ० २६६;७० : सु० ग्र०, भा० १, पृ० ७४;१४ : पलटू० बा०, भा० १, पृ० ८४;१८५. ५—क० ग्र०, पृ० ५७;१० : वही०, पृ० १०५;५५ : वषना वा०, पृ० २;५ : गु० ग्र०, पृ० १६७;५०. ६८५; ४, १३३७;५. ६—उ० म० का० भा०, पृ० ४६४, ४८४ : ला० ए० क० आ० हि०, पृ० ९३,६९,१०० : तु० का० भा०, भा० १, पृ० २३५.

वाली अनेक वस्तुओं का उल्लेख किया है। **कुल्हाड़ी** का लकड़ी काटने में उपयोग होता है। कबीर अपने पैर में कुल्हाड़ी मारने की लोकोक्ति का प्रयोग करते हैं—'पाइं कुल्हाड़ा मारिआ, गाफिल अपणे हाथि।'—(क० ग्र०, पृ० २५;४३)। कुल्हाड़ी का बेंट लकड़ी का होता है। इसके साथ खुदाई करने के लिये **कुदाली, या कुदाल**, तथा पूली (चारा) काटने के लिये **गड़ासा** का भी उल्लेख हुआ है। फावड़ा से जमीन खोदने या मिट्टी उलटने का काम लिया जाता है।[1] खेती, मकानों की चिनाई तथा अन्य घरेलू कामों में **टोकरी, तसला** तथा **डाला** का भी प्रयोग होता है।[2] ऊपर चढ़ने के काम में आने वाली **सीढ़ी** या **नेसनी** का उल्लेख भी सन्तों ने किया है। दराती और खुरपे का भी सन्दर्भ मिलता है।[3]

ग्रामीण घरों में अनाज के पछोरने, फटकने, कूटने, दरने और पीसने का काम घर की स्त्रियाँ ही करती हैं। अतः इन कामों से सम्बद्ध अनेक वस्तुओं का लोक-जीवन में बहुत महत्व है। सन्तों ने जीवन के इस स्तर से इन वस्तुओं को ग्रहण किया हैं। **ओखल** तथा **मूसल** का उपयोग अनाज को कूटने या छरने के लिये होता है। रज्जब के अनुसार सहस्र मन चावल को कूटने वाले ओखल (उखली) तथा मूसल को उसका स्वाद प्राप्त नहीं होता। **छाज** अर्थात् सूप अनाज को फटककर साफ करने के काम में आता है। सन्त परिचित है कि अनाज से उसका भूसा छाज के द्वारा अलग किया जाता है अथवा उससे कङ्कड़ आदि भी साफ किये जाते हैं। वे गुरु ज्ञान (छाज) से फटककर कर्म के भ्रम को दूर करना चाहते हैं। **छलनी** कई प्रकार की होती है जिससे दाल छानने से लेकर आटा तथा मैदा छानने तक का काम लिया जाता है। सन्त छलनी की इस प्रक्रिया से परिचित हैं कि वह सार-तत्व को थोथे पदार्थ से अलग कर देती है।[4]

१—दरि० मा०, पृ० ३६;६ : रैदा० बा०, पृ० २२;४४ : बषना० वा०, पृ० १०५;५ : रामचरन वा०, पृ० ३५८;८६ : पा० बो०, पृ० ८९;४. २-क० बीजक, पृ० ३६६;३ : क० ग्र०, पृ० ३५;५ : स० कबीर, पृ० ९[illegible]; २. ३—क० ग्र०, पृ० १[illegible]२;१०८ : धरनी बा०, पृ० ४०;७ : पलटू, भा० १, पृ० १००;२५[illegible]. ४-रज्जब बा०, पृ० २६६;६९ : स० सु० सा० : रज्जब : पृ० ५०७;१ : हरि० पु० वा०, पृ० ३७३;९ : स० सु० सा० : रज्जब : पृ० ५१८;१.

चक्की—आटा पीसने तथा दाल दलने के काम में आती है। दलने वाली चक्की को दराती भी कहते हैं। सन्तों ने अपने रूपकों में चक्की को अधिक स्थान दिया है। कबीर चलती चक्की के दो पाटों के बीच में पिसते हुए लोक का अनुभव करते हैं। रज्जब के अनुसार खुले हुए स्थान में चक्की नहीं रखी जा सकती, क्योंकि पीसा हुआ सब उड़ जायगा। अन्य सन्त माया की चक्की का उल्लेख करते हैं जिसमें संसार पिस रहा है—(पलटू और रामचरण) चक्की और चूल्हे को उन्होंने सांसारिकता का प्रतीक ही स्वीकार किया है।[1] सन्तों की दृष्टि चक्की के चीथड़े जैसी लोकजीवन की अति सामान्य वस्तुओं पर भी गयी है—'चाकी का चीथरा कहाँ ले जाही—(सं० कबीर, पृ० २३८;८)।

खाना बनाने में बर्तनों के अतिरिक्त कुछ अन्य उपकरणों का उपयोग भी किया जाता है। चूल्हा खाना पकाने का सर्वप्रमुख साधन है। कभी-कभी या साधारण कामों के लिये अँगीठी का उपयोग भी किया जाता है। चूल्हा जलाने के लिये ईंधन अर्थात् लकड़ी का उपयोग किया जाता है। कबीर अपनी सांसारिक आशाओं को ईंधन के समान जलाने का सङ्कल्प करते हैं—'आशा का ईंधन करूँ, मनसा करूँ विभूति।' इसी प्रकार कबीर तथा रज्जब दोनों ने कोयला को धोकर उजला (पवित्र) न कर पाने (पाक छूत मानने) वालों से घृणा की है। गोबर से कण्डा बनाकर विठोरा या बिठौरा लगाने का सन्दर्भ आया है। इससे कण्डा जलाने की परम्परा का समर्थन होता है। पञ्जाब क्षेत्र के सन्तों ने रोटी बनाने के लिये तन्दूर का उल्लेख भी किया है।[2] चौका तथा घर की सफाई के लिये झाड़ू का उपयोग भी महत्वपूर्ण है। इससे घर का कूड़ा और चौके की राख साफ की जाती है। सन्तों की दृष्टि ने इनको भी नहीं छोड़ा है। वे अन्दर के कूड़े को (आन्तरिक कुप्रवृत्तियों को) झाड़कर दूर बहाने का उपदेश देते हैं। राख के विषय में रज्जब का अनुभव

१—क० बी०, पृ० ३८९;१२६, ३०८;२ : स० सु० सा० : रज्जब : पृ० ३५०;४ : पलटू० बा०, भा० १, पृ० ७५;१२५ : रामचरण, पृ० ३३;६ : स० सु० सा० : रज्जब : पृ० ५१४;४ : वही०, पृ० ५३२;७७. २—क० ग्र०, पृ० २८; ३ : क० बीजक, पृ० ३९५; १६१ : रज्जब बा०, पृ० २९०; २५ : सु० वि०, पृ० ५४; २ : क० बीजक, पृ० ३३२;६ : सु० वि०, पृ० १६०; १६ : स० सु० सा० : (शेख फ०), पृ० ४२२; ६०.

है कि गरम तेल, अरसी तथा खर और खेचर का माँस राख से ही साफ होता है। झाड़ को **कूची और बुहारी** भी कहा गया है।[1]

सामान्य घर के उपयोग में आने वाली वस्तुओं में निम्नलिखित का उल्लेख सन्त-काव्य में मिलता है। **खाट और खटोला** सोने-लेटने के काम आता है, जिनको कोली, बान से बुनता है।[2] **कांवरि** या बँहगी जिसको कन्धे पर रखकर सामान ढोया जाता है।[3] **मूंज की जेवड़ी** या रस्सी से वस्तुओं के बाँधने का तथा पानी भरने आदि का काम लिया जाता है। सन्तों ने भ्रम तथा माया की रस्सी और उसके बन्धन का उल्लेख प्रायः किया है। मूँज के अतिरिक्त **सन की रस्सी** का भी सन्दर्भ मिलता है। कबीर के अनुसार यह रस्सी भींगने से और भी अधिक कड़ी पड़ती है। रस्सी से साँप का भ्रम लोक-प्रचलित मान्यता है। संसार में सन्तों के अनुसार मनुष्य के गले में सुख-दुख देने वाली आशा की जेवड़ी पड़ी हुयी है।[4] पलटूदास ने सन् की रस्सी बनाने की विधि का रूपक भी प्रस्तुत किया है—"सन को काटकर जल में डाला जाता है, फिर उसको कूट-कूटकर उसकी छाल निकाल ली जाती है। इसी छाल को मूँगरों से पीटकर सन तैयार करते हैं जिसको बटकर रस्सी बनाई जाती है। उनको भाँज-भाँजकर **रस्सा** तैयार कर लिया जाता है। इस प्रकार तैयार की हुई रस्सियों या रस्सों से गाय, तथा बछड़ा भी बाँधे जाते हैं और लोगों की मुश्क भी बाँध दी जाती है।" पतली रस्सियों को **डोरी** कहा जाता है। सन्तों ने रस्सी के समान डोरी का भी प्रयोग बाँधने के लिये ही किया है। वे 'आवागमन की डोरी' के कट जाने की चर्चा के साथ ही 'सुरति-निरति की डोरी' के माध्यम से आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश करने का उल्लेख भी करते हैं।[5] डोरी के फन्दों से **छींका** बनाया जाता है जिसमें

१—क० बी०, पृ० ३८०;७५ : रज्जब बा०, पृ० ३६१;१ : धरनी० बा०, पृ० ५; ८ : यारी० बा०, पृ० ११;२ : पलटू बा०, भा० १, पृ० ८८; २२५. २—क० ग्र०, पृ० ६१; १०, वही०, पृ० ११२;७७. ३—दरि० ग्रि० अनु०, पृ० ६१; १. ११. ४—रज्जब० बा०, पृ० १८७; १८६ : वही०, पृ० ३६७; १: क० ग्र०, पृ० १६०;२१३ : वही०, पृ० ३२४;१६३ : वही०, पृ० ३६;११ : वषना० बा०, पृ० ७५; ४० : उपजारी बा०, पृ० २३; ३८ : रामचरन बा०, पृ० ४२२;२७. ५—पलटू० बा०, भा० १, पृ० १७; ३७ धरम० बा०, पृ०११;४ : तु० श०, भा० १, पृ० १८०; २६.

रखकर खाने की वस्तुएँ ऊपर टाँगी जा सकती है।[1] इसी तरह पशुओं को भागने से रोकने के लिये या गाय आदि को दुहते समय उसके पिछले पैरों को जिस रस्सी से बाँधा जाता है, उसे छांद कहते है।[2]

कवीर ने नलिनी (ललनी) का उल्लेख किया है जो एक प्रकार की बाँस की चरखी है, जिससे तोता पकड़ा जाता है।[3] लकड़ी का तख्त बिछाकर यह बैठने या सोने के काम में आता है।[4] **खूँटा** पशुओं को बाँधने के काम में आता है, वस्तुतः खूँटा पालतू पशुओं का प्रतीक बन गया है। वह चरते समय निरन्तर अपने खूँटे अर्थात् अपने स्थान का स्मरण रखता है और उससे अलग हो जाने पर कठिनाइयों में पड़ता है।[5] लोहे की मेख (कीली) गाड़ने के काम में आती है।[6] इन सामान्य उपयोग की वस्तुओं के बीच में सन्तों ने एक नागरिक उपयोग में आने वाली वस्तु का उल्लेख किया है, **दूरबीन**। सुन्दरदास दूरबीन से परिचित हैं। वे कहते हैं, "कोई व्यक्ति बद्रिकाश्रम जाने के लिये पहाड़ों पर चढ़ते हैं और कोई केदारनाथ की यात्रा करना चाहते हैं, परन्तु गुरु की दिव्य-दृष्टि रूपी दूरबीन से हम दूर की वस्तु को भी निकट से देख लेते हैं।" इसी प्रकार गरीबदास तथा तुलसी साहब ने भी दूरबीन शब्द का प्रयोग किया है।[7]

अन्य उपयोगी पदार्थ—सामान्य लोक-जीवन में **मोम** का उपयोग प्राचीन काल से चला आ रहा है[8]। सन्तों को मोम के इस उपयोग का समुचित ज्ञान है। कबीर तम्बूरे के छेदों को मोम से बन्द करने का उल्लेख करते हैं, वस्तुतः यह इस प्रकार की भराई के काम में आता है। दादू मोम की कोमलता का उल्लेख करते हुए मोमिन के दिल की उपमा मोम से देते हैं। वषना के अनुसार शरीर पर मोम के कपड़े होने से आदमी भींगने से बच जाता है, सम्भवतः इनका सङ्केत मोमजामा की ओर है। इसी बात को पलटूदास दूसरी प्रकार से कहते हैं—'पलटू भीजे मोम ना, जल को दीजे दोस।'[9]

१—क० ग्र०, पृ० ३०; २४. २—धरनी० बा०, पृ० ५; ४. ३—क० बीजक पृ० २३१; ७३. ४—रामचरण बा०, पृ० १८४; ३८. ५—वही०, पृ० २२०; ४६. ६—पलटू बा०, भा० १, पृ० ७२; १५८. ७—सु० वि०, पृ० ६८; १४ : गरी० बा०, पृ० १७६; ४ : तुलसी घ० रा० पृ० ३३८:१७. ८—हर्षचरित पृ० १०४. ९—क० बीजक पृ० २२५; ६९ : दा० बा० भा०, १, पृ० १३६; ३ : वषना बा०, पृ० ११०; ८८ : पलटू० बा०, भा० ३, पृ० ६४.

लकड़ी जोड़ने के काम में **सरेस** का उपयोग होता है।[1] **काँच** का प्रयोग चूड़ियों तथा दर्पन के अतिरिक्त जड़ाई के काम में भी होता है। सन्तों ने हीरा और काँच की प्रायः तुलना की है। इसी प्रकार कभी-कभी कञ्चन और काँच की तुलना भी हुयी है। उन्होंने शीघ्र टूट जाने वाले तथा कम मूल्यवान् होने के कारण काँच को त्याज्य (सांसारिकता के अर्थ में) माना है।[2]

अबरक—जिसे भोड़ल भी कहते हैं, चमकीली पत्तियों का खनिज पदार्थ है। सन्तों ने अबरक की चमक का विशेष रूप से उल्लेख किया है। इस काल में अबरक का प्रयोग चमकदार सजावट के लिये किया जाता था और वह घरों की खिड़कियों आदि में भी लगाया जाता था।[3] सन्तों ने **पारा** का उल्लेख भी किया है। उनके अनुसार पारा के बीच में रखकर शोधने से कञ्चन शुद्ध हो जाता है, पारा पी लेने से चूहा मर जाता है और पारा मारने से मरता नहीं।[4] **चुम्बक पत्थर** की विशेषता है कि वह लोहे को अपनी ओर खींचता है। सन्त उसके गुण से आकर्षित होकर उसका प्रयोग अपने रूपकों में करते हैं। कबीर चुम्बक पत्थर को गुरु के शब्द का प्रतीक मानते हैं। दादू के अनुसार गुरु के गुण रूपी चुम्बक के सम्मुख लोहा रूपी मन को डाल देना चाहिये, क्योंकि वह उसे अपनी ओर सहज ही खींच लेगा। रज्जब भी सत्गुरु रूपी चुम्बक के द्वारा संसार में लगी हुई सुई रूपी शिष्य को खिंचा हुआ मानते हैं। इसी सन्दर्भ में दरिया साहब (वि०) भी इसका उपभोग करते हैं। **चकमक पत्थर** पर रुई रखकर आग बनाने का प्राचीन तरीका बुन्देलखण्ड के जङ्गलों में अभी तक प्रचलित है।[5] **पारस** नामक एक काल्पनिक पत्थर का उल्लेख प्रायः अधिकांश सन्तों ने किया है। **लोकविश्वास** के अनुसार इस पत्थर के स्पर्श से लोहा सोना हो जाता है। इसी लोकविश्वास के आधार पर सन्तों ने अपना रूपक ग्रहण किया है कि सांसारिक जीवन को

१—बषना० बा०, पृ० ११०; ८८, ४. २—रामचरण बा०, पृ० ८७२;६७. ३—सु० वि०, पृ० १४५;२ : गरी० बा०, पृ० १२२; ३ ३ : हु० नामा०, पृ० ६४. ४—रज्जब० बा०, पृ० २३७;४५ : रामचरण बा०, पृ० ३४६;५० : दरि० वि० अनु०, पृ० २३; ११८. ५—क० बीजक पृ० ४२१; ३१८ : दा० बा०, भा० १, पृ० १०३; १० : रज्जब० बा०, पृ० ३१४; ४ : दरि० वि० अनु०, पृ० १३८; १८, ४० : कादम्बरी, पृ० २२९.

गुरु, शब्द, नाम अथवा प्रेम के पारस-स्पर्श के अलौकिक अथवा आध्यात्मिक तत्व में परिवर्तित किया जा सकता है।[1]

रङ्ग—मध्यकाल में नील के आधार पर भारतवर्ष में अनेक पक्के रङ्गों को बनाने की पद्धति पूर्णतः विकसित थी। यहाँ के पक्के रङ्गों और कपड़ों की सुन्दर छपाई से विदेशी अत्यधिक प्रभावित होते थे।[2] कबीर अपने युग के पक्के रङ्गो से परिचित हैं—'लीर लीर लोई भई तऊ न छाड़े रङ्ग'—(क० ग्र०, पृ० ४८। ३)। रैदास कसीस के रङ्ग की विशेषता का उल्लेख करते हैं कि वह देखने में सफेद होता है पर पानी में मिलाने से काला हो जाता है। मजीठा का पक्का रङ्ग कपड़ों पर चढ़ाने के काम में आता है। सन्तों ने इसी सन्दर्भ में प्रायः उसका उल्लेख किया है। सम्भवतः अपने पक्केपन के कारण सन्तों में इसका विशेष प्रचलन रहा है और उन्होंने इसी दृष्टि से अपने काव्य में इसका प्रयोग किया है।[3]

सन्तों ने पुष्पों से तैयार किये जाने वाले कुसुम्बी रङ्ग की चर्चा भी प्रायः की है। ये कोमल और कच्चे रङ्ग होते हैं, इसी कारण सन्तों ने सांसारिकता को इस रङ्ग का माना है—'जैसा रङ्ग कुसुम का तैसा यहु संसार रे'–(रैदास० बा०, पृ० १२६, ७२)। अर्जुनदेव के अनुसार भी कुसुम का कच्चा रङ्ग केवल चार दिन चलने वाला होता है। कुसुम रङ्ग में साड़ियों तथा चूनरी के रङ्गने का विशेष प्रचलन था—'कुसुम रङ्ग की सारी हो, 'या कुसुम रङ्ग की चुनरी हो'।[4] अन्य रङ्गों में सन्तों ने लाल रङ्ग का प्रयोग किया है,

---

१—क० ग्र०, पृ० १८१; २७४ : क० बीजक, पृ० १२७; १४ : सं० क०, पृ० २५६; ७७ रैदास० ज्वालापुर, पृ० १०८; २७ : गु०ग्र०, पृ० ३०२; २, १३११; १ : रज्जब बा०, पृ० ७०; १५ : बषना० बा० पृ० ७५; ४० : दरि० वि० अनु०, पृ० ४१; २. १९ : दूलन० बा०, पृ० ३०; १८ : दरि० मा०, पृ० ९; ३१ : गु० बा० भु०, पृ० १६०; ४२४ : गरी० बा०, पृ० ७६; ४७ : रामचरण बा०, पृ० ५२६; ९ : तुलसी घ० रा०, पृ० ४२१; ४. २—उ० भा० का० भा०, पृ० ४८३ : म० यु० इ०, पृ० ५२३ : मु० भा०, भा० १, पृ० ३१०. ३—रै० बा० ज्वालापुर, पृ० १२६; ७२ : गु० ग्र०, पृ० ६४३; १ (नानक) वही०, पृ० ७२२; २ (अर्जुन) वही०, पृ० १३७९; २२ दरि० वि० अनु०, पृ० १०७; ७ २४. ४—गु० ग्र०, पृ० ७५१; ९ : धरम० बा०, पृ० ५३; १०, १३.

जिसे वे प्रेम का प्रतीक भी मानते हैं। वैसे उनका परिचय अनेक रङ्गों से रहा है—'अनेक रङ्ग जाके गने न जाई'—(गु० ग्र०, पृ० १२३४ म० ५), परन्तु उन्होंने मुख्यतः काला, घोला, सफेद, नीला, सुर्ख, जर्द (पीला), पीला (पीत), रक्त और सब्ज (हरा) रङ्गों का उल्लेख किया है।[1]

रङ्गों के विषय में सन्तकाव्य में कुछ अन्य सूचनाएँ भी प्राप्त होती हैं। कोरे वस्त्र पर रङ्ग नहीं चढ़ता। बादलों के अनेकानेक रङ्ग दिखाई पड़ते हैं—'बदली रङ्ग-विरङ्ग है'। रज्जब 'पञ्च रङ्ग' की चर्चा करते हैं, सम्भवतः इनका सङ्केत प्रमुख पाँच रङ्गों की ओर है। दरिया नील का दाग़ पक्की कहते हैं। रामचरण के अनुसार—सब्ज 'श्वेत' रक्त वर्ण मिलकर अग्नि के रङ्ग में परिवर्तित हो जाते हैं'। तुलसी ने स्याह, सुर्ख़, सफ़ेद, ज़र्द तथा सब्ज इन पाँच रङ्गों को स्वीकार किया है। रामचरण नीला और पीला रङ्ग के मिलने से हरे रङ्ग के बन जाने का उल्लेख करते हैं।[2]

फिटकरी के विषय में दादू का कहना है कि नमक के समान होने पर भी पानी में पड़कर वह अपना गुण प्रकट करती है। रज्जब के अनुसार फिटकरी से कागज पर लिखने से अक्षर प्रकट नहीं होते, पर पानी में भीगते ही अक्षर उभर आते हैं। **गूगुल** को आग में जलाकर उससे सुगन्धित धुआँ उत्पन्न करना पवित्र कृत्य माना जाता है। इसी प्रकार **लोहबान** और **अगर** की सुगन्धि का भी उपयोग किया जाता है।[3] **सोहागा** का उपयोग सुनार विशेष रूप से सोने के शोधन में करता है। वैसे परिवारों में इसका उपयोग अन्य रूपों (दवाई आदि) में भी होता है, परन्तु सन्तों ने सोहागा के इसी

१—गु० ग्र०, पृ० ७८६; ३ (अमर) दरि० वि० अनु०, पृ० १२६; ७. १६ : वही०, पृ० १४४; १९. ७ : गरी० बा०, पृ० १११; १, १७७; ५, ८६; ५ : रामचरण बा०, पृ० ४६८; ३६ : तु० घ० रा०, पृ० ७२; १, ६६; ११. २—गु० ग्र०, पृ० ७०८; ११ : बुल्ला० बा० भु०, पृ० ८२; २४५ : रज्जब० बा०, पृ० २५४; ५८ : दरि० वि० अनु०, पृ० १२६; ७. १६ : रामचरन बा०, पृ० ४६८; ३६ : तु० घ० रा०, पृ० ६६; ११ : रामचरन बा०, पृ० ४९६; ३७. ३—दा० बा०, भा० १, पृ० १६६; ९५ : रज्जब० बा०, पृ० १४७; ४९ क० ग्र०, पृ० १५४; १९६ : गरी० बा०, पृ० २१५; ८ : पलटू बा०, भा० १, पृ० ७०; १७९.

शोधक गुण की चर्चा की है।[1] नौसादर का सन्दर्भ भी रामचरण की वाणी में आया है।[2] कस्तूरी मध्यकाल के ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि बादशाहों, उमरावों तथा उच्चवर्ग के लोगों में कस्तूरी पर्याप्त प्रचलित थी।[3] कस्तूरी एक प्रकार के पहाड़ी हिरन की नाभि से निकलती है। सन्तों ने कस्तूरी मृग की कल्पना का प्रयोग अपने काव्य में किया है। कहते हैं कि कस्तूरी मृग अपनी नाभि में स्थित कस्तूरी की गन्ध की खोज में भटकता रहता है। सन्तों ने इसको हृदय में बसने वाले ब्रह्मतत्व की खोज में भटकने वाले प्राणी के रूपक के रूप में स्वीकार किया है।[4]

व्यापार—मध्यकाल में व्यापार की उन्नति पर्याप्त मात्रा में थी। न केवल देश के विभिन्न क्षेत्रों में यह व्यापार चलता था वरन् विदेशों से भी यहाँ के व्यापारियों के व्यापारिक सम्बन्ध थे। अनेक नगर, व्यापारिक केन्द्रों के रूप में प्रसिद्ध थे। व्यापारियों की मार्ग के डाकुओं आदि से रक्षा के लिये पहरेदार (सैनिक) लेकर चलना होता था। समुद्र के किनारे सूरत जैसे व्यापारिक नगर भी थे। कभी गुजरात का भड़ोंच नगर व्यापार के लिये प्रसिद्ध था। इन नगरों में सम्पत्तिशाली समृद्ध व्यापारी रहते थे। गाँव का अनाज देश में इधर-उधर भेजे जाने के लिये कस्बों में एकत्र किया जाता था।[5] देश के समुन्नत उद्योग-धन्धों का प्रभाव यहाँ के व्यापार पर पड़ना अनिवार्य था। ऐसी स्थिति में सन्त जैसे सांसारिक जीवन के प्रति उपेक्षा रखने वाले लोगों को भी व्यापारिक चेतना का होना स्वाभाविक रहा। उन्होंने व्यापारिक जीवन से अपने काव्य में अनेक रूपक और दृष्टान्त प्रस्तुत किये हैं जिनसे इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है कि सन्तों को व्यापार सम्बन्धी बातों का पर्याप्त ज्ञान था।

१—रैदास बा० ज्वालापुर, पृ० १०२; १७ : वही०, पृ० १३१; ८६ : रज्जब० बा०, पृ० ४९; ८० : रामचरण बा०, पृ० २४२; १२ : भी०, बा० भु०, पृ० ६७;२६८. २—रामचरण बा०, पृ० १६३;५. ३—मु० भा०, भा०, १, पृ० १८० : उ० ते० भा०, भा० १, पृ० १४६ : जहाँ आ०क०, पृ० ४३०, ६६१. ४—क० ग्र०, पृ० २४२;२ : वषना० बा०, पृ० १३१;११० रामचरन बा०,पृ० ४७; १-११ : तु० श०, भा० १, पृ० ६०;७. ५—उ० भा०, भा० अवध वि० फा०, पृ० ४८७ : ला० क० आ० हि० डॉ० अशरफ, पृ० १०५ : म० भा० सं०, पृ० १३२.

ऐतिहासिक साक्ष्य के अनुसार बनजारा एक ऐसे व्यापारी वर्ग को कहा जाता था जो धर्मावलम्बी थे और एक स्थान से दूसरे स्थान तथा एक देश से दूसरे देश व्यापार की सामग्री पहुँचाया करते थे। इनके माध्यम से सेनाएँ अपने रसद का प्रबन्ध भी करती थीं। बनजारों के पास हजारों बैल (कभी-कभी चालीस हज़ार से भी अधिक) सामान लादने के लिये होते थे। वे अनाज अनेक क्षेत्रों से खरीद कर लाते और नगरों में बेंचते थे। सेनाओं के साथ हजारों बैलों पर रसद लेकर ये चलते थे। बनजारे रसद पहुचाने का ठेका भी लिया करते थे। अलाउद्दीन ने अनाज की व्यवस्था को ठीक करने के लिये बनजारों को खलियानों से अनाज खरीदवाने का हुक्म जारी किया था। औरङ्गज़ेब ने कन्धार की सेना को रसद पहुँचाने के लिये ठेकेदार बनजारों को वाध्य किया था। युद्ध में बनजारों के सामान से लदे बैलों को अधिकार में करने के लिये प्रतिपक्षी नायकों में युद्ध भी होता था।[1]

इस बनजारे का उल्लेख सन्त-काव्य में अनेक स्थलों पर हुआ है। यह **बनजारा** अपनी पूँजी (धन से खरीदी हुई सामग्री) को बैलों पर **गोनियों** में भरकर चलता है और उसका यह **टाँडा** एक व्यापार के केन्द्र से दूसरे केन्द्र में घूमता है। एक वार में ले जाया गया माल **खेप** कहलाता है। बैलों पर सामान का लादा जाना **लदान** कहलाता है—'हरि टांडों लाद्या जापू रे' (रै० वा०, पृ० ३५; ७२)। यद्यपि सन्तों के काल में व्यापार के लिये बैल का प्रयोग सर्वाधिक होता था, पर इसके अतिरिक्त ऊँट, खच्चर तथा गधे आदि का भी प्रयोग किया जाता था। सन्तों ने बैल के अतिरिक्त ऊँट का भी उल्लेख किया है—'चले वनजवा ऊँट हूँठ गढ़ छोड़ रे' (गरी० बा०, पृ० १४२, ११)। यात्रा की कठिनाइयों के कारण बनजारों का एक पूरा जत्था (काफला) साथ में चलता था। इस पूरे जत्थे का एक **नायक** रहता था जो अपने सैनिकों के सहित सम्पूर्ण टांड़े की रक्षा का दायित्व वहन करता था। इस बनजारे को कभी सौदागर या लदनुवा भी कहा गया है।[2]

१—सौशल हि० (डॉ० यासीन), पृ० २७ : खि० का० भा० (डॉ० रिज़वी), पृ० ८० (दारा शिकोह), पृ० ११ : रतलाम का० (डॉ० रघुबीर सिंह), पृ० १०४ : ला० ए० हि० (डॉ० अशरफ़), पृ० १०६. २—सं० कबीर, पृ० ५२ ४६ : वही०, पृ० २०१; २ : वही०, पृ० २३६; ६ : सं० सु० सा० (शेख फ़रीद), पृ० ४११; ५ : सु० वि०, पृ० ६१; २२ : सं० सु० सा० (तुलसी), पृ० २८६; १.

यह बनजारा अपना माल साहूकार अर्थात् सामान भरने वाले धनपतियों से खरीदता है। कभी यह साह व्यवसायी को व्यापार करने के लिये अपनी ओर से पूंजी देता है। पूंजी या माल का लेन-देन **अढ़तिया या हटवार** के माध्यम से होता है। वह बिक्री का प्रतिशत हटवाई के रूप में लेकर भाव निर्धारित करता है और तौल आदि कराता है। अढ़तिया इस लेन-देन के हिसाब-किताब को **बहियों** में दर्ज रखता है।[1] वैसे बहियों का प्रयोग सभी प्रकार के व्यापारी अपने हिसाब-किताब के लिये करते हैं।

मार्ग में क्षेत्रों अथवा नगरों के कर वसूल करने वाले जगाती व्यापारियों को रोककर कर वसूल करते हैं। रास्ते के जङ्गलों में डाकू डाका डालने का प्रयत्न भी करते हैं। डाकुओं से रक्षा करने का भार नायक का कहा गया है, पलटूदास ने इस बात का उल्लेख किया है कि अनेक बार इस प्रकार के आक्रमणों में नायकों को अपनी जान तक देनी होती थी।[2] कभी-कभी इन व्यापारियों को हानि उठानी पड़ती है, उनकी पूंजी खो जाती है, टांड़ा टूट जाता है और व्यापार नष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में बनजारे को हाथ झाड़कर चल देना पड़ता है, उसको व्याज के बजाय मूल से भी हाथ धोना पड़ता है।[3]

व्यापार करने वाले बनजारे सामान का मोल-तोल करते हैं, सामान की लदान के समय अपने जानवरों की गिनती करते हैं और लदाई करते समय देखते हैं कि सामान भारी है या हल्का और उन पर आगे-पीछे का सन्तुलन कैसा है, क्योंकि सामान के बोझ के अनुसार लादने वाले जानवरों की आवश्यकता होगी और सन्तुलन ठीक होने पर जानवर को चलने में आसानी होगी। सामान की खरीद में लोगों के हक (कमीशन आदि) का ख्याल भी रखा जाता है।[4] पेठ, बाजार या मण्डी में सौदा होने के बाद बनजारा अपने बैलों पर लाद कर उन्हें एक कतार में हाँक देता था। इस प्रकार की लाखों (अर्थ है बहुत अधिक) लदान बड़े नगरों से होती थी, क्योंकि

१—बुल्ला० बा० भु०, पृ० १५८;६० : तु० श०, भा० १, पृ० ४४; २४ : क० बीजक, पृ० ३११;४ : सं० कबीर, पृ० २३६;६. २—सं० कबीर, पृ० ५२;४९ : पलटू बा०, भा० ३, पृ० ७१;१२८ : तु० श०, भा० १, पृ० ६०;७. ३—सं० कबीर, पृ० २३६;६. ४—क० ग्र०, पृ० २४४ १६९.

उद्योग-धन्धों के केन्द्र होने के कारण इनमें विविध सामग्रियों का उत्पादन बहुत बड़ी मात्रा में होता था।[1] सन्तों के काल में दिसावर का व्यापार श्रेष्ठ (चोखो) समझा जाता था। कबीर के अनुसार व्यापारी किसी वस्तु का विस्तृत बाजार देखकर व्यापार करता है। उस बाजार से सामग्री लाद कर औघट-घाट के मार्ग से दूर देश के लिये रवाना हो जाता है। वही बनजारा कुशल माना जायगा जो मूल की रक्षा करता हुआ लाभ प्राप्त करता है। जो व्यापारी माल के खरा-खोटा होने की परख नहीं रखता है, वह लोभ के कारण अपना मूल भी खोता है। कबीर के इस सन्दर्भ—'सागर तीर न वार न पारा' से इस बात की व्यञ्जना ली जा सकती है कि उनकी दृष्टि में सामुद्रिक व्यवसाय की कल्पना है।[2]

व्यापार में पूँजी की आवश्यकता होती है और इस मूलधन को व्यापारी व्याज पर साहूकार या धनपति से प्राप्त करता है। यदि व्यापार में लाभ नहीं होता और वह मूल धन वापस करने में असमर्थ रहता है तो उस पर व्याज बढ़ता जाता है। कभी-कभी व्यवसाय में ऐसा घाटा हो जाता है कि सारी पूँजी ही नष्ट (टूट) हो जाती है।[3] बनजारों के विषय में कबीर का कहना है कि इनका कभी यहाँ घर है कभी वहाँ। ये बनजारे अपना बाजार जहाँ चाहते हैं लगा देते हैं और फुटकर माल बेचकर बाजार उठा देते हैं। सम्भवतः कबीर अपने समय की व्यापार विषयक भावना को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि इसमें झूठ उचित नहीं है, क्योंकि झूठ के व्यापार में मूल के खो जाने की सम्भावना है। रैदास के अनुसार व्यापार भी सेवा का माध्यम है (सामाजिक सेवा) और व्यापारी को अपने व्यवसाय में सहज भाव से प्रवेश करना चाहिये, अर्थात् उसमें विशेष लोभ वृत्ति नहीं होनी चाहिये। उसको एक क्षेत्र से ऐसी पूँजी लादनी चाहिये जो दूसरे क्षेत्र के लिये बहु-मूल्य हो। ऐसे ही व्यापारी को वास्तविक लाभ होता है। नानकदेव ने बनजारों के व्यापार के पीछे मूल शक्ति साहूकार की स्वीकार की है, क्योंकि यह साहूकार एक स्थान पर बैठा हुआ भी चारों ओर के व्यापार का नियन्त्रण करता रहता है। यही भाव रामदास ने व्यक्त किया है—'हम

१—गरीब बा०, पृ० ६१; १५ : वही, पृ० ८६; १२. २—क० ग्र० पृ० १६७; २३४. ३—वही०, पृ० २१५; ३२३ : क० बीजक; पृ० ३५१; १.

बणजारे राम के, हरि बणजु करावे दे रासि रे।' 'रासि' (राशि, पूंजी) देकर व्यापार करने वाला हरि साहूकार ही है।[1]

वस्तुतः वस्तुओं की आवश्यकता अनुसार ही व्यापारी को अपना सौदा तौलना चाहिये, जहाँ लेनदार ग्राहक न हो वहाँ अपना माल दिखाना व्यर्थ है। व्यापार में लेखा-जोखा आवश्यक है, क्योंकि अन्त में हिसाब-किताब मिलाना पड़ता है। साहूकार को अपना हिसाब देना होता है।[2] दूलनदास के अनुसार साहूकार व्यापार को नियन्त्रित रखने के लिये अपना भण्डार सामग्री से भरे रहता है। धरमदास ने इन्हीं कोठारों से व्यापारियों के माल लादने का उल्लेख किया है।[3] लेन-देन के हिसाब की चिट्ठियाँ होती थीं, जिनमें इस बात की लिखा-पढ़ी रहती थी कि किस व्यापारी के ऊपर कितना हिसाब आता है और जब हिसाब का भुगतान हो जाता था तब यह चिट्ठी फाड़ दी जाती थी। कभी-कभी व्यापारी साहूकार का ऐसा कर्जी रहता था कि उससे बेबाक़ हो कर मुक्ति का अनुभव करता था—'सौदा करत बहुत जुग बीते दिन-दिन तूटी आई। अब की बार बेबाक भगे हम जम की तलब छुड़ाई।'[4]

तुलसी साहब के समय में सम्भवतः व्यापार की स्थिति चोर-लुटेरों के कारण अधिक अव्यवस्थित हो गयी थी। उनके अनुसार सेठ की माल की भरती करके गाड़ियों में लादकर जब रवाना होता है, तो नौ कोस पर ही डाकू और लुटेरे उसे घेर कर लूट लेते हैं और व्यापारी को जञ्जीरों से बाँध देते हैं।[5] यहाँ तुलसी साहब ने बनजारे के लिये 'सेठ' शब्द का प्रयोग किया है और लदान के लिये गाड़ियों का उल्लेख किया है। तुलसी के समय तक यह परिवर्तन महत्वपूर्ण है। इनके समय के व्यापारी तत्कालीन परिस्थिति के कारण माल खरीदने में और सौदा भरने में अत्यधिक सतर्क हैं। वे अपनी कमर में रोकड़ बाँधकर रखते हैं। वे लाभ देखकर माल बेचते हैं, दाम

१—क० ग्रं०, पृ० २६;५७ : क० बीजक, पृ० २०३;३६ : रवि० का० (ज्वालापुर) पृ० १२५;७२, १०८;२८ : गु० ग्रं०, पृ० १५५;१३ : वही०, पृ० १४०;६ : वही०, पृ० १६५;४५. २—धरम० बा०, पृ० ४३; ४९ : बषना० बा०, पृ० ६५; २८. २ : बुल्ला० बा० भु०, पृ० ८०; २३८. ३—दूलन० बा०, पृ० २४;४ : धरम० बा०, पृ० ७; ४. ४—मलूक० बा०, पृ० ८;५. ५—तु० घ० रा०, पृ० ३३७;६.

घटते देखकर माल रोक लेते हैं और दिसावर भेज देते हैं। लाभ की दृष्टि से दिसावर का माल भरते हैं।[1]

व्यापार की सामग्री—व्यापार में जिन वस्तुओं का मुख्यतः यातायात होता था उनमें अनेक प्रकार की वस्तुएँ सम्मिलित थीं। इब्नेबतूत के अनुसार उसकी चीन यात्रा के समय समुद्री तटों पर नौकाओं और जहाजों से नारियल, काली मिर्च आदि का व्यापार होता था। डॉ० ओझा ने इस काल के व्यवसाय और व्यापार पर विचार करते हुए लिखा है कि रेशम, छींट, मलमल तथा भिन्न प्रकार के वस्त्र और मोती, हीरे, मसाले, मोरपङ्ख तथा हाथी दाँत आदि विदेशों में अधिक जाते थे। इनमें भी सर्वश्रेष्ठ व्यवसाय मलमल, छींट, शाल तथा रङ्गीन कपड़ों का था ममालिक-अल-अबसार के साक्ष्य पर कहा गया है कि देश-देश के व्यापारी भारत में स्वर्ण लाते थे और बदले में जड़ी-बूटियों की वस्तुएँ ले जाते थे।[2]

सन्तों ने अपने युग के व्यापार के विषय में जो सन्दर्भ प्रस्तुत किये हैं, उनमें अधिक सामग्रियों के नाम नहीं हैं। कपड़ा के उद्योग के बारे में सन्तों ने जो विस्तृत चर्चा की है उससे उसके व्यापार की सम्भावना को भी ग्रहण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सन्तों ने सुगन्धित द्रव्यों (परिमल), कस्तूरी, सुपारी, लौंग, पोस्ता, राई, हींग, गुड़ का विशेष उल्लेख किया है।[3] वस्तुतः सन्तों की दृष्टि रूपकों तथा प्रतीकों पर विशेष रूप से रही है, इस कारण केवल ऐसी ही सामग्री का उल्लेख उन्होंने किया है जिनका सन्दर्भ आ सकता था।

दूकानदार और बाजार—बनिया—अभी तक व्यापार के सम्बन्ध में बनजारा, अढ़तिया तथा साहूकार का उल्लेख किया गया है। यह अवश्य है कि

१—तु० रत्न सा०, पृ० २७, २८ : वही०, पृ० ३२; २ : वही०, पृ० ३२; ३. २—तु० का०, भा० १, पृ० भूमिका द : म० भा० सा० डॉ० ओझा, पृ० १३२ : म० यु० इ० डॉ० ई० प्र०, पृ० ५२२. ३—क० ग्र०, पृ० १८७ २९१ : बषना०, पृ० १०३; १०९ : धरम० बा०, पृ० ७; ४ : गुलाल० बा० भु०, पृ० ४८०; १२९९ : क० बीजक, पृ० ५१; ३४ : यारी बा०, पृ० ५; १७ : दरि० मा०, पृ० ३०; ४ : पलटू० बा०, भा० १, पृ० १०६; २३८.

बनजारे या व्यवसायी अपने काफलों के रास्ते में हाट लगाकर अपनी वस्तुओं को अनेक बार बेच दिया करते थे। परन्तु बाजारों में खरीदारों के हाथ सीधे माल बेचने वाले दूकानदारों की स्थिति इनसे भिन्न है। इस प्रकार के दूकानदार को सन्तों ने प्रायः बनिया कहा है। यह व्यवसायी अपने भण्डार अथवा कोठी को विविध प्रकार की वस्तुओं से भरता है। फिर यह हाट में अपनी दूकान (बयठकी) लगाता है और लेन-देन करता है। इसकी कोठी में माल सदा भरा रहता है और वह तौलने के लिये तखरी (तराजू) में डोरी लगाता है।[1] हाट की अपनी दूकान पर तराजू की डांड़ी पकड़कर दोनों पलड़ों से तौल करता है। उसकी दूकान में अन्न की ढेरियाँ लगी रहती हैं। पलटू के अनुसार कभी किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति की सिफ़ारिस से इसको मोदीखाने के अधिकारी का पद मिल जाता है।[2] सन्तों की व्यवसायियों के प्रति अच्छी धारणा नहीं रही। उनके अनुसार पासंग मारना उनका स्वभाव है। वे तराजू में बाँटों से तौलने में इस प्रकार बाँट आदि खिसकाने में अथवा डाँड़ी मारने का कौशल करते हैं कि तौल घट जाती है। परन्तु पलटू का यह भी विश्वास हैं कि ऐसे दूकानदार को ग्राहक छोड़ देते हैं। चतुर दूकानदार ग्राहक को एक वस्तु माँगने पर दूसरी भी दिखाता है और इस प्रकार उसे अपनी वस्तुओं को खरीदने के लिये आकर्षित करता है। वह बिना वायदा के सामान उधार देता हैं और सभी से लेने का आग्रह करता है। सबसे अच्छा मीठा व्यवहार करता है और क्षमा भाव के साथ पूरे बाँटों से सौदा तौलता है। वह अपना उत्कृष्ट कोटि का माल ढेरियों में सजाकर रखता है और ग्राहक के आने पर बिना भावताव के तौलने लगता है। वस्तुतः पलटू के अनुसार ऐसा व्यसायी ही सफल होता है।[3]

इन व्यवसायियों की नैतिकता के दोनों ही स्तर इस युग में पाये जाते होंगे। एक ओर सन्त धोखा देने वालों, जाल करने वाले तथा कम तौलने वाले बनियों की चर्चा करते हैं, तो दूसरी ओर व्यवसायिक आदर्श की चर्चा भी करते हैं। पलटू के अनुसार कलयुग अर्थात् समकालीन जीवन में ऐसे

१—धरनी० बा०, पृ० १६; ६ : गुलाल० बा० भु०, पृ० ३५२; ८९५: २—पलटू० बा०, भा० ३, पृ० ३१; ६९ : वही०, पृ० ३८; ८१. ३—पलटू भा० १, पृ० ७७; १९७ : वही०. पृ० ८७; २२३ : पलटू०, भा० ३, पृ० ४४; ९३ : वही०, भा० ३, पृ० ७३; १३१.

व्यवसायी हैं जो सस्ता अनाज खरीद-खरीद कर भर लेते हैं और जब मँहगी होती है, तो चौगुने दाम में बेच देते हैं। ये लोग कसब के समान व्याज का काम करते हैं और भक्ति का ढोंग पालते हैं। छः-सात टके की पगड़ी उतार कर ये साठ रुपया का दुसाला कमा लेते हैं। इसी प्रकार दरिया (वि०) का कहना है कि ये व्यवसायी अपने कारबार को हर प्रकार से बढ़ाते ही जाते हैं। वे सभी प्रकार की नीति तथा कौशल का प्रयोग करके तीन, पाँच, पन्द्रह, तीस, साठ, सौ बढ़ाते-बढ़ाते हजारों पैदा कर लेते हैं; फिर साहूकार बनकर टेढ़ी पगिया बाँध कर बाजार में घूमते हैं और इनके साथ अन्य बजार के लोग (बजारी) लगे रहते हैं। रात-दिन उनकी बढ़ती होती जाती है और अन्ततः वे लखपती साहूकार कहलाने लगते हैं। दरिया के अनुसार इनको भी चोर तथा डाकुओं और हाकिमों से लुटने का भय बना रहता था।[1] इसके साथ ही सन्तों ने अपने युग के व्यावसायिक आदर्श को भी व्यञ्जित किया है, जिसके अनुसार वही साहूकार या बनिया सुखी हो सकता है जो 'पूरी तौल' करता है। जो तृष्णा या लोभ से तौल में धोखा करते हैं, उनका जन्म निरर्थक जाता है। कम तौलने वाला महाजन उनकी दृष्टि में ठग ही है। वरन् इसकी चोरी तो अधिक अपराध है—'परगट चोर चोहट्टे बैठा वाण्या भाण मारे'। यह तो खुले आम धोखा देता और ठगी करता है। ऐसे दूकानदारों से सन्तों के अनुसार व्यवहार नहीं करना चाहिये जो माल लेता है तो ठीक तौलता है, पर देते समय कम लौटाता है।[2]

तौल—सन्त दूकानदार (बनिया) की तौल-नाप की पद्धति से पूर्णतः परिचित हैं। वे अपने रूपकों में तराजू जिसको **तखरी** भी कहते हैं, **नकुनियाँ** तराजू की डण्डी के दोनों ओर के सिरे, **तनियाँ** तराजु की डोरी जिसकी गाँठ नीचे लगी रहती है, **पलड़ा** जिनमें से एक में बाँट रहते हैं और दूसरे में वस्तु, और **डाण्डी** का उपयोग किया है। मलूकदास **रासि** शब्द का प्रयोग भी करते हैं—'कहत मलूकदास तौले जब चार रास', जिसका अर्थ तराजू के

१—पलटू० बा०, भा० २, पृ० ६८; २९, ३० : दरि० (वि०) अनु० पृ० १४४; १९. ७०. २—दरि० (अनु०) पृ० १४०; १८. ४६ : गुलाल० बा० भु०, पृ० ५१; १४२, २२७; ५६६ : रामचरण बा०, पृ० १३७; १२.

द्वारा तौलने की संख्या से है।[1] कबीर के अनुसार तराजू की डाण्डी और पलड़े व्यवसाय के प्रतीक हैं। और तुला का आदर्श है—'न मासा घटे न तिल बढ़े' क्योंकि पासंग की रक्षा करना व्यवसायी का कर्त्तव्य है। तौल में एक माशा का घटना भी उचित नहीं है। अर्जुन देव कहते हैं कि 'तुलाधार' तौलने में ही व्यवसायी का सम्पूर्ण सुख है।[2]

इस काल में अनाज आदि की तौल के लिये सेर, पंसेरी तथा मन का प्रयोग होता था और सूक्ष्म तौल के लिये तोला, माशा तथा रत्ती का प्रयोग किया जाता था। प्रायः ८० तोले, सोलह छटाँक या चार पाव का सेर माना गया है तथा चालीस सेर का एक मन और पाँच सेर की एक पंसेरी चलती रही है। कभी-कभी इन तौलों में अन्तर भी किया गया है, जैसे अलाउद्दीन के समय चौबीस तोले का सेर प्रचलित हुआ था। भारतीय अपनी नाप-तौल के सम्बन्ध में बहुत सतर्कता बरतते थे। इनकी तौल में एक बाल के बराबर का भी अन्तर नहीं होता था। इसी प्रकार नाप के लिये गज या हाथ का प्रयोग किया जाता था और इनकी माप अंगुलियों से भी होती थी।[3] सन्तों ने रत्ती, माशा तथा तोला का प्रयोग किया है। "माशा मागे रत्ती न देऊ, घटे मेरा प्रेम तो कासनि लेऊ'—(क० ग्र०, पृ० २१२:३७१)। उन्होंने चार माशा अर्थात् तिहाई तोला की एक तौल **टांक** भी मानी है। "टांक बिने नहीं मोल कुं जो तुले न तोला"—(गरी० बा०, पृ० २०१:२)।[4] इसके अतिरिक्त पाँच सेर की पँसेरी तथा चालीस सेर के मन का उल्लेख किया गया है।[5] नाप के सम्बन्ध में सन्तों में अंगुल, हाथ और गज के संदर्भ मिलते हैं।[6]

हाट, बाजार या पैंठ—मध्यकाल में हाट, बाजार की व्यवस्था समुचित थी। नगरों में प्रमुख स्थानों पर बाजारें होती थीं। ये स्थायी बाजारें राजप्रासाद के समीप अथवा प्रमुख चौराहों पर हुआ करती थीं। ये एक सुनिश्चित व्यवस्था के अनुसार बनाये जाते थे और इनमें शानदार महराबें तथा गैलरियाँ होती

१—मलूक० बा०, पृ० २५; ७. २—गु० ग्र०, पृ० १४७; १ : वही०, पृ० १७०; ५७. ३—खि० का० भा०, पृ० २०३; १५५ : ला० ए० क० आ० हि०, पृ० ११० : उ० म० का० भा०, पृ० ४०७, ४—गु० ग्र०, पृ० १७०:५७ (रामदास) : रज्जव० वा० पृ० २४२; ३. ५—क० बीजक पृ० ३१२; ४ भी० बा० भु०, पृ० १३२; ३७१ : दरि० बि०, पृ० १४०; १८. ४९. ६—क० ग्र० पृ० २५१:३२; वही०, पृ० १५३; १९३.

थीं। कबीर ऐसे ही बाजार को दृष्टि में रखकर कहते हैं। "चोपड़ि मांडी चोहट्टे अरध उरध बाजार।"[१] ऐसे सुन्दर बाजारों में बहुत ही आकर्षक (स्वर्गीय) वस्तुओं को खरीदने के लिये पारखीजन एकत्र होते थे। इनमें मँहगे दामों की वस्तुएँ हीरा, जवाहरात, माणिक्य तथा अन्य अनेक प्रकार की सामग्री व्यवसायी बेचते थे। पुर और पहनों की पेठों में हीरे-माणिक्य की दूकानों पर अपना सर्वस्य देकर भी धनी लोग सौदा करते थे। "पुर पहन की पेठ में सतगुरु ले गया मोय। सिर साटे सौदा हुआ अगली पिछली खोय।"—(गरीब० बा०, पृ० १५;६८) इनमें लाख रुपयों की अँगूठी और लाख रुपये का हार बिकता था। ऐसे बाजार गढ़ों (किलों) में भी होते थे।[२] वस्तुतः सन्तों के द्वारा प्रस्तुत इन सन्दर्भों में मध्यकाल के समृद्ध बाजारों का सङ्केत है जिनकी व्यवस्था बादशाह की ओर से की जाती थी और व्यापार में अनुचित व्यवहार करने वालों को कड़ी सजाएँ दी जाती थीं। मुगलकाल में हीरा, जवाहरात तथा जड़ाऊ-गहनों का व्यापार करने वाले जौहरियों के बाजार भी प्रसिद्ध थे।[३]

मध्यकालीन भारत में गांवों में सप्ताह में एक या दो बार छोटे-छोटे बाजार लगाये जाते थे जो पेठ कहलाते थे। इन बाजारों में बनिया अपना सामान लाकर दूकान के रूप में फैला देता था और बिक्री के बाद दूकान उठाकर ले जाता था। बनिया दूकान भाड़े पर भी ले लिया करते थे। कभी-कभी तत्कालीन तथा स्थानीय अव्यवस्था के कारण दूकानें लूट ली जाती थीं और शिकायत करने पर भी हाकिम ध्यान नहीं देता था। सन्तों ने एक ओर तो व्यवसाय के इन केन्द्रों में कपट और भ्रम का विस्तार माना है। "सदा करहु व्यापार कपट के धरम बजार पसारे" तो दूसरी ओर आदर्श की घोषणा भी की है कि व्यापार में सिद्धि तथा लाभ प्राप्त करने के लिये व्यवसायी को लोभ और खोट से बचना चाहिये।[४]

१—म० यु० इ० डॉ० ई० प्र०, पृ० ४२१ : क० ग्र०, पृ० ४; ३१ २—क० बीजक, पृ० ३६७; ९, ३९६; १७० : दा० ब०, भा० १, पृ० २०; ३८ : गु० ग्र० बा०, पृ० ४६५; १ (नानक) : वही० पृ० १०५१; १३. ३—खि० का० भा०, पृ० ८५, ८६ : उ० ते० का०, भा० १, पृ० ११४ : जहा० आ० क०, पृ० ३३८. ४—ला० ए० क० आ० हि०, पृ० १९६ : क० ग्र०, पृ० १२१; १०३ : गरीब० बा०, पृ० १५७; ७ : मलूक० बा०, पृ० २५; ७ : भी० बा० भु०, पृ० ९२; २६३ : मलूक० बा०, पृ० १९; ६:

साहूकारी या महाजनी—साहूकार—समाज के निम्नस्तर तथा निर्धन वर्ग से सम्बन्ध होने के कारण सन्तों का तो अपने युग की महाजनी व्यवस्था से पर्याप्त परिचय था और न उन्होंने अपने काव्य में इस प्रकार सन्दर्भ प्रस्तुत किये हैं। जो सन्दर्भ आये है उनसे उनका केवल सामान्य ज्ञान व्यक्त होता है। वे पूंजी लगाने वाले साहूकार से परिचित हैं। यह साहूकार व्यवसाय करने में व्यापारियों को धन की सहयता देता है और उसी के आश्रय पर व्यापारी गाँठ में बिना पर्याप्त पैसा रखे लाखों का व्यापार करता है। इसको 'दरबी' भी कहा गया है। कर्ज देने वाले दोहरा का उल्लेख सन्त-काव्य में मिलता है, जो वस्तुतः व्याज पर रुपया देने वाली एक जाति है। यह साहूकार बहुत सम्पन्न होते थे और मणि-मुक्ताओं का उपयोग करते थे। कभी-कभी व्यापारी इनकी पूंजी को गँवा भी देते थे।[1] ये महाजन तत्कालीन बैङ्कों का काम भी करते थे, क्योंकि इनकी सम्पत्ति की साख देश में चलती थी। इनके खातों मे दूसरों का रुपया जमा रहता था और इस रोकड़ के आधार पर अन्य नगरों में व्यापारी व्यवसाय कर सकता था।[2] ये साहूकार हुण्डियों का भुगतान भी करते थे। वस्तुतः इनके द्वारा व्यवसाय के क्षेत्र में आधुनिक बैङ्किग व्यवस्था का बहुत सा कार्य सम्पादित होता था।[3] जौहरी और सर्राफ सोना, चाँदी, हीरा और जवाहरात के व्यापारी होने के साथ ही इस कार्य के भी एक सीमा तक सहयोगी थे। सोना, चाँदी तथा बहुमूल्य रत्नों की परख के कारण तथा उनके व्यापारी होने के कारण उस युग की मुद्राएँ नियन्त्रण और प्रचलन में एक सीमा तक इनका भी हाथ था। (द्र०—चतुर्थ प्रकरण)।

व्याज—रुपया या पूंजी व्याज पर उधार लीं जाती थी। इस्लाम धर्म में सूद लेना हराम माना जाता है, परन्तु व्यवसाय, वाणिज्य तथा आर्थिक-

---

१—दा० बा०, भा० १, पृ० १४४; ११२ : क० बीजक, पृ० ४९; ३२ : क० ग्र०; पृ० १२२; १०८ : बखना० बा०, पृ० १६१; ११ : पा बो०, पृ० ९२; २ : सु० वेद, पृ० ६६; २ : हरि पुरुष बा०, पृ० १९९; ३१. २—तु० रत्न सा०, पृ० ७४, ७५. ३—चरण बा०, पृ० ३३; ७ (भा० २) गरीब० बा०, पृ० ७३; २२ : ला० ए० क० आ० हि०, पृ० १०८.

व्यवस्था में उधार और व्याज के बिना काम नहीं चल सकता था। कबीर के अनुसार ऐसे लोभी संन्यासी भी उनके समय में हैं जो पैसा जोड़कर व्याज पर चलाते हैं। धन की वृद्धि व्याज से होती है। उधार लेने वाले को कागज लिखना पड़ता था जो एक प्रकार का शर्तनामा होता था। कभी-कभी व्याज न दे पाने के कारण देना इतना बढ़ जाता था कि उसको अदा करना कठिन हो जाता था।[1] ऐसी स्थिति में साहूकार का मूलधन भी नष्ट हो जाता था। इस उधार की रकम को साहूकार बही में दर्ज रखता था और व्याज का लेखा करता था। अधिक सवाया तथा ड्योढ़ा व्याज लेने वालों को अपनी युग की भावना के अनुसार सन्त अच्छी दृष्टि से नहीं देखते। इसी कारण वे व्याज के लोभ में मूलधन के डूबने की प्रायः चर्चा करते हैं।[2] उधार के लेनदेन में महाजन **पट्टा** भी लिखा लेता था, जिसका अर्थ है कि पूंजी के बदले में स्थावर सम्पत्ति के उपयोग करने का अधिकार वह पूंजी अदा करने के समय तक प्राप्त कर लेता था। झूठा पट्टा लिख देने पर उसके हाथ से पूंजी निकल भी जाती थी अथवा झूठा पट्टा लिखाकर महाजन अपने देनदार को फँसा भी लेता था। "झूठा पट्टा लिखाइया खरा न आवे हाथि।"[3]

मुद्रा—किसी भी सभ्य-समाज में व्यवसाय और उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिये मुद्रा का उपयोग महत्वपूर्ण होता है। मध्ययुग में धन के अन्तर्गत मुद्रा की स्थिति भी निश्चित थी। वैसे धन के निश्चित मूल्य निर्धारित करने वाले तत्वों में धातु के रूप में सोना तथा चाँदी का महत्व उस युग में भी स्वीकृत था, परन्तु हीरा और जवाहरात आदि बहुमूल्य रत्न तथा मोती भी धन के स्थायित्व के आधार के रूप में प्रचलित थे। सन्तों ने सोना, तथा चाँदी को इस रूप में स्वीकार किया है। "सुइना, रुपा, रंगुला मोती ते माणिकु जीव" अथवा "ताजी तुरकी सुइना रुप्पा कपड़ केरे भारा।" इस प्रकार ये सोना चाँदी को धन के मौलिक आधार के रूप में स्मरण करते

१—क०, ग्र०, पृ० ३६; ७ : क० बीजक, पृ० ६८; ५५ : क० ग्र०, पृ० १२२; १०८. २—क० ग्र०, पृ० २३; २५ : वही०, पृ० ३६; ७ : दरि० बि० अनु०, पृ० १४१; १८, ५३ : रामचरण बा०, पृ० ८५; २२ : पलटू० बा०, भा० १, पृ० २५; ५३. ३—सं० कबीर, पृ० १३२; ३ : धरम० बा०, पृ० १०; २ : हरि० पु० बा०, पृ० १४४; १२.

हैं। मुद्रा का आधार भी इन्हीं को माना गया है। "सोने की सलैया नाहीं, रुपे का रुपेया नाहीं।"[1]

सोना-चाँदी की मुद्राओं में मुख्यतः सन्तों ने **मोहर** और **रुपया** का उल्लेख किया है।[2] इस काल में शेरशाह सूरी के पूर्व चाँदी का सिक्का तनका कहलाता था। सर्वप्रथम रुपया उसी ने चलाया और इसका प्रस्तुत रूप में प्रचलन अकबर ने किया। उसके समय में गोल मोहर इलाही और चौकोर लाल-जलाली मोहर कहलाती थी। सन्तों को गोल और चौकोर सिक्कों का परिचय था—"कीये रुपया इकट्ठे चौकुरे अरु गोल"।[3] इनके अतिरिक्त सर्वाधिक प्रचलित सन्तों के अनुसार इस काल का सिक्का पैसा है। मध्यकाल में पहले जो ताँबे का सिक्का चलता था वह जीतल कहलाता था और चौसठ जीतल का एक तनका प्रायः होता था। शेरशाह के राज्य में इसको **दाम** कहा जाने लगा, इस दाम से सन्तों का परिचय है। परन्तु सम्भवतः आगे चलकर पैसा का प्रचलन अधिक हो गया, इसी कारण सन्तों में पैसा अधिक व्यवहृत है।[4] पैसे के भाग के रूप में **धेला** और दमड़ी का प्रचलन भी रहा है—"धेला छः दमरी हद पैसे का व्यवहार"—(दूलन०बा०, पृ०४०;१४)। वस्तुतः दमड़ी दाम से सम्बद्ध होकर भी पैसा के एक छोटे से अंशका प्रतिनिधित्व करती थी—"ज्यूँ किरपन को दमरी ऐसे सन्त कु राम पिआरे"—(चरणदास बा० भा०, पृ०९०;२)। इनके साथ दो पैसे के **टका** का भी प्रचलन रहा है—"पगरी धरा उतारि टका छः सात का"—(पलटू० बा०,भा० २,पृ०८१;३१)।

टकसाल—मुद्रा के प्रचलन के साथ राज्य को टकसाल की व्यवस्था पर दृष्टि रखनी होती है। इस काल के बादशाहों ने टकसाल की समुचित व्यवस्था रखी है। कभी-कभी मुद्रा के इस महत्वपूर्ण पक्ष पर दृष्टि न रखने

१—गु० ग्र०, पृ० ७६२;१ (नानक) वही० पृ० १५५;४ (नानक) मलूक० बा०, पृ० २६;८. २—सु० ग्र०, भा० १, पृ० ३१५;५: रामचरण, पृ० ४६६;२१ : मलूक० बा०, पृ० २६;८ : पलटू० बा०, भा० २, पृ० ८१; ३१. ३—ला० ए० क० आ० हि०, पृ० ३४० : खि० का० भा०, पृ० ४३ : सु० ग्र०, भा० १, पृ० ३१५;५. ४—मु० का० भा०, भा० १, पृ० ३९१ : तु० का० भा० भा०, पृ० ४३, १४९ : जहाँ० आ० क०, पृ० १६८ : मु० का० भा०, भा० २, पृ० २२९ : क० ग्र०, पृ० ३६;७ : दूलन० बा०, पृ० ४०;१४ : मलूक० बा०, पृ० २६;८.

के कारण बादशाहों को कठिनाई का सामना भी करना पड़ा है। मुहम्मद तुगलक ने जब ताँबे का सिक्का चालाया तो उसे ऐसी ही कठिनाई का सामना करना पड़ा था।[१] सन्त टकासालों में सोना, चाँदी तथा ताँबा को गलाकर सिक्का ढालने या गढ़ने की प्रक्रिया से परिचित हैं। वे उन पर विविध छापों (चित्र, लेख तथा सन्, सम्वत् आदि) के डालने की पद्धति का निर्देश भी करते हैं।[२]

कौड़ी—सन्तों का सम्पर्क सामान्य लोक-जीवन से मुख्यतः रहा है। इस सम्पूर्ण काल में लोक-जीवन का स्तर आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त साधारण था। सामान्य-जनों का जीवन का स्तर निम्न था और वस्तुओं का मूल्य बहुत सस्ता था। स्वभावतः मुद्रा का मूल्य यहाँ तक बढ़ा हुआ था कि राज्य के द्वारा प्रचलित छोटे से छोटे सिक्के का व्यवहार करना भी अपनी साधारण आवश्यकताओं के लिये उनके लिये सम्भव नहीं था। सिक्के का प्रचलन भी कम था। ऐसी स्थिति में कौड़ी का व्यवहार भी इस युग में पर्याप्त जान पड़ता है। यह अवश्य है कि विनियम की दृष्टि से कौड़ी का मूल्य बहुत कम था, फिर भी समाज के व्यवहार में इसका महत्वपूर्ण स्थान स्वीकार किया जा सकता है। कबीर हीरा से कौड़ी बदलने वाले पारखी का आध्यात्मिक सन्दर्भ में उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार बदले में कौड़ी देने, कौड़ी-कौड़ी जोड़ने आदि के अनेक सन्दर्भ सन्त काव्य में एकत्र किये जा सकते हैं।[३]

हीरा और मोती—प्रारम्भ में ही कहा गया है कि इस काल में बहुमूल्य रत्नों तथा मोती आदि को धन के स्थायी आधार के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है। इनका इस काल में बहुत अधिक प्रचलन रहा है। अच्छे से अच्छे तथा बहुमूल्य रत्नों की चर्चा रही है।[४] पिछले प्रकरण में 'मरजिवा'

१—तु० का०, भा० १, पृ० ४३ वही०, भा० २, पृ० १३९. २—रज्जब० बा०, पृ० १६१;४ : पलटू० बा०, भा० १, पृ० १००;२५६. ३—क० ग्र०, पृ० ७७;४८ : वही०, पृ० ७८;४९ : क० बीजक, पृ० ४०३;२०९ : गु० ग्र०, पृ० ८९२; १ (अर्जुन) वही०, पृ० ५४७;८ : वही०, पृ० ६१४;२२ : दा० बा०, भा० १, पृ० ६५;१११ : रज्जब० बा०, पृ० ४८;६९ : सु० वि०, पृ० ३०;२० : पलटू० बा०, भा० १, पृ० २०;४३. ४—उ० म० का० भा०, पृ० २३ : हुमायूँनामा, पृ० ३५, ६५, १३० : बा० हुमायूँ, पृ० ५० : जहाँ० बा० का०, पृ० ३१७, ३२२, ३४३, ३८४, ४६२;४७२ और ४९४.

के द्वारा समुद्र से मोतियों की सीपियों के निकालने का उल्लेख किया जा चुका है। सन्त मोती निकालने की इस प्रक्रिया से भली-भाँति परिचित हैं। इसी प्रकार हीरा अथवा रत्न के बहुमूल्य होने का ज्ञान भी उनको है, जिसका उपयोग इन्होंने अपने आध्यात्मिक सन्दर्भों में किया है। परन्तु इससे अधिक इनका ज्ञान इस विषय में नहीं है, यह भी स्पष्ट है। यही कारण है कि हीरा तथा रत्न के अतिरिक्त अन्य नामों का प्रायः अभाव है। कबीर जब कहते हैं—"हीरा तहाँ न खोलिये, जहाँ कुजरों की हाट", तब हीरे की बहुमूल्यता की स्पष्ट होती है। रज्जब अब कहते हैं हीरा दीपक की भाँति चमकता है।[1]

यातायात के साधन—सन्तों के काल में यातायात के दो प्रमुख मार्ग थे—एक तो सड़कें और दूसरे नदियाँ। बनजारों के विषय में चर्चा करते समय इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि इनके काफिले प्रमुखतः बैलों पर और इसके अतिरिक्त गदहा, खच्चर और ऊँट आदि पर अपना माल इधर से उधर ले जाते थे। परन्तु इस काल में यातायात के विविध साधनों में घोड़ा, हाथी, रथ तथा पालकी या डोला का प्रयोग विशेष रूप से किया जाता था। लोगों के पास सजे हुए रथ रहते थे जिनमें से कितने काम कर्म तथा सोने के मुलम्मे से सज्जित होते थे। इन रथों में दो पहिये होते थे और इन्हें दो बैल खींचते थे। घोड़े के साथ लोग टट्टू की सवारी भी करते थे। हाकिमों को सौगात में लोग तुर्की और इराकी घोड़े बाहर से लाकर देते थे। कहीं-कहीं गद्देदार रथों का प्रयोग भी होता था जो घर के कमरे की भाँति सुरक्षित रहते थे। थोड़े रास्ते के लिये डोला कर लिया जाता था जो पालकी की तरह बाँस काँधे पर रखकर ले जाया जाता था; जिसे आठ कहार ले जाते थे जो बारी-बारी से बोलते रहते थे। पालकी का प्रयोग अहीर लोग करते थे।[2]

१—क० बीजक, पृ० ३३६; १६८ साखी से १७१ तक : रवि० उ० का० (ज्वालापुर) पृ० ६५; १ : रज्जब० बा०, पृ० २५५; १६ : दरि० (वि० अनु०) पृ० ३५; २. १६ : दरि० मा०, पृ० २४; ५ : गुलाल० बा० भु०, पृ० २४५ : ५८७ : रामचरण बा०, पृ० १६२; १६ : पलटू० बा०, भा० ३, पृ० ४६; ८१. २—उ० ते० का० भा०, भा० १, पृ० १५५ : म० का० भा० सं०, पृ० ४१ : (अकबर) पृ० २१०, जहां० आ० क०, पृ० ४२८ : ला० ए० क० आ० हि०, पृ० १७४.

इब्नेबतूता ने इस विषय में लिखा है—"डोला या पालकी छोटी चारपाई के समान होती है और रेशम के धागों से बुनी जाती है। इसके ऊपर ठोस बांस की एक लकड़ी लगी रहती है जिसे आठ आदमी आगे-पीछे होकर उठाते हैं। स्त्रियों के डोले पर परदे पड़े रहते हैं।" इसी प्रकार "वाक़आते मुश्ताक़ी" के अनुसार मध्यकाल में अधिकतर यात्रा डोले या पालकी में होती थी।[1]

सन्तों ने अपने युग के इन सब यातायात के साधनों की चर्चा की है। कबीर सांडनी (ऊँटनी) की सवारी का उल्लेख करते हैं :—"जम की सांड़ सवारी"। रैदास के अनुसार रथ का हाकने वाला चतुर सारथी होना चाहिये। नानक बैलों के द्वारा चलाई जाने वाली लकड़ी की गाड़ी की भी चर्चा करते हैं, जो यदि टूट गई तो जलाने के काम आती है। अर्जुनदेव सवारियों में ताजी और तुषार (घोड़ा) हाथी तथा रथ की चर्चा करते हैं। दादू ने गाड़ी के पहिये की उस कील का उल्लेख किया है जिस पर वह घूमता रहता है। रज्जब रथ के न चलने वाले मट्ठर बैलों से परिचित हैं।[2] गरीबदास कोतल घोड़ा, सज्जित रथ और गज के अतिरिक्त पालकी तथा पीनस की चर्चा भी करते हैं। रामचरण ने इनके साथ बहल का उल्लेख किया है, जो एक प्रकार की छोटी गाड़ी होती है। तुलसी साहब ने ऊंट गाड़ी के द्वारा सामान ढोये जाने का सन्दर्भ दिया है।[3]

इस काल में कन्या की बिदाई तथा स्त्रियों की सवारी में डोली तथा पालकी का विशेष उपयोग होता था। डोली पालकी की अपेक्षा छोटी सवारी है।

कबीर के अनुसार "डोली में सूत से बुना हुआ खटोला लगाया जाता है और उसे कहार ढोते हैं। उसके ऊपर ढकने के लिये ओहार डाला जाता है। ऐसी सुसज्जित डोली पर नैहर से जाते समय बहुत दुःख होता है"। धरमदास ने डोली पर चार कहारों के उपयोग का उल्लेख किया है। इनके अनुसार

१—तु० का० भा०, भा० १, पृ० २३७ : वही०, पृ० १५५. २—क० बीजक, पृ० २०३;५६ : रवि० उ० का०, पृ० १२७, ४८ : गु० ग्र०, पृ० ८७८: ११ : वही०, पृ० ६९९,४ : दा० बा०, भा० १, पृ० १०४. २० : रज्जब० बा०, पृ० २८, ४३. ३—गरीब बा०, पृ० १३९;७ : रामचरण बा०, पृ० २६७;२७ : तु० सा० बा०, पृ० २६३;२.
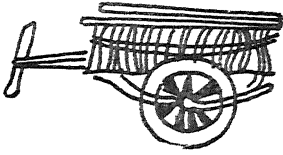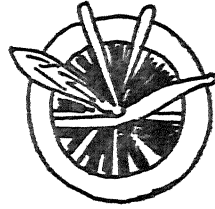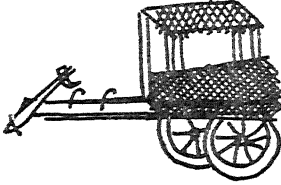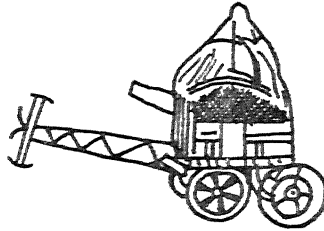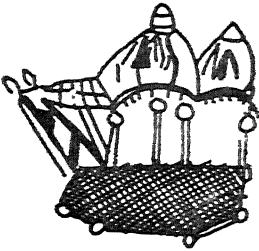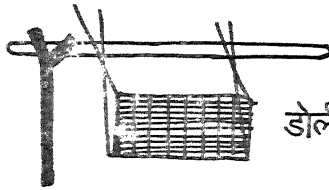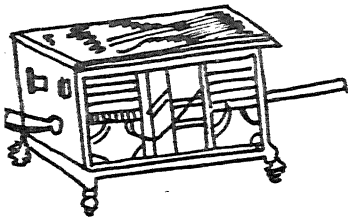
गाड़ी
पहिया
रथ
पालकी
डोली
म्याना (पालकी)
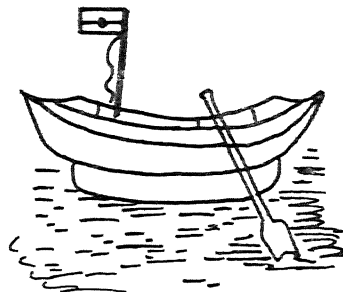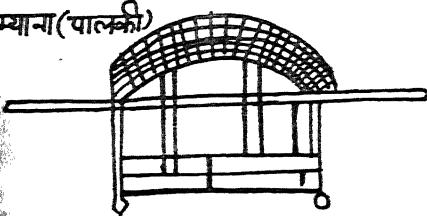
पालकी में अन्दर गलीचा आदि बिछा रहता है, तकिया लगा रहता है और ऊपर से लाल ओहार उढ़ाया जाता है। ऊपर ढोने के लिये डोरियों से बाँस लगाया जाता है।[1] वषना वधू के विदाई की पालकी को पुष्पों तथा कमलों से सज्जित बतलाते हैं। बुल्ला साहब बैरिन नन्द के द्वारा दिये गये काठ के डोले का जिक्र करते हैं। डोला प्रायः निर्धनों के द्वारा प्रयोग में लाया जाता था, इसी कारण इसमें आसन काठ का होता था और किसी प्रकार की सज्जा भी नहीं होती थी। पलटूदास पालकी के साथ सुखपाल (खुली पालकी) का उल्लेख भी करते हैं।[2]

नदियों के मार्ग से यातायात के साधन के रूप में नावों तथा जहाजों का उपयोग किया जाता था। नदियों के मुहानों में काफी ऊपर तक जहाज आ जा सकते थे। इसके अतिरिक्त जहाजों से समुद्री तटों तथा विदेशों को (एक सीमा तक) आना-जाना होता था। नदियों को पार करने के लिये भी नौकाओं की आवश्यकता होती थी। मुगलों के समय सुन्दर नावों को रखने और उनको सजाने का प्रचलन था। नावों में कई मञ्जिलें होती थीं और चल-उद्यान भी लगाये जाते थे। जहाँगीर के समय बनारस तक विदेशी लोगों की नावें अधिक संख्या में दिखाई देने लगीं थीं।[3]

सन्तों ने नाव, बेड़ा, डोंगी का प्रयोग अपने काव्य में किया है। कबीर उपदेश देते हैं जर्जर बेड़ा को देखकर आरोही को उतार कर दूर खड़ा हो जाना चाहिये। यहाँ बेड़ा का अर्थ बाँसों को बाँधकर बनाई हुयी नाव से है। ये नावों के द्वारा किये जाने वाले व्यापार से परिचित हैं—"लोह नाव पाहन भरी बूड़त नाहीं वारो रे" डोंगी हल्की और छोटी नाव है, इसी कारण रैदास डोंगी की सवारी को अधिक निरापद नहीं मानते। परमदास ने नाव के लिये खेमा और तरनी शब्द का प्रयोग किया है। दादू बेड़ा शब्द को दूसरे अर्थ में प्रयुक्त करते हैं, जिसके अनुसार वह नौकाओं का समूह है। उनके अनुसार

१—क० ग्र०, पृ० ११६;९ : धरम० बा०, पृ० ४७;१५ : वही०, पृ० ५१;८ : वही० पृ० ७४;१७. २—वषना० बा०, पृ० १२२;१८ : बुल्ला० बा० भु० पृ० २२;५७ : पलटू० बा०, भा० ३, पृ० ७०;१८. ३—तु० का० भा०, भा० २;पृ० २६२: वही० पृ० ७२ : भा० इ० की रूपरेखा, पृ० २० : गुला० ब० हुमायुँनामा, पृ० ६४ : जहाँ० आ० क०, पृ० ३८३, ४२३ : भा० कृ० क० ख०, पृ० २४७.

इन नौकाओं पर यदि व्यापार की सामग्री अधिक लादी जायगी तो इनका पार उतरना कठिन होगा। मलूकदास तथा धरनीदास उन भारी नौकाओं का सन्दर्भ देते हैं जो उथले पानी में चल नहीं सकतीं। जगजीवन बेड़ा पर चढ़ने के पूर्व उसका निरीक्षण कर लेने के पक्ष में हैं। बुल्ला साहब के अनुसार नौका की यात्रा केवट पर निर्भर है, वही उसे पार उतार सकता है।[1]

चरणदास उस घाट का वर्णन करते हैं जहाँ यात्रा के लिये यात्रियों की भारी भीड़ एकत्र है और वे अनेक स्थानों से आकर जमा हुए हैं। ये नदी पार करने के बाद अपने-अपने रास्ते लग जायेंगे। गरीबदास अपने युग की नदियों से परिचित हैं, जिनमें नौकाओं के बड़े-बड़े बेड़े पड़े रहते हैं। नौकाएँ बाँस की बल्लियों से प्रायः चलाई जाती हैं। तुलसी साहब टूटी-फूटी (जर्जरी) नाव में पैर रखने के लिये सतर्क करते हैं।[2]

सन्तों के काल में प्रारम्भ से ही जहाजों का पर्याप्त प्रचलन मिलता है। इस काल में भारतीय व्यावसायिक तथा सैनिक जहाजों के बेड़े थे। वस्तुतः इसी काल में विदेशियों का जहाजी व्यापार बढ़ता गया और उसके संरक्षण के लिये उन्होंने अपनी नाविक शक्ति को भी बढ़ाया। इस प्रतिद्वंद्विता में अनेक बार सङ्घर्ष भी हुए। जहाँ तक समुद्री जहाजों के निर्माण का प्रश्न है, भारतवर्ष में यह कला प्राचीनकाल से चली आ रही है। एक समय था जब भारतीय नाविक अपने पोतों के माध्यम से पूर्वी द्वीप समूहों से व्यापार करते थे। इस काल में भी बहुत बड़े और भारी जहाजों के बनाये जाने का उल्लेख मिलता है। सूरत के बन्दरगाह में उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में जो जहाज बनते थे, वे यूरोपीय जहाजों से कहीं अधिक मजबूत होते थे। ये जहाज इतने बड़े होते थे कि इनमें एक हजार मन से लेकर छः हजार मन सामान लादा

१—क० ग्र०, पृ० २५४;७४ : वही०, पृ० २२०;३९८ : रैदास बा०, पृ० २२;४४ : धरम० बा०, पृ० ८;४, १९;१, २३;२, २४;१३, २६;१८ दा० बा०, भा० २, पृ० ६;१३ : मलूक० बा०, पृ० २; २, ३; ६ : धरनी बा०, पृ० १४; १, २३;४,४२;३१ : जग० बा०, पृ० ८६;७ : बुल्ला० बा० मु०, पृ० ८२;२४७ २—चरन बा०, पृ० ११६;२ : गरीब बा०, पृ० १२४;४, १७७;५ : पउद्व० बा०, भा० ३, पृ० १००;६ : तु० व० रा०, पृ० ३३९;१८.

जा सकता था। हाजियों के लिये भीमकाय जलपोत भी बनाये जाते थे जो तीस हजार मन तक बोझा सँभाल सकते थे।[1]

सन्त नदी तथा समुद्र के यातायात के इस महत्वपूर्ण साधन से भली-भाँति परिचित हैं। जहाज के साथ इसके लिये इन्होंने बोहित शब्द का प्रयोग किया है। वस्तुतः उनकी भवसागर की कल्पना में जहाज का रूपक बहुत अधिक सङ्गत रहा है, इसी कारण प्रायः सभी सन्तों ने इसको स्वीकार किया है।[2] कबीर अथाह जल में बोहित के सन्तरण की चर्चा करते हैं। परन्तु सन्तों के सन्दर्भों से प्रायः ऐसा लगता है कि वे जहाज को नौका से बहुत भिन्न नहीं समझते। सम्भवतः इसका कारण यह है कि उनको इसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। कबीर बोहित के साथ गुरु रूपी केवट या खेवनहार की चर्चा करते हैं। उनकी अपेक्षा नानक को जहाज का अनुभव अधिक है। वे कहते हैं—"अपार सागर बोहित से ही पार किया जा सकता है। इस पर लादा हुआ सामान समुद्र के बीच में सत्गुरु की कृपा से ही पार उतर सकता है।" दादू जहाज के उस पक्षी की चर्चा करते हैं जिसको भूमि की निकटता के अन्दाज के लिये मध्ययुग में उड़ाया जाता था। रज्जब ने जहाज से मक्का जाने का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त उनके अनुसार बोहित के द्वारा साहूकार तथा व्यापारियों (धनियों) की पूँजी का यातायात होता था। सुन्दरदास समुद्र में जहाजों के डूबने का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं। कभी जहाजों को तटों पर रस्सों के सहारे खींचा जाता था, इसका उल्लेख दरिया (वि०) ने किया है। दयाबाई के अनुसार जहाज दरिया में भी चलते हैं। गरीबदास में सामग्री से भरे हुए जहाज के सागर पार जाने का सन्दर्भ मिलता है। रामचरण ने जहाज को पाल से चलता हुआ वर्णित किया है। इसी प्रकार पलटूदास ने जहाज प्राप्त करने वाले लोगों के इधर-उधर भटकने का उल्लेख किया है,

---

१—उ० ते० का० भा०, भा० २, पृ० २१८ ; २२२ और २२७ : अकबर, पृ० ३१५ : जहां० आ० क०, पृ० ३२३ : वही०, पृ० ३८८ : भा० कृ० का० स०, पृ० २४७ : उ० म० का० भा०, पृ० ४८३. २—क० ग्र०, पृ० २२८; २१ : क० बीजक, पृ० ६५; ५१ : गु० ग्र०, पृ० ५५; २, ५९; ४, ३७७; ३ (नानक) वही०, पृ० ३०६; ४, ६१७; १, ७१०; २, ८१०; ३०, ८३८; २, ८६५; ३ : दा० बा०, पृ० १०४; १८, १५८; ५, १७८; २०. : वखना० बा०, पृ० ९५; ६९ : रामचरण बा०, पृ० ७९; १०, २१५; ४२, २८६; १३.

सम्भवतः अनेक बार यह निश्चित नहीं रहता था कि जहाज को किनारे लगने का स्थान कौन-सा मिलेगा ।[1]

डाक-व्यवस्था—इस काल में डाक ले जाने तथा ले आने का काम घुड़सवार कासिदों (पत्र-वाहकों) तथा पैदल हरकारों के द्वारा सम्पादित किया जाता था। ये पत्र-वाहक सड़कों पर छः या सात मील की दूरी पर स्थित डाक-स्थलों पर बदल दिये जाया करते थे और इस प्रकार डाक के पहुँचने में अपेक्षाकृत सुविधा तथा शीघ्रता होती थी।[2] परन्तु यह व्यवस्था बहुत कुछ राज्य-शासन की सुविधा की दृष्टि से की गयी थी। सामान्य जनता को इस व्यवस्था से अधिक सम्बद्ध नहीं माना जा सकता। इसी कारण सन्तों के काव्य में इसका विशेष उल्लेख नहीं हुआ है। उन्होंने धावन (हरकारा) के द्वारा चिट्ठी भेजने तथा कासिद के द्वारा खबर लाने की प्रतीक्षा की चर्चा अवश्य की है—"सावन सकुचि करहु जनि धावन पठवहु चोख"—(धरनी) या "कासिद की कोई खबर न लावे डाकन नगर निकाली"—(तुलसी सा०) ।[3]

धन का दुरुपयोग—कन्जूस—सन्त अपने समाज के ऐसे लोगों से भली-भाँति परिचित थे जिन्हें सूम, कृपण, या कन्जूस कहा जाता है। सन्तों की लौकिक दृष्टि में धन का उपयोग उसके खर्च करने में है, इसी कारण वे कन्जूस को निन्दा और उपहास का पात्र समझते हैं। कबीर के अनुसार कृपण का धन किस काम का। सूम सम्पत्ति को केवल मोह (मुग्ध) के कारण ही अपनी समझता है। रज्जब का कहना है कि सूम व्यक्ति धन में ऐसा आसक्त होता

१—क० ग्र०, पृ० २२८; २१ : गु० ग्र०, पृ० १०१०; १ : वही०, पृ० १४००; २९ : दा० बा०, पृ० १०४; १८, १८५; ५, १७८; २० : सं० सु० सा० (रज्जब) पृ० ५२५; ११ : रज्जब० बा०, पृ० १८; ४७ : सु० ग्र० तृष्णा को अङ्ग १३, साधु को अङ्ग ७, २० : दरि० वि० अनु०, पृ० १६; १०६ दया० बा०, पृ०, १६; १९ : गरीब० बा०, पृ० २१२; ७ : पलटू० बा०, भा० १, पृ० १०२; १२८. २—भा०इ० की रूपरेखा, पृ० ६५, १५८. ३—धरनी० बा०, पृ० ४९; ९ : पलटू० बा०, भा० १, पृ० २०; ४५, २३; ५१, १२; २८ : तु० सा० बा०, पृ० १७८; ३४.

है कि उसके लिये अपना कोई आत्मीयजन नहीं होता, परन्तु वह न अपना भला कर पाता है और न दूसरे का ही। बषना कंजूस की इस मनोवृत्ति से है। परिचित है कि वह अपने गाड़े हुए धन को दिन में तीन बार देखने जाता रामचरण के अनुसार न स्वयं पर खर्च कर सकने वाले और न दूसरे को दे सकने वाले कञ्जूस का जीवन व्यर्थ जाता है, क्योंकि वही पाता है (सुख या तृप्ति) जो खर्च करता है। इसी प्रकार गरीबदास भी धन का वैभव उसके प्रयोग में ही मानते हैं।[1]

धन गाड़ना—सन्तों के काल में चोर-डाकुओं के भय के साथ अनेक बार राजाओं की लूटमार का आतङ्क भी बना रहता था। सामान्य जनता के पास अपने धन की रक्षा की कोई निश्चित व्यवस्था नहीं थी। इस कारण देश में धन को गाड़कर रखने की प्रथा प्रचलित रही है। इस प्रकार धन जोड़ने वाले प्राय: कन्जूस भी होते थे, जिनकी निन्दा सन्तों ने की है। सन्त, लोकजीवन को स्वीकार करके भी संग्रह की मनोवृत्ति से प्रतिकूल थे, इस कारण भी ये धन गाड़कर रखने के पक्ष में नहीं रहे हैं। कबीर का कहना है कि धरती में गड़ा हुआ धन जो खोट और कपट के द्वारा एकत्र किया गया है, साँस के छूटते ही जगह-जगह रखा रह जायगा। बषना के द्वारा धन ज़मीन में गाड़ने का उल्लेख करते हैं। उन्होंने छत में धन छिपाने का भी सन्दर्भ दिया है—"मकरांण षाटू विचे, जब खोदिया धायो रे" (बषना० बा०, पृ० ७५;४०)। रामचरण ने इस प्रचलित विश्वास का उल्लेख किया है कि धन गाड़कर मर जाने वाला व्यक्ति सर्प-योनि में जन्म लेकर उसकी रक्षा करता है।[2]
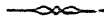
१—क० ग्र०, पृ० ११६;६६ : वही०, पृ० १२१;१०५ : रज्जब० बा०, पृ० २५६; २६०; २० : बषना० पृ० १२८; १०५ : रामचरण बा०, पृ० १२१;५ : गरीब० बा०, पृ० ७७;५१. २—क० ग्र०, पृ० ११७; बषना० बा०, पृ० १२८;१०५ : रामचरण बा०,पृ० १६५;६. राजस्थान में मकरांण चौर षाटु स्थान से खोदा हुआ पत्थर छतों में लगाया जाता था, इसका यहाँ सङ्केत किया गया है।

षष्ठ प्रकरण

लोक-रीति और व्यवहार

सन्तों के काल में इस्लाम-धर्म का प्रभाव और सम्पर्क भारतीय जीवन पर अधिकाधिक बढ़ता गया। परन्तु इस्लामी रीति-रिवाजों का जितना प्रभाव यहाँ के आभिजात्य-वर्ग पर पड़ा, उतना लोक-जीवन पर सम्भव नहीं था। लोक-जीवन सांस्कृतिक परम्परा तथा रूढ़ियों से अपेक्षाकृत बहुत कम प्रभावित होता है। वह लोकसंस्कार तथा परम्परा के प्रवाह में बहता रहता है। इसी कारण सन्तों के काव्य में जिन सामाजिक रीतियों तथा व्यवहारों के सन्दर्भ मिलते हैं, उनका सीधा सम्बन्ध तत्कालीन लोकजीवन से माना जा सकता है। उस काल के उच्च तथा नागरिक वर्ग में प्रचलित इस सम्बन्ध की मान्यताओं का स्वरूप सन्त-काव्य में लगभग नहीं के बराबर मिलता है।

जहाँ तक धर्म, आचरण तथा विश्वास सम्बन्धी मान्यताओं का प्रश्न है, सन्तों ने शास्त्र और लोक, दोनों ही परम्पराओं को स्वीकार किया है—(द्र०-प्रथम प्रकरण)। इन क्षेत्रों में सन्तों ने सहज तर्कसङ्गत मानवीय दृष्टि को महत्व दिया है। पर यह भी कहा जा चुका है कि सन्तों ने जीवन को सहज रूप में स्वीकार किया है, वे संसार को छोड़ने के पक्ष में नहीं हैं। संसार में रहकर ही उनकी आध्यात्मिक साधना सम्पन्न हो सकती है, इसका उन्हें विश्वास है। इस सांसारिक जीवन में उन्होंने लोक की व्यापक भावना से अनेक प्रेरणाएँ प्राप्त की थीं, पिछले प्रकरणों के अध्ययन में यह देखा जा चुका है। प्रस्तुत सन्दर्भ में सन्त-काव्य की पृष्ठभूमि नितान्त लौकिक है अर्थात् उनके काव्य में रीति-रिवाजों का जो भी रूप मिलता है, वह लोक-प्रवाह से ग्रहण किया गया है। वस्तुतः सन्त लोक-जीवन में रमे हैं और उनकी प्रेरणा का मूल-स्रोत यही है।

संस्कार--जन्म—भारतीय लोकजीवन में जन्म से मृत्यु तक अनेक संस्कार सम्पादित होते हैं। इनमें से प्रथम का सम्बन्ध जन्म से है जिसमें गर्भ से लेकर जन्मोत्सव तक की सभी परिस्थितियाँ आ जाती हैं। सन्तों ने अपने आध्यात्मिक प्रसङ्गों में इनमें से कुछ का उपयोग किया है। कबीर के अनुसार गर्भ से बाहर आकर प्राणी अपने वास्तविक स्रोत को भूल जाता है। कबीर और नानक जन्म के अवसर पर मनाये जाने वाले सूतक का ज़िक्र करते हैं। बच्चे के जन्म के अवसर पर घर में जच्चा को कुछ दिनों तक छूत माना जाता है और इसी को सूतक कहते हैं। अर्जुनदेव के अनुसार माता के गर्भ में बच्चे की रक्षा परमात्मा करता है। बच्चे के लिये दाई का नित्य कर्म करने वाली माँ की चर्चा रज्जब ने की है। धरमदास भी जननी के जठर में बच्चे की रक्षा करने वाले प्रभु के प्रति कृतज्ञ हैं।[1]

सुन्दरदास रज और वीर्य से बीज रूप में गर्भ का रूप धारण करने वाले शिशु की कल्पना करते हैं। धरनीदास के अनुसार गर्भ पूर्ण होने में दस मास का समय लगता है। गरीबदास गर्भवती स्त्री की कोमल भावना से परिचित हैं, जो अपने गर्भ को छिपाकर रखती है और उसकी सावधानी से रक्षा करती हैं। पुत्र-जन्म के अवसर पर सोहर छन्द में पलटू सोहर गाने का वर्णन करते हैं—"मेरे विश्वास के गर्भ को मेरा प्रिय जानता है और लोगों को आश्चर्य है और वे विश्वास नहीं करते। जो स्त्री इस अवसर पर सोहर गायेगी वह दस मास में पुत्र-जन्म का लाभ प्राप्त करेगी।" तुलसी साहब ने गर्भ-स्थित प्राणी की विकलता और पीड़ा का वर्णन किया है। वे जठर की अग्नि में छटपटाते हुए मल-मूत्र में लिपटे हुए उल्टी स्थिति में गर्भ की अवस्था को नरक के समान कहते हैं। सन्तों की यह भावना सांसारिक आवागमन के क्लेश को प्रस्तुत करने की दृष्टि से व्यक्त हुयी है।[2] सन्तों ने गर्भ-

---

१—सं० कबीर पृ० ६५; ६२ : क० ग्र० १०१; ४२ : गु० ग्र० (नानक), पृ० ४७२; १ : वही०, पृ० १२१४; ५६ : रज्जब बा०, पृ० ४६७; ३ : धरम० बा०, पृ० ४२; १२. २—सु० बि०, पृ० ५०; ५ : धरनी० बा०, पृ० ४; ७ : गरी० बा०, पृ० ५७; ४५ : पलटू० बा०, भा० ३, पृ० ६२; १०९ : तु० रत्न मा०, पृ० २१; १.

वर्णन के प्रसङ्ग में विधवा के गर्भ का उल्लेख किया है, जो समाज में भारी कलङ्क का कारण समझा जाता है।[1]

विवाह—सन्तों ने जीवन के सभी पक्षों को अपनी आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से ही ग्रहण किया है। जिन स्थितियों में इनकी साधना को व्यक्त करने की जितनी सम्भावना रही है, उतना ही उनका उपयोग किया गया है। इनसे रूपक और दृष्टान्त आदि ग्रहण किये गये हैं। इस दृष्टि से संस्कारों में विवाह का ही अधिक महत्व रहा है, इसके माध्यम से उनको अपनी प्रेम-भावना को व्यक्त करने में सरलता हुयी है। उन्होंने जीवात्मा और परमात्मा के प्रेम सम्बन्ध को विवाह के रूपक के माध्यम से प्रायः व्यक्त किया है। अन्य संस्कार इस दृष्टि से अपनी सीमित सम्भावनाओं के कारण सन्त-काव्य में स्थान नहीं पा सके हैं।

जैसा कहा गया है, सन्तों का सम्बन्ध लोकपरम्परा से है और ऐसी स्थिति में जिन रीतियों और परम्पराओं को उन्होंने ग्रहण किया है, ये लोक की हैं। लोक की परम्पराओं में उस काल से आज भी मौलिक अन्तर नहीं देखा जा सकता। लोक-जीवन में विवाह का संस्कार और उत्सव (इसे इस रूप में भी लिया जा सकता है) एक विशेष महत्व रखता है। सन्तों ने अपने रूपकों में विवाह का विस्तृत वर्णन उसकी समस्त परम्पराओं के साथ किया है। कबीर के अनुसार—"द्वार पर बरात आने के अवसर पर मङ्गलाचार-गान होता है। विवाह की वेदी पर वेदोच्चार के साथ यज्ञ किया जाता है और फिर वर-वधू भाँवर में घूमते हैं।" वस्तुतः यज्ञ और भाँवर विवाह के मूल अङ्ग हैं। आगे कबीर कहते हैं—"विवाह के अवसर पर पहले लगन लिखाई जाती है। फिर पाँच लोग मिलकर मण्डप छाते हैं। सखी-सहेलियाँ मिलकर मङ्गल-गान करती हैं। अनेक रस्मों में हल्दी चढ़ाने की रस्म भी होती है। बरात के आने के पूर्व द्वारचार के लिये चौक पूरी जाती है। स्त्रियाँ 'चरुवा पानी' लाती हैं। गठ-बन्धन करके हर्षोल्लास के सहित भाँवरे फेरी जाती हैं।"[2]

कबीर बरात का वर्णन करते हुए कहते हैं—"बरात के साथ बाजे बजते हैं और नाच होता है। दूल्हा के सिर पर मौर शोभित है। लीपी हुयी चौक पर वर-वधू बैठाये जाते हैं। बरातियों को भात खिलाया जाता है और वर

१—दूलन० बा०, पृ० ३५; १. २—क० ग्र०, पृ० ८७; २: वही०, पृ० १६४; २२६.

को वधू का पाणिग्रहण कराया जाता है।"[१] राजस्थान के वषना भी विवाह के सम्बन्ध में समान रीति-रिवाजों का विस्तार देते हैं—"बरात के आने के समय स्त्रियाँ पहले चौक लीपती हैं, अगर और चन्दन जलाया जाता है, मोतियों से चौक पुराया जाता है (लोक की आदर्श कल्पना के अनुकूल)। बाजों में निशान और झाल आदि बजाये जाते हैं। बन्दनवार द्वार पर लगाई जाती है और मङ्गल-कलश स्थापित किया जाता है। सखियाँ मङ्गलगान करती हैं और बधाई-गीत गाती हैं। धूप-दीप लेकर आरती सजाई जाती है, न्यौछावर की जाती है, वर-वधू पर राई-लोन उतारा जाता है (लोक विश्वास के अनुसार इस प्रकार दृष्टि-द्वेष नहीं होता)। भाँवर से पहले वधू के मस्तक पर मोरी बाँधी जाती है; वर-वधू के मस्तक पर सिन्दूर लगाता है। विवाह के उपरान्त लगन निश्चित किया जाता है और वधू-बिदा की जाती है। पालकी में आसन बिछाकर दुलहिन सास के घर जाती है, वहाँ अपने पति के पाँव पलोटती है, पङ्खा झलती है और सेज पर शयन करती है।"[२]

नानकदेव मंगनी के बाद मण्डवे के नीचे विवाह का उल्लेख करते हैं। अर्जुनदेव ने विवाह की पद्धतियों की चर्चा की है—"कोई शास्त्रीय पद्धति से विवाह करते हैं और अग्नि यज्ञ के समक्ष प्रतिज्ञा करते हैं, कोई वचन-वद्ध होकर विवाह करते हैं और कोई लम्पट रीति से स्त्री को रखेली के रूप में व्याह लेते हैं।" धरमदास ने कबीर की भाँति विवाह का विस्तृत रूपक प्रस्तुत किया है—"जब लड़की व्याहने योग्य हो जाती है, वह तन-मन से मदमस्त हो उठती है और नैहर के लोग विवाह योग्य कन्या को देखकर उपहास करते हैं। फिर पिता पुरोहित को विवाह तय करने के लिये भेजता है।··· विवाह तय हो जाने के बाद मण्डप बाँधने के लिये खम्भे गाड़े जाते हैं, मंगल-कलश की स्थापना की जाती है (लोकभावना के अनुसार यहाँ कनक-कलश कहा गया है), मङ्गल-गीत गाये जाते हैं और मोती की झालर सजाई जाती है। विवाह के अवसर पर दुल्हा तथा दुल्हिन एक स्थान पर बैठाये जाते हैं। पाँच सुहागिनें सिन्दूर माँग में भरती हैं। फिर वधू का नख से शिख तक सोलह शृंगार किया जाता है, मस्तक पर रत्नों जड़ी हुई पुष्प के

१—क० बीजक, पृ० १४७; २५, १९५; ५४. २—वषना० बा०, पृ० १२०; ६७.

आकार की बेंदी झलकती है और इस प्रकार वह पद्मनी नारी अपने प्रियतम की सेज पर लायी जाती है।"[1]

अधिकांश सन्तों ने विवाह के रूपकों में समान स्थितियों का अङ्कन किया है। परन्तु इन रूपकों में किसी-किसी सन्त ने एक दो नये सन्दर्भ अतिरिक्त भी प्रस्तुत किये हैं। इस दृष्टि से सुन्दरदास ने गौना का उल्लेख किया है। धरनीदास ने व्याह में दमामा बजने तथा बरातियों के घोड़े पर आने की चर्चा की है, सम्भवतः उनकी दृष्टि में राजपूत विवाह की कल्पना है। गुलाल साहब के रूपकों में लगन के सन्देश पर परिवार के सभी लोगों के रोने, दुल्हिन के तेल लगाये जाने, बधावा ले आने, चौमुख दीपक जलाने, थाल में मुक्ता भरकर आरती सजाने, चँवर डुलाने, परछन करने, न्यौछावर करने, गाँव के बरातियों के जुटने, दूल्हा को कोहबर में ले जाये जाने, बरात के जेवनार कराने, वर के स्नान कराने (नहान) और समधी के सत्कार करने के अतिरिक्त उल्लेख मिलते हैं।[2] भीखा साहब ने वर खोजने, सगाई तथा लगन धराने, चौक पूरने, माँग में सिन्दूर भरने तथा दुल्हिन को कोहबर में ले जाये जाने के सामान्य वर्णनों के अतिरिक्त पुरोहित को नेग देने का विशेष उल्लेख किया है।[3]

पलटूदास ने जिस विवाह का उल्लेख किया है, वह मुसलमानी रीति के अनुसार है—"आनन्दोल्लास में आठों पहर नौबत बजती है। वर रङ्ग-विरङ्गे वस्त्रों से सज्जित है और ऊपर छत्र सुशोभित है। उसमें अनेक सुगन्धित द्रव्य लगा रखे हैं। बरात में हाथी पर झूलें शोभित हैं। सेहरा पहनकर वर पलङ्ग पर विवाह के लिये बैठाया गया है।" तुलसी साहब ने भी वर के सेहरा बाँधे जाने का उल्लेख किया है।[4] सन्तों के विवाह सम्बन्धी इन सन्दर्भों से यह स्पष्ट हो जाता है कि विवाह-संस्कार की परम्परा प्राचीन काल से लोक-

---

१—गु० ग्र० (नानक) पृ० ४७३; २ : वही०, पृ० ६१४; २ : धरम० बा०, पृ० ४२; १०, ४९; १८. २—सु० ग्र० शब्दसागर का अङ्ग : धरनी० बा०, पृ० ८; १२, १३ : वही०, पृ० २७; ३ : गु० बा० भु०, पृ० ६६; १९१ : वही०, पृ० ६६; १९२ : वही०, पृ० २४२; ५७६ : वही०, पृ० २९४; ७५०, ७५४, ७५५. ३—भी० बा०, पृ० ११४; ३१४. ४—पलटू० बा० भा० १, पृ० ९५; २४५ : वही०, भा० २, पृ० ८८; १४१ : तु० बा०, पृ० ११६; १०, ११.

जीवन में बहुत कुछ समान रूप से चली आ रही है, जो प्रस्तुत काल के ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर स्वीकृत रीति से भी विशेष भिन्न नहीं है।[1]

मृत्यु—जीवन की प्रमुख घटनाओं में जन्म और विवाह के साथ मृत्यु को भी सम्मिलित किया जा सकता है। हिन्दू संस्कारों में इसी कारण जन्म, विवाह और मृत्यु महत्वपूर्ण है। सन्तों ने भी उपर्युक्त दोनों स्थितियों के साथ मृत्यु को स्वीकार किया है। मृत्यु जीवन की क्षण-भङ्गुरता का प्रत्यक्ष प्रमाण है, इस कारण सन्त, जीवन सम्बन्धी अपनी आन्तरिक विरक्ति की वृत्ति के लिये उसका चित्रण करते हैं। साथ ही सांसारिक माया-मोह को निरर्थक सिद्ध करने के लिये वे बार-बार इस बात का स्मरण दिलाना चाहते हैं कि मृत्यु के उपरान्त जीव को संसार से अकेला ही जाना होता है और इसी सन्दर्भ में उन्होंने मृतक-संस्कार का उल्लेख भी किया है।

कबीर के अनुसार—"ऊँचे महलों में रहने वाले प्राणी, गर्व मत करो। आज-कल में पृथ्वी में लेटना होगा और ऊपर घास उगेगी।....हँस के उड़ जाने के बाद शरीर गाड़ा जायगा अथवा घास या लकड़ी के समान हाड़ जलाये जायेंगे। .... अनेक यत्नों से शरीर का पालन किया जाता है, पर मृत्यु के उपरान्त अग्नि के साथ जला दिया जाता है। .... चौआ चन्दन से चर्चित शरीर काठ के समान जल जाता है या मिट्टी में गाड़ दिया जाता है।....मरने के बाद मरघट पर पहुँचते ही कोई महत्व नहीं देता। .... जीवन में साँस चलने तक सब कुछ है, मरने के बाद सब 'ले चल ले चल' कहने लगते हैं। सबको डर लगता है कि कहीं भूत न बन जाय। जलने पर शरीर भस्म हो जायगा और गाड़े जाने पर मिट्टी हो जायगा। देहरी तक स्त्री साथ है, मित्र बान्धव थोड़ा और आगे तक जाते हैं। श्मशान घाट तक खटोला (टिकटी) जाता है, पर हंस को तो अकेला ही जाना होगा।"[2]

अमरदास कहते हैं कि कुछ लोगों में शव को जलाने, कुछ में गाड़ने और कुछ में जानवरों के लिये छोड़ने की प्रथा है। दादू के अनुसार मिट्टी (शव),

---

१—हर्षचरित, पृ० ७०, ७२,८२-८५ : नैषधचरितम्, पृ० ४४१, ४४२, ४६७, ४७४, ४७६, ४९६ : छिताई वार्ता, पृ० १४८ : दाराशिकोह, पृ० ७ : जहाँ आ० क०, पृ० ६६८ : ला० ए० क० आ० हि० हि०, पृ० १४६.

२—क० ग्र०, पृ० २५२;३९, २६२;१७३, २७१;२१, २८५;७१, २९०; ८८,८९ ६४;३, १७०;२४१ : क० बी० पृ० २३०;७३.

श्मशान पर पहुँचते ही समस्त नाते छूट जाते हैं, फिर भी घाट पर चिता जलाते या कब्रगाह में कब्र में गाड़ते देखकर लोगों को होश नहीं आता।[1] सुन्दरदास मृतक संस्कार का वर्णन करते हैं—"हितैषी श्मशान में शव को ले जाकर लकड़ी इकट्ठा कर चिता रचाते हैं। बेटा आग लगाकर सिर में बाँस मार कर कपाल-क्रिया कर देता है।" धरनीदास कहते हैं कि—"एक समय आयेगा जब ले चल ले चल होगी, सब घर के लोग और पूरा कबीला सिर पकड़कर शोक करेगा, तब चार लोग वहाँ से उठाकर श्मशान पहुँचायेंगे। फिर या तो अग्नि में दाह किया जायगा अथवा नदी में प्रवाह। यह भी हो सकता है कि कफ़न पहनाकर कब्र खोदकर गाड़ दिया जाय और लौटकर फ़ातिहा पढ़ा जाय।" धरमदास के अनुसार—"कुछ दिन की ज़िन्दगी है, अन्त में कब्र में जाकर सब खाक मेंमिल जायेंगे।" दरिया साहब के अनुसार—"शरीर रूपी भाजन के टूट जाने पर सभी स्नेह सम्बन्ध भी टूट जाते हैं। चार जन खाट उठाकर तुरन्त घाट पर पहुँचाते हैं। फिर दाह-संस्कार करके तिलाञ्जलि देते हैं'।[2]

मृत्यु का दृश्य प्रस्तुत करते हुए चरनदास कहते हैं—"वह बोलने वाला जीव देखते-देखते नगर (शरीर) छोड़कर किधर चला गया। नगरी के दसों द्वार ज्यों के त्यों रहते हैं, पर देश गाँव सूना हो गया। घर के निवासी भी उदास हैं। रूप रंग कुछ भिन्न हो गया है और शरीर शून्यवत् हो गया है। जो स्वजन थे वे दुर्जन होकर शरीर (शव) को बाँधकर घर से बाहर निकाल देते हैं। चिता सँवार कर उस पर अङ्गार रखकर प्रज्ज्वलित कर देते हैं। फिर महल (प्राणहीन शरीर) ढह जाता है और मिट्टी में मिल जाता है। पुत्र, कलत्र, भाई और बन्धु ठोंक-ठोंक कर शव को जला देते हैं।" इसी प्रकार अन्य सन्त भी प्राणहीन शरीर के अन्तिम संस्कार का उल्लेख करते हुए सांसारिक क्षणभङ्गुरता का प्रतिपादन करते हैं। ये सभी चार के कन्धों पर मरघट ले जाये जाने और चिता पर रखकर शरीर के होली के समान फूंक दिये जाने का उल्लेख करते हैं। कुछ सन्तों ने मुसलमानी मृतक संस्कार अर्थात् गाड़े

१—गु० ग्र०, पृ० ६४७; २ : दा० बा०, पृ० १८२; १, १८५; ६३, ६४, ६५. २—सु० ग्र०, भा०, २ पृ० ३२८;४३,४४ : वही०, पृ० ३३५; २३ : धरनी० बा०, पृ० १०;३९ : दूलन० बा०, पृ० ३५;३ : दरि० बि० अनु०, पृ० १४३;१६. ५, ७.

जाने की चर्चा भी की है।[1] मध्यकाल में मृतक-संस्कार की परम्पराएँ हिन्दू तथा मुसलमानों में ठीक वही थीं जो आज भी ज्यों की त्यों चली आ रही हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध धार्मिक भावना से रहा है।[2]

त्यौहार और उत्सव—भारतीय लोक जीवन आधुनिक काल के पूर्व तक अपेक्षाकृत अधिक सुगम और सहज आर्थिक ढाँचे पर स्थित था। यहाँ तक कि जीवन की समस्त सामाजिक विषमता संस्कार का अङ्ग थी, इस कारण इसकी उसे वैसी चेतना नहीं थी, जैसी आज है। मध्यकाल में इस भावभूमि पर लोक अपने आनन्दोल्लास के ऐसे अनेक अवसर परम्परा से स्वीकार करता था, जिनमें सारा लोक-समाज सहज ही एकरस हो सकता था। ये अवसर लोक-प्रचलित होली, फाग, दीवाली और हिंडोला जैसे त्यौहार और उत्सव के थे। सन्तों ने लोकभावना के इस स्तर से इनके आनन्दोल्लास को आध्यात्मिक साधना के पक्ष में अपने काव्य में ग्रहण किया है। इन त्यौहारों तथा उत्सवों के साथ लोक-जीवन में मेलों का भी पर्याप्त आकर्षण रहा है, विशेषकर पर्वों पर नदियों के तट पर ऐसे मेले परम्परा से चले आ रहे हैं। इन मेलों के साथ धार्मिक-भावना तथा उल्लास एक साथ मिल जाते हैं। सन्तों ने इस प्रकार के विश्वासों का विरोध किया है, पर वे मेलों के उत्सव तथा उत्साह से परिचित हैं। अर्जुनदेव के अनुसार—"मेला में मोजा घणि माया तणि उपाध।" कबीरदास ने त्रिवेणी स्नान करने जाने वाली सखियों (पंच) की चर्चा की है। ये सखियाँ जब त्रिवेणी में स्नान कर तिलक आदि लगाकर निश्चित होती हैं, तो उन्हें ज्ञात होता है कि उनका हार खो गया है। गरीबदास ने पर्वों पर स्नान के माहात्म्य का सन्दर्भ प्रस्तुत किया है, इसके अनुसार लोक का विश्वास है कि इस प्रकार के स्नान से परमपद प्राप्त होता है।[3]

विजयदशमी तथा दिवाली के त्यौहार—अपेक्षाकृत लोक-भावना के अधिक निकट ये त्यौहार नहीं हैं। इसी कारण इनका सन्त-काव्य में विशेष उल्लेख

१—चरन० बा०, भा०, १ पृ० १०८;१६ : गरीब० बा०, पृ० ४;३६, ५;३८, ५७;४३, ११७;६, २०५;१, २१०;१२ : पलटू० बा०, भा० ३- पृ० १२;९ : वही०, भा०, २ पृ० ३८;९९ : तुलसी० रत्न०, पृ० ९८, ९९. २—ल० ए० क० आ० हि०, पृ० १५०. ३—गु० ग्र०, पृ० ५५३; १३ : क० ग्र०, पृ० २१४; ३७८ : गरीब० बा०, पृ० १५०; ७, १६२; ४, १७३;६.

नहीं है। गुलाल तथा भीखा ने विजयदशमी के आनन्दोल्लास का वर्णन किया है। गुलाल ने राजाओं के राजदरबार का प्रसङ्ग लिया है, जिसमें राजा सिंहासनारूढ़ होता है और प्रजाजन से भेंट लेता है। भीखा विजयदशमी के दिन लोगों के द्वारा नीलकण्ठ दर्शन के महत्व का उल्लेख करते हैं।[1] इसके बाद दीवाली का त्यौहार आता है। रामचरण कहते हैं—"दीवाली तो लखपति मनाते हैं। साधारण जन तो केवल दीपक में तेल जलाकर दीवाली मनाते हैं।" पलटू के अनुसार—"लोक-जीवन में पहले दीवाली, फिर गोवर्धन और अन्त में भइयादुइज मनाई जाता है। दीवाली के दिन घर-घर दीपक जलाये जाते हैं, महल में प्रकाश किया जाता है, जिससे चन्दमा के प्रकाश का आभास हो और अमावस्या का अन्धकार मिट जाय। इस अवसर पर घर-घर जूआ खेलने का शकुन भी मनाया जाता है और स्त्रियाँ नये आभूषण रच-रच कर धारण करती हैं।"[2]

वसन्त और फाग—अपेक्षाकृत लोक-दृष्टि से अधिक महत्व के उत्सव हैं। प्राचीनकाल से नागरिक संस्कृति में वसन्तोत्सव का बहुत अधिक महत्व रहा है। परन्तु लगता है, मध्ययुग में लोक-जीवन के अन्तर्गत वसन्त की अपेक्षा होली तथा फाग का अत्यधिक महत्व स्वीकृत हो चुका था। सन्तों ने होली खेलने की यौवनपूर्ण मादक अवस्था मानी है। इस अवसर पर सर्वत्र अबीर, गुलाल, चोवा तथा चन्दन दिखाई देता है। प्रिय के सङ्ग स्त्रियाँ होली खेलती हैं। इस वातावरण में सभी के हृदय में प्रेम की भावना उत्पन्न होकर मन को उद्वेलित करने लगती है। लोग अगर तथा कुमकुमा आदि वस्तुओं से होली खेलते हैं और इस अवसर पर लज्जा का भाव भुला दिया जाता है। फाग का महीना शुरू होते ही होली खेलने का अवसर आ जाता है और विविध रङ्गों से यह क्रीड़ा होती है।[3]

होली—इसमें लोक-समाज में भारी धूम मच जाती है और हुल्लड़ शुरू

१—गु० बा० भु०, पृ० ४९; १३८ : भी० बा० भु०, पृ० ५०; १३९. २—रामचरण बा०, पृ० २४५; ४५ : वही०, पृ० २४५; ४७ : पलटू० बा०, भा० १, पृ० ३२; ८२. ३—क० ग्र०, पृ० १०९; ६८ : सु०ग्र०, भा० २, पृ० ९०१ : पा० बा० भु०, पृ० ४०५; १०३५ : दरि० वि० अनु०, पृ० १७८; ५६. ४ : वही०, पृ० १७८; ५६. ८ : वही०, पृ० १७९; ५६. १४ : बु० बा० भु०, पृ० ४१८; १०८१.

हो जाता है। लोग तम्बूरा आदि पर गायन भी करते हैं। मटकी में रङ्ग भर कर पिचकारियों से रङ्ग खेला जाता है और गुलाल उड़ाया जाता है। इसमें राजा, प्रजा, योगी तथा संन्यासी सभी उल्लसित होते हैं। फागुन की ऋतु (वसन्त) में लोग होली खेलते हैं, यह उल्लास मनुष्य जीवन में ही मिल पाता है। केसर घोलकर प्रेम सहित प्रिय अपनी प्रिया पर छिड़कते हैं। उल्लास के अवसर पर प्रिय की मनोनुकूल नारियाँ तन-मन-धन न्योछावर करती हैं। अनेक ताल, मृदंग, झांझ, डफ तथा निशान आदि बाजे बजते हैं। इस प्रकार चतुर्दिक् मस्ती और आनन्द का वातावरण रहता है। सखियाँ भी आपस में होली खेलती हैं। पिचकारियों से एक दूसरे पर मुड़-मुड़ कर रङ्ग डालती हैं तथा अबीर-गुलाल उड़ाती हैं। इसके अतिरिक्त चोवा, अरगजा तथा कुमकुम आदि का प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी होली में निम्नस्तर के लोग कीचड़ और धूल का उपयोग भी करते हैं।[1] वसन्त ऋतु के मादक वातावरण में यह उत्सव लोक-मानस को सर्वाधिक आकर्षित करता रहा है। सन्तों ने इसको या तो माया के आकर्षण के रूप में अङ्कित किया है अथवा आध्यात्मिक प्रेम के आनन्दोल्लास के वातावरण के रूप में। पलटू कहते हैं—"बहार बीती जा रही है तू फाग की क्रीड़ा में संलग्न क्यों नहीं होता। डफ बजाकर इस आनन्दोल्लास में भाग लो, मनुष्य शरीर प्राप्त करने का यही तो फल है। फागुन में लाज छोड़कर घूँघट खोलो। जो लाज करेगा उसका स्वप्न में भी काम नहीं चलेगा। यही तो अवसर है जब प्रेम के रङ्ग की मटकी भराकर सुरति की पिचकारी से रङ्ग खेला जा सकता है, ज्ञान का अबीर उड़ाया जा सकता है और नाम की गाली दी जा सकती है। यह संसार सब स्वप्न है। इसमें बहार बीत रही है, तू फाग क्यों नहीं खेलता।"[2] वसन्त का उल्लेख बहुत कम स्थलों पर हुआ है, क्योंकि इसकी भावना मुख्यतः होली के अन्तर्गत समाहित हो गई है।[3]

१—चरन० बा०, पृ० ६७; १ : वही०, पृ० ७०; ६ : वही०, पृ० १५१; १ : गरी० बा०, पृ० १५६; ७ : धरम० बा०, पृ० ५६; २ : वही०, पृ० ५७; ४ : तु० घ० रा०, पृ० ३०७; २ : तु० रत्न० सा०, पृ० ५७; ९ : तु० शब्द सा०, पृ० १६५; ४, १६८; ८. २—पलटू० बा०, भा० १, पृ० १७; ४३. ३—तु० श० सा०, भा० १, पृ० ८६; ११ : हरि० पु० बा०, पृ० ३७४; ३.

सावन और हिंडोला—ग्रीष्म ऋतु के महीनों के बाद वर्षा का स्वागत लोक-जीवन विशेष उत्साह के साथ करता है। इस दृष्टि से सावन का महीना महत्व का है। इसमें नागपञ्चमी (गुड़िया), तीज तथा श्रावणी जैसे कई त्यौहार मनाये जाते हैं। इस मास में आनन्दोल्लास का प्रवाह रहता है जो हिंडोला या झूला झूलने के साथ व्यक्त होता है। सन्तों ने लोक की इसी भावना को ग्रहण किया है। उन्होंने दो खम्भों के बीच में डोरियों से डाले गये झूले का और उस पर पंटरी डालकर मादक-भाव से झूलने की क्रीड़ा का विस्तृत वर्णन किया है। इन प्रसङ्गों की मुख्य भावना आनन्दोल्लास की है। कबीर ने हिंडोले के **खम्भों** (दो) **मेरु** (ऊँचा भाग जिस पर डोरी लपेटी जाती है), **मरुआ** (खम्भों के बीच लकड़ी), **भँवरा** (लोहे का घेरा), **डांड़ी** (रस्सी के साथ बांधे जाने वाले बाँस या डण्डे) तथा **पटली** का उल्लेख कर उसका पूरा ढाँचा प्रस्तुत किया है।[1] हिंडोला और झूला के प्रसङ्ग में प्रायः उस समय के वातावरण, उल्लास और सखियों तथा प्रिय-प्रिया के झूलने का वर्णन मिलता है।[2] हिंडोला या झूला झूलने के अनेक सन्दर्भ प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इसका प्रचलन आनन्दोल्लास के प्रसङ्गों में प्राचीनकाल से चला आ रहा है। प्राचीनकाल में वसन्तोत्सव के साथ झूला झूलने की परम्परा मिलती है।[3]

हिन्दुओं के त्योहारों के साथ इस युग में कुछ मुसलमानी त्योहारों का प्रचलन भी हुआ था। वस्तुतः ईद, शबे-बरात, बारावफ़ात तथा मोहर्रम त्यौहारों का लोक में प्रचार तो हुआ, परन्तु उनको वह लोक-स्वीकृति प्राप्त नहीं हो सकी जो उपयुक्त त्योहारों को प्राप्त रही है। इसका प्रमुख कारण है, उपर्युक्त त्यौहारों में धार्मिक भावना के स्थान पर देश की सांस्कृतिक चेष्टा अधिक मुखरित होती है, जब कि इनका प्रमुख सन्दर्भ धर्म रहा है।

१—गु० बा० भु०, पृ० २८०;७०९ : सु० ग्र०, भा० २ पृ०, ८२६ सिगा० बा० हि० अनु०, वर्ष १०, अंक ३, पृ० २५ : क० बीजक, पृ० ३५९; १ : वही०, पृ० ३६२; २, ३. २—चरन० बा०, भा० २, पृ० ३५; १० : बु० बा० भु०, पृ० १४५;४१४ : गु० बा० भु०, पृ० १६७;४४७. ३—म० का० भा० सं०, पृ० ४१ : म० का० भा० (अ० अल्लाम युसुफ) पृ० ४४ : जहाँ आ० क०, पृ० ३१८, ५५९, ६०४, ७०४ : स्कन्द पु० अध्याय ४२ : प्रा०भा० मनो०, पृ० १८५, १८६, ३०७, ३०८.

इसी दृष्टि से सन्तों के काव्य में इनके सन्दर्भ नहीं के बराबर हैं। केवल तुलसी साहब ने **मोहर्रम के ताजियों** का वर्णन किया है जिसमें हसन-हुसेन की कथा का आधार भी साङ्केतिक ढङ्ग से प्रस्तुत किया गया है।[1]

उत्सवों के अवसर पर **भोज** का आयोजन भी किया जाता है। वस्तुतः अनेक अवसरों पर आयोजित भोज स्वयं में उत्सव ही माने जा सकते हैं। पलटू एक ऐसे भोज का उल्लेख करते हैं जिसमें हलुवा आदि परोसा जाता है। परन्तु सामान्य सन्तों में ऐसे सन्दर्भ अन्यत्र नहीं हैं।[2] वस्तुतः भोज आदि का आयोजन उच्च वर्ग तथा सामन्ती वर्ग की विशेषता मानी जा सकती है। उपर्युक्त उत्सवों में सभी का प्रचलन इस काल में नागरिक जीवन में भी था और कुछ को तो बादशाहों ने शाही रूप से मनाये जाने की स्वीकृति दी थी।[3]

मनोरञ्जन के साधन—नट-कला—सन्तों ने अपने युग के अनेक मनो-रञ्जन के साधनों का प्रयोग अपने काव्य में किया है, जिससे तत्कालीन मनो-रञ्जन सम्बन्धी लोक-रुचि का पता चलता है। सन्तों के अनुसार नट और नटी अपने तमाशे से अज्ञानियों को भ्रम में डाल देते हैं और सांसारिक माया के खेल को उन्होंने नट की कला कहा है। परन्तु इसके अतिरिक्त इस रूपक का प्रयोग अन्य प्रसङ्गों में भी हुआ है। क़बीर हरि नाम के स्मरण को शूली के ऊपर नट की बाजीगरी के समान कठिन विद्या मानते हैं। वे नट के द्वारा नाना वेश और रूप धारण करने की चर्चा भी करते हैं। उनके लिये संसार की सारी लीला नट की 'नटसारी' है। जिस प्रकार नट अनेक रूप धारण कर अपनी कला दिखाता है और गाँव का ठाकुर उसकी कला की प्रशंसा करता है, उसी प्रकार परमात्मा संसार में लीला करता है।[4] अर्जुनदेव ने नट के वेष बदलने का और रज्जब ने नटनी के बाँस पर चढ़ने का उल्लेख किया है। गुलाल नट के खेल की चर्चा करते हैं। दरिया (बि०) नट के नाच

१—तु० बा०, पृ० २०; १ : वही०, पृ० २१; २१. २—पलटू० बा०, भा० १, पृ० १७; ४४ : तु० का० भा०, भा० १, भूमिका. ३—भु० का० भा०, भा० १, पृ० ३१८ : वही०, पृ० ३८५ : म० का० भा० स०, पृ० ४१ : लो० हि०, पृ० ५२. ४—क० ग्र०, पृ० ७; २६ : वही०, पृ० १२३; ११० : वही०, पृ० २२७; ३ : वही०, पृ० २३०; १०.

पतंग
झूला
हिंडौला या झूला
हुक्का
नट
बाजीगर
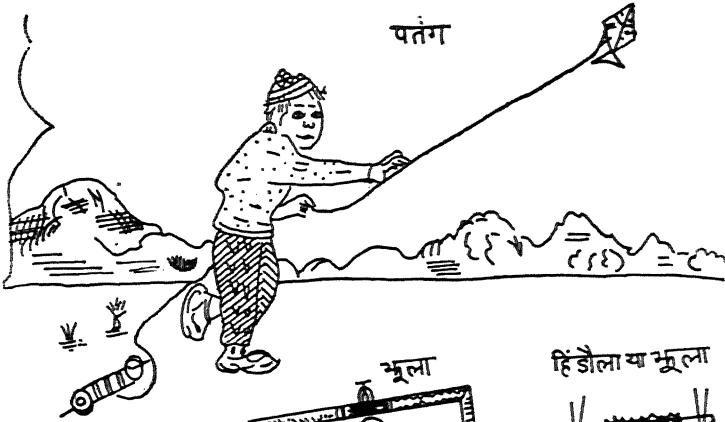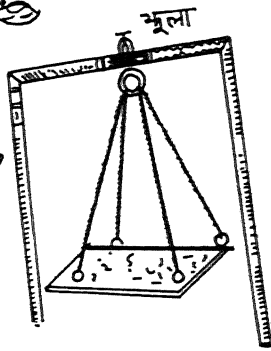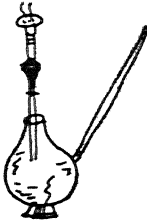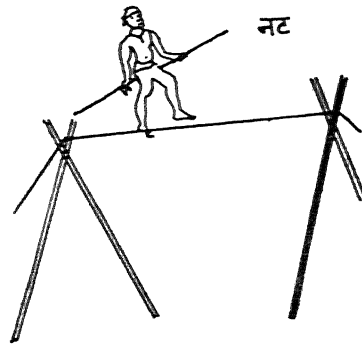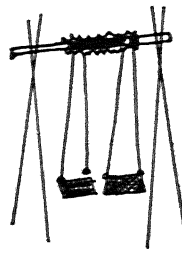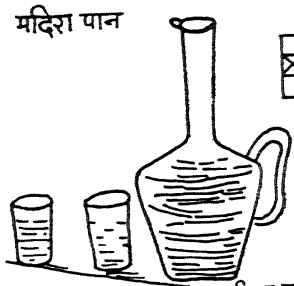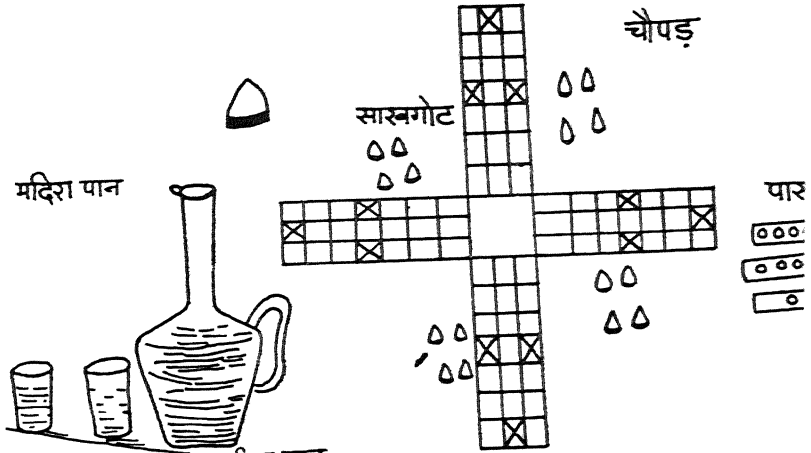
चौपड़
सारवगोट
मदिरा पान
पार
कठ पुतली का नाच
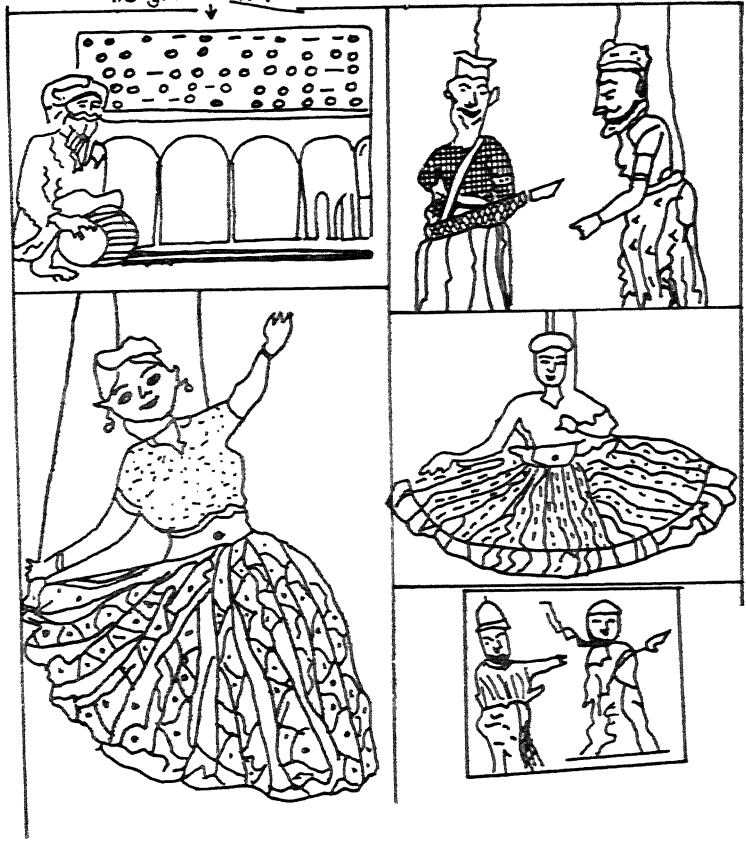
का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं । यारी साहब नट की कुम्भ कला का रूपक प्रस्तुत करते हैं, जिसके अनुसार नट सर पर घड़ा रखकर चलता है । चरनदास ने नट के बांस पर चढ़ने की चर्चा की है । इसी प्रकार रामचरण लम्बे बाँस पर नटनी के चढ़ने का उल्लेख करते हैं ।[1] इन सन्दर्भों के आधार पर कहा जा सकता है कि सन्त नटों की कला के विविध रूपों से परिचित थे । इस काल में नटों की कला काफी उन्नत अवस्था में थी, जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा में इसका उल्लेख किया है ।[2]

कठपुतली—सन्त अपने युग के कठपुतली के खेल से परिचित थे । कठ-पुतली नचाने की कला इस देश में प्राचीन काल से चली आ रही है । यह कला एक समय इस देश में बहुत समुन्नत स्थित में रही है । 'महाभारत,' 'काम-सूत्र,' 'पंचतन्त्र,' तथा 'नैषधीयचरितम्' आदि के सन्दर्भों से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सूत्रों के द्वारा काठ की पुतलियों को सञ्चालित करके अभिनय करने की कला इस देश में परम्परागत रूप से चली आ रही है ।[3] कबीर सूत्रधार की इस चित्र के समान कला का उल्लेख करते हैं । अर्जुनदेव के अनुसार काठ की पुतली अपने आप क्या करती है, उसका क्रीड़ा-कौतुक तो उसको खिलाने वाला जानता है । ये पुतलियाँ मिट्टी, कागज तथा काठ से बनाई जाती थीं । "कागद के तन पुतरा, डोरा साहेब हाथ"—(धरमदास) या "माटी की यह पुतरी जोरि किया सेह करम कमासि"—(अर्जुनदेव) अथवा "काष्ठ केरी पुत्तली काष्ठ न्यारी नाहीं"—(रामचरण) ।[4]

बाजीगरी—लोक में बाजीगरी का खेल बहुत प्रचलित तथा आकर्षक मनोरञ्जन का साधन रहा है । मध्ययुग में इसका पर्याप्त प्रचलन रहा है, इनका साक्ष्य सन्तों का काव्य प्रस्तुत करता है । नट-कला के समान बाजीगरी

१—क० ग्र० (अर्जुन), पृ० १७९;८१ : वही०, पृ० ४०३;५ : रज्जब बा०, पृ० ५५;७ : गु० बा० भु०, पृ० २३७;५६१ : दरि० वि० अनु०, पृ० १६;८० : या० बा०, पृ० ३;७ : रामचरण बा०, पृ० ६१; १८ : वही०, पृ० २९२;२६. २—जहां आ० का०, पृ० ४७९. ३—महाभारत ५३२;१ : काम सूत्र १।३।१६ : पञ्चतन्त्र १।५ : नैषधीयचरितम २, पृ० १८;१३. ४—क० ग्र०, पृ० २४१; ५ : गु० ग्र०, पृ० २०६;५ : वही०, पृ० १३०४;२ : धरम० बा०, पृ०, ७;२ : रामचरण बा०, पृ० १६६;२.

के रूपक भी सन्तों ने अपनी अनेक आध्यात्मिक समस्याओं के लिये प्रयुक्त किये हैं। इनमें इस काल में प्रचलित इस कला का रूप परिलक्षित होता है। कबीर बाजीगर का अङ्कन करते हैं—"बाजीगर अपना डङ्क (डमरू या डुगडुगी) बजाकर अपने चारों ओर तमाशा देखने वालों की भीड़ एकत्र कर लेता है। फिर वह अपनी झूठी कला को दिखाकर सबको भ्रम में डाल देता है। वह अनेक खेल करता है, तमाशा दिखाता है, अपना स्वाँग दिखलाता है और कभी डोर में बाँध कर बन्दर नचाता है। उसकी बाजीगरी का रहस्य या तो वह स्वयं जानता है अथवा उसका चेला जानता है। जिस प्रकार वह अपने खेलो को करता है, दूसरा देखने वाला उसे नहीं समझ पाता। बाजीगर जब अपना खेल समेट लेता है, सारी भीड़ चली जाती है और वह अपने आप अकेला रह जाता है।"[1]

रैदास ने बाजीगर के तमाशा को झूठ (भ्रामक) मानकर कौतुक की वस्तु कहा है, और स्वीकार किया है कि चेला ही उसके रहस्य को जानता है। नानकदेव ने बाजीगर के वेष बदलने और स्वाँग करने की चर्चा की है। दादू ने बाजीगरी के खेल में फूँक मारने, मूठ चलाने, युद्ध आदि का कौतुक दिखाने तथा पुतली को मारने का उल्लेख किया है। इनके अनुसार बाजीगर चुटकी बजाकर ऐसा तमाशा करता है कि लोग तन-मन सब भूल जाते हैं और उसकी चतुराई को कोई नहीं समझ पाता। उन्होंने बाजीगर के द्वारा बन्दर नचाने की चर्चा भी की है।[2] बाजीगर से सम्बन्धित इन्हीं दृष्टियों की चर्चा रज्जब, पानप, मलूकदास, उपगारी, चरनदास, सुन्दरदास, रामचरण तथा पलटूदास आदि ने की है।[3] हरिपुरुष ने बाजीगर के द्वारा ढोल

१—क० ग्र०, पृ० १६९;२३८ : वही०, पृ० १६९;२४० : वही०, पृ० २३१ रमैणी : वही०, पृ० २९९;११६ : क० बीजक, पृ० २३६;७८ : वही०, पृ० २०३; ५६ : वही०, पृ० २३२;७४. २—रवि० उ० का०, पृ० १११;३३ : वही०, पृ० ३८३;९५ : गु० ग्र०, पृ० ७६६;१ : दा० बा०, भा० २, पृ० १२१; ३०६ : वही०, पृ० १६;४० : वही०, भा० १, पृ० १९६;१७ : दा० : मङ्गलदास : पृ०, १०६;११४. ३—रज्जब बा०, पृ० २५३;५४ : वही०, पृ० २७०;१५७ : पा० बो०, पृ० ४३;३ : वही०, पृ० १२२;१७ : सु० बे०, पृ० ४०;४० : मलूक० बा०, पृ० २१;१४ : उपगारी० बा० हस्तलिखित ग्रन्थ मा० सा० सम्मेलन, पृ० १०;१२ :

बजाकर माया विस्तारने की चर्चा की है। वह बाँस पर चढ़ता है और डोरी फैलाता है। ऐसा जान पड़ता है कि नट-कला तथा बाजीगरी में एक स्तर पर समता रही है। रामचरण ने बाज़ीगर के चेले के लिये 'जम्बूरा' शब्द का प्रयोग किया है, इस जमूरा का प्रयोग आज भी बाज़ीगर इसी रूप में करते हैं।[1] जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा में कर्नाटक के शोबदेबाजों अर्थात् बाज़ीगरों की प्रसिद्धि की चर्चा की है। डॉ० अशरफ़ के अनुसार भी मध्यकाल में कुशल बाज़ीगर होते थे।[2]

गुड़िया का खेल—लड़कियों में यह खेल प्राचीनकाल से चला आ रहा है। काठ की कठपुतलियों तथा कपड़े आदि की गुड़ियों में विशेष अन्तर नहीं, केवल सूत्र के माध्यम से सञ्चालित होती हैं और उनके द्वारा तब अभिनय प्रस्तुत किया जाता है जब कि दूसरी ऐसे ही हाथों से खेली जाती हैं। इनके प्रचलन का उल्लेख 'कथासरित्सागर' 'कुट्टनीमतम्' और 'कादम्बरी' आदि में मिलता है।[3] पानपदास तथा दादूदयाल ने इस खेल की चर्चा की है—"गुड़िया तो खेलती फिरती है, परन्तु अपने प्रिय की प्यारी कहती है" अर्थात् गुड़िया खेलने की अवस्था बालापन है। दादू के अनुसार—"यह तन है कागद की गुड़िया, कछु एक चेत विचारे।"[4]

पतङ्ग उड़ाना—मध्यकाल में पतङ्ग उड़ाना भी एक रोचक मनोरञ्जन का साधन रहा है। पतङ्ग डोर में बाँधकर आकाश में उड़ाई जाती है। यह रङ्ग-रङ्ग के कागज की बनाई जाती है। पतङ्ग आकाश में हवा के सहारे ही उड़ सकती है। मन पतङ्ग के समान ही चञ्चल है। मन के समान गुड़ी आकाश में ऊँचे उठती जाती है। आकाश में डोरी के सहारे पतङ्ग ज्यों-ज्यों ढील पाती है, विस्तार में उड़ती है और खींचने पर पास आ जाती है। यह कागज की गुड़िया (गुड़ी) पवन के सङ्ग उड़ती है और डोर के सहारे इसको उड़ाने वाला लिये घूमता है। हवा के बन्द होते ही यह भी गिर

चरन० बा०, पृ० १७४; २३ : सु० ग्र०, भा० १, पृ० १३०; १५ : पलटू०, भा० १, पृ० ८२; ३६, ३८. १—हरि० पु० बा०, पृ० २०६; २ : रामचरण बा०, पृ० २५१; ५४. २—तु० जहाँगीरी, पृ० १४३ : वही०, पृ० ४१२ : ला० ए० क० आ० हि०, पृ० २०९. ३—प्रा० भा० मनो० (मन्मथ) पृ० २६२ ; काद०, पृ० १०१. ४—दा० बा०, भा० २, पृ० ११; २६ : सु० बेद, पृ० ७१; ४१.

पड़ती है और नष्ट भी हो जाती है। इस प्रकार सन्तों ने पतङ्ग उड़ाने की पद्धति का अपने काव्य में व्यापक प्रयोग किया है।[१]

आतिशबाज़ी—इस काल में बारूद के द्वारा तैयार की हुई आतिशबाज़ी की कला का पर्याप्त प्रचार था। इसमें अनेक रङ्गों के प्रकाशों के द्वारा अनेक प्रकार की आकर्षक आकृतियाँ बनाई जाती थी।[२] सन्तों ने इस काल का विशेष उल्लेख नहीं किया है पर पलटूदास आग के द्वारा दागे जाने पर आकाश में उड़ने वाली आतिशबाज़ी की चर्चा करते हैं।[३]

गोष्ठियाँ—अनेक प्रकार की गोष्ठियों का भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन-काल से उल्लेख मिलता है। इनमें से कुछ उत्सव-गोष्ठियाँ होती थीं, कुछ नृत्यगान की गोष्ठियाँ और कुछ खान-पान की गोष्ठियाँ होती थीं। राजशेखर ने तो काव्य-गोष्ठी का भी उल्लेख किया है—(काव्यमीमांसा)। सन्तों ने गोष्ठी शब्द का प्रयोग सन्त गोष्ठी या सन्त समागम के लिये किया है। इससे इतना सङ्केत मिलता है कि इस काल में भी गोष्ठियों की स्मृति सुरक्षित रही है। इन्होंने इसके लिये 'गोसट', 'गोठड़ी', 'गुष्टि', 'गोष्टि' तथा 'गोसटी' शब्दों का प्रयोग किया है।[४]

चौगान का खेल—प्रायः इसको मध्ययुग में परशिया से भारत में आया हुआ खेल माना गया है। यह खेल मुसलमान बादशाहों में अधिक प्रचलित रहा है। कहते हैं, कुतुबुद्दीन ऐबक की मृत्यु घोड़े पर चौगान खेलते समय लाहौर में हुयी थी। तुर्क इस खेल के बड़े शौक़ीन थे। बाद में यह खेल काफी प्रचलित हुआ।[५] सन्तों में दरिया (मा०) ने इस चौगान के खेल को सत्य की दौड़ के रूप में स्वीकार किया है। पलटू के अनुसार इस खेल में ढोल

१—क० ग्रं०, पृ० १६१;२१५ : गु० ग्र० (रामदास) पृ० १६८;५१ : रज्जब बा० स० सु० सा०, पृ० ५२९;४६ : धरनी० बा०, पृ० ४३;५० : तु० घ० रा०,पृ० ३८;१० : क० ग्रं०,पृ० ११७;९१. २—मध्ययुग का इ०, पृ० ४४०. ३—पलटू० बा० भा०, पृ० १३;३०. ४—स० कबीर,पृ० २८२; २३२ : वषना० बा०, पृ० १७६;२ : सु० वेद०, पृ० २८ : ११ धरनी० बा०, पृ० ८; ११ : हरि० पु०, पृ० २६ : सु० वि०, पृ० १३७;१ : गरी० बा०, पृ० २;१७ : रामचरण बा०, पृ० ४६५;२७. ५—ला० ए० क० आ० हि० (जीवन प्र०) पृ० १८६ : उ० ते० का० भा०, भा० १, पृ० २१६ : अकबरनामा, पृ० २७.

भी बजाया जाता था और यह खेल काफी खतरनाक भी सिद्ध होता था। हरिदास के अनुसार यह घोड़े पर खेला जाने वाला खेल है। सुन्दर ने इस खेल में कन्दुक तथा चौगान (बल्ला) के उपयोग की चर्चा की है।[1]

शिकार—भारतवर्ष में शिकार खेलने की प्राचीन परम्परा रही है। अनेक पशुओं का शिकार उनके उपयोग की दृष्टि से तो किया ही जाता था, साथ ही केवल मनोरञ्जन तथा क्रीड़ा की दृष्टि से सिंह, बाघ, हिरण, बारहसिंघा आदि पशुओं तथा पक्षियों का शिकार भी किया जाता था। मध्यकाल के बादशाहों और राजपूत-राजाओं में शिकार खेलने का बहुत शौक़ था और उनका यह शौक़ व्यसन की कोटि में पहुँच जाता है।[2] कबीर जङ्गल में जानवरों का शिकार करने वाले **अहेरी** का उल्लेख करते हैं, जो रात-दिन मृगों का शिकार करता है, जिनकी चिन्ता में हरिणी हरे-भरे जङ्गल में भी दुबकी रहती है। वे बन्दर तथा तोता को फँसाने की चर्चा करते हैं। बन्दर को फाँसकर नचाया जाता है और तोता बेंच दिया जाता है।[3]

धरमदास शिकारी के द्वारा **गुलेल** से पक्षियों के शिकार की चर्चा करते हैं। रज्जब ने सियार मृग, चीता, हाथी और शार्दूल के शिकार का उल्लेख अपने रूपक में किया है। वषना मृगों के मारने वाले शिकारी का वर्णन करते हैं। दादू और सुन्दरदास के अनुसार सब जीव लोभ में आकर अपने आप को फँसा लेते हैं।[4] धरनीदास कुत्तों को साथ लेकर जङ्गली जानवरों के शिकार करने वाले, जाल लेकर मछली पकड़ने वाले तथा चारों ओर से आग जलाकर जङ्गल में जानवरों को घेरने वाले शिकारियों का उल्लेख करते हैं और उपगारी व्याध के द्वारा बाण से मृग को मारने की चर्चा करते हैं।

१—हरि० (मा०) पृ० २५;१७ : पलटू० बा०, भा० २, पृ० १३; ३६ : हरि० पु० बा०, पृ० ३८२;५ : सु० बि०, पृ० ७२;२. २—कादम्बरी, पृ० ४० : वही०, पृ० १११ : उ० ते० का० भा०, भा० १, पृ० १५७ : म० यु० का० इ०, पृ० ३९२ : अकबरनामा, पृ० २९, ३२, ३५ : अकबर, पृ० १८४ : म० का० भा० स०, पृ० ४२ : जहां० आ० क०, पृ० ४०५. ३—क० ग्र० पृ० २७६; ४२ : वही०, पृ० २०६;३५३ : क० बीजक, पृ० ३९;१९ : वही०, पृ० १५९; ३१ : वही०, पृ० ३३९;१९. ४—धरम० बा०, पृ० ४३;८ : रज्जब बा०, पृ० ३८१;१२ : वषना० बा०, पृ० १४;४ : दा० बा० (महा०) पृ० १००;३५.

दरिया (वि०) शिकार करने की पद्धतियों में खेदा करना, जाल डालना, गगरी में अन्न रखना तथा धनुष-बाण से मारना स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार गुलाल साहब, पलटूदास तथा तुलसी साहब ने शिकार के विषय के सन्दर्भ प्रस्तुत किये हैं।[१]

चित्रालेखन—भारतवर्ष में चित्रों के आलेखन की कला प्राचीन काल में समुन्नत स्थिति में थी और मध्यकाल में भी इसका प्रचार और प्रसार पर्याप्त रहा है। इसके अतिरिक्त लोक में भी विविध प्रकार के चित्रों के आलेखन की परम्परा रही है।[२] सन्त इस कला के स्वरूप से परिचित हैं। कबीर विविध प्रकार के चित्रों का आलेखन करने वाले चतुर चित्रकार (चितेरा) की चर्चा करते हैं। धरनीदास चित्र-लिखित चित्रशाला का उल्लेख करते हैं। गुलाल साहब ऊँचे मन्दिर में स्थित चित्रसारी का वर्णन करते हैं और सुन्दरदास शिलाओं को कोर कर (सम्भवतः गुफाएँ बनाकर) चित्र बनाने की पद्धति से परिचित हैं।[३] इसके अतिरिक्त सन्तों ने कला शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया है।[४]

व्यसनःजुआ—जुआ खेलने का उल्लेख वैदिक-साहित्य से ही मिलता है। 'महाभारत' में युधिष्ठर और शकुनी के पासे के खेल से उस महायुद्ध का प्रारम्भ

१—धरनी बा०, पृ० ८;१८ : उप० (हस्तलिखित ग्र०) पृ० १७;८२ : दरि० (वि०) पृ० १२४;१५ : गु० बा० भु०, पृ० १४१;४०० : रामचरण बा० पृ० १३४; ५ : पलटू० बा० भा०, पृ० ३२;८३ : तु० घ० रा०, पृ० ६४;७. २—चित्रकला के प्राचीन सन्दर्भों के लिये प्रतिमा, शाकुन्तल, उत्तर-रामचरित, रत्नावली, मालतीमाधव, कपूरमञ्जरी नाटकों तथा कादम्बरी, हर्षचरित, कथासरित्सागर तथा नैषधचरित आदि को देखा जा सकता है। मध्यकालीन चित्रकला के लिये द्र० हि० का इ०—डॉ० ताराचन्द, पृ० ३८८ : ला० ए० क० आ० हि० पृ० १८९ : भा० लो० नी० स० : डॉ० पुरण : पृ० २१७. ३—क० ग्र० पृ० २२४ रमैणी : धरनी० बा०, पृ० १;२ : गु० बा० भु०, पृ० १४१;४०१ : सु० बि०, पृ० १२५;५. ४—क० ग्र० पृ० २०३;३४० : गु० ग्र०, पृ० ११८२;३ : धरम० बा०, पृ० १०;४ : दरि० (बि०) अनु०, पृ० ९०;४ : बु० बा०, पृ० २६;७७ : यारी० बा०, पृ० ३;६ : पलटू० बा०, भा० २, पृ० २४;५४.

माना जाता है। मध्यकाल में जूए के रूप में चौपड़ और शतरञ्ज का खेल खूब प्रचलित था।[1] सन्तों के सन्दर्भों से कहा जा सकता है कि चौपड़ का प्रचार लोक-समाज में बहुत अधिक था। अपने आध्यात्मिक रूपकों में उन्होंने जुआरी तथा चौपड़ का पर्याप्त प्रयोग किया है। सन्तों ने संसार में मनुष्य को जुआ में हारे हुए जुआरी के समान माना है जो गाँठ की पूँजी खोकर संशय में पड़ता है। जुआरी हार कर जिस प्रकार हाथ मारकर उठ जाता है, उसी प्रकार जीव जम के आगे हार कर बैठ जाता है। मनुष्य अपने जन्म को जूए में हार जाता है। उसको अपने प्रभु के सम्मुख सब कुछ हार जाना चाहिये। इस संसार मे प्राणी लूटता-खसोटता हुआ जुआ की बाजी लगाता है, पर प्रभु के सम्मुख यह सब निरर्थक है। उसके भजन के बिना सारा जीवन जुआरी के प्रयत्न के समान निरर्थक चला जाता है।[2]

चौपड़—जैसा कहा गया है सन्तों ने चौपड़ का, जो कि पासों का खेल है, रूपक विशेष रूप से प्रयुक्त किया है। कबीर अपने युग के बाजारों के चौराहों पर बिछे हुए चौपड़ के खेल से परिचित हैं। इस खेल में पासा फेंककर गोटों को चलते हैं और इस प्रकार अपने दाँव पर खेलते रहते हैं। इस प्रकार पासा फेंक-फेंक कर चौपड़ का खेल होता रहता है। इसकी चार फड़ों पर चार व्यक्ति खेलते हैं। वे खेल में बाजी लगाते हैं, कबीर यहाँ संसार में कर्मों की बाजी का उल्लेख करते हैं।[3] नानक भी धर्म-कर्म की चौपड़ का रूपक प्रस्तुत करते हैं, जिसमें पासा, दाँव तथा बाजी का उल्लेख हुआ है। धरमदास इस खेल में **पक्कीसार** (गोट) की चर्चा करते हैं। वस्तुतः जो गोट घूमकर अन्दर प्रवेश करने के निकट आ जाती है उसे पक्कीसार कहते हैं। सुन्दरदास कहते हैं कि सार के मरने के बाद पुनः पासा फेंककर उसे चलना होता हैं। ये तीन पासों तथा चौरासी घरों का उल्लेख भी करते हैं। गरीबदास ने चौपड़ की सोलह सारों का उल्लेख किया है जो पक जाने (पक्की हो जाने) पर अपने-अपने घर वापस आ जाती हैं और फिर उनको चारों ओर

१—प्रा० भा० रा० सा० इ०, पृ० १३४ : ला० ए० क० आ० हि०, पृ० १९९ : म० का० भा०, पृ० २३०. २—सु० वे०, पृ० १५८; १ : उपगारी बा०, पृ० ११; १८ : धरनी० बा०, पृ० ५२; २२ : दरि० (बि०) अनु०, पृ० १३७; १८. ३५ : सिगाजी० हि० अ०, वर्ष १०, अं० ३, पृ० २१ : हरि० पु० बा०, पृ० २००; २३ ३—क० ग्र०, पृ० ४; ३१, ३२ : क० बीजक, पृ० २४४; ८६ : वही०, पृ० २५५; ८९ : वही०, पृ० ३०२; : क० ग्र० पृ० २९७; ११२.

घूमना नहीं होता। पलटूदास भी लोक-लाज छोड़कर राम के साथ चौपड़ खेलने की बात कहते हैं। इस खेल में ज्ञान का पासा, विश्वास की सार, चौरासी योनियों के घर और मोक्ष की **पौबारह** मानी गयी है।[1] इन उद्धरणों से इस युग में चौपड़ के खेल की लोक-प्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जाता है।

मदिरापान—इस युग में इस्लाम-धर्म के बावजूद सामाजिक-जीवन में मदिरापान का पर्याप्त प्रचलन रहा है।[2] कलाली तथा मदिरा बनाने की पद्धति के बारे में चर्चा पिछले प्रकरणों में की जा चुकी है। सन्तों ने मदिरा-पान के रूपक भी व्यापक रूप में प्रयुक्त किये हैं। कबीर के अनुसार मदिरा (प्रेम रस) पीने में आनन्दप्रद है, पर उसका पीना सुलभ नहीं क्योंकि कलाली इसके लिये सिर माँगता है। यहाँ लौकिक-सन्दर्भ में यह अर्थ लिया जा सकता है कि मदिरापान करने वाला अपना सर्वस्व कलाली को सौंप देता है। आगे कबीर कलाल की भट्टी पर एकत्र होने वाली शराबियों की भीड़ की भी चर्चा करते हैं। शराब पीकर लोग झूमने लगते हैं और उनका खुमार कभी नहीं टूटता। सन्तों ने प्रायः आध्यात्मिक आनन्द के लिये इसका रूपक स्वीकार किया है, इसीलिये वे इसे रस, सुधारस, अमृत और महारस आदि कहते हैं। अन्यत्र कबीर कलालिन के द्वारा प्यालों में भर-भर कर शराब पिलाने की चर्चा करते हैं। इस वारुणी को पीकर प्राणी नशे में चूर हो जाता है।[3]

रैदास कलाली से एक प्याले की माँग करते हैं और मिलने पर शिकायत करते हैं कि उसने सिरका-सा प्याले में क्या दे दिया? कलाली उत्तर देता है कि वह सिर देने वाले को ही प्याला देता है (शुद्ध मदिरा का)। इसी प्रकार नानकदेव, दादू, दरिया (वि०), गुलाब साहब, दूलनदास, चरनदास तथा तुलसीसाहब ने भी आध्यात्मिक प्रेम तथा आनन्द के सम्बन्ध में मदिरापान

१—गु० ग्रं०, पृ० ११८५;१ : धरम० बा०, पृ० ८१;२ : सु० ग्र०, भा० १, पृ० ३४३, ४८५ : गरीब बा०, पृ० १८१;१० : पलटू० बा०, भा० १, पृ० २९;७५. २—मु० का० भा०, भा० १, पृ० ३९१ : जहाँ आ० क०, पृ० ३४१ : ला० ए० क० आ० हि०, पृ० ९१. ३—क० ग्र०, पृ० ६६;२,३,४ : वही०, पृ० २५६;१०१ : वही०, पृ० ११०;७२ : क० बीजक, पृ० १५७.

की चर्चा की है।[1] जिस प्रकार मदिरा पीने वाला उसकी मादकता में मस्त रहता है, उसी प्रकार सन्त अपनी साधना में, ईश्वर के प्रेम में मस्त रहते हैं, प्रायः यही भाव सन्तों के इन रूपकों में व्याप्त है।

अन्य व्यसन—मदिरा के अतिरिक्त सन्तों ने निम्नलिखित अन्य नशा करने वाले व्यसनों की चर्चा की है। **भाँग, अफीम, और हुक्का।** भाँग **कूड़ी** में घोंटकर साफी से छानी जाती है। हुक्का में नेचा लगा रहता है और चिलम भर कर पिया जाता है।[2]

अन्ध-विश्वास के विविध रूप—सन्तों के काल में समाज में रूढ़ियों तथा परम्पराओं के साथ अन्ध-विश्वासों का व्यापक प्रभाव था। उन्होंने धार्मिक-क्षेत्र के अन्ध-विश्वासों का कड़ा विरोध तो किया ही है, साथ ही अन्य अनेक अविश्वास के रूपों—टोना-टुटका, झाड़-फूँक, जन्त्र-मन्त्र, शकुन-विचार आदि की भी कटु-आलोचना की है। धार्मिक मतों और सम्प्रदायों के मूड़-मूड़ाने, पत्थर पूजने, मसजिद में अज़ान देने आदि को सन्तों ने वास्तविक धार्मिक भाव नहीं माना है। इनका इस प्रकार का भाव सर्वत्र व्यक्त हुआ है। परन्तु साथ ही उन्होंने उपर्युक्त जादू-टोना आदि के अपने युग में प्रचलित रूपों के सन्दर्भ भी प्रस्तुत किये हैं। इनका उपयोग या तो रूपकों में किया गया है या उनके प्रति व्यङ्ग और आलोचना की दृष्टि रही है।

जादू-टोने आदि की प्रथा भारतवर्ष में प्राचीन काल से चली आ रही है। अथर्ववेद में अभिचार, सम्मोहन, मारण तथा वशीकरण आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है। यह परम्परा अनेक रूपों में विकसित होती हुई मध्ययुग में लोक परिव्याप्त थी। इसके अनेक रूपों में पिशाच-बाधा, तावीज-बाँधना, शकुन-विचारना, भूत-प्रेत, डाकिनी-शाकिनी आदि पर विश्वास करना उस काल में प्रचलित थे। जादूगर के द्वारा मनुष्य को जानवर बनाना, आकाश

१—सं० रवि० उ० का०, पृ० ११४;४० : गु० ग्र०, पृ० ३६०;३८ : दरि० वि० अनु०, पृ० ६;११ : वही०, पृ० २०; ५९ : गु० बा० भु०, पृ० ५०;१४० : दूलन० बा०, पृ० १९;८ : चरन० बा०, पृ० १७१;१८ : तु० ध० रा०, पृ० १२७;१६. २—सं० कबीर, पृ० २८२;२३३ : सु० वि०, पृ० १०७;७ गु० बा०, पृ० २६;१० : पलटू० बा, भा० २, पृ० ७६;९१ : सु० वेद, पृ० १५५;१२.

में उड़ना तथा प्राकृतिक शक्तियों को बांध देने की चर्चा इस काल में मिलती है। झाड़-फूँक का भी प्रचलन रहा है।[1]

टोना-टोटका—नज़र लगाना एक प्रकार का टोना ही है। स्त्रियाँ बच्चों को नज़र लगा देती हैं, इससे उनको अत्यन्त कष्ट हो जाता है। परन्तु ऐसी डायन के बारे में जब लोगों को ज्ञात हो जाता हैं, तो सब लोग उसका फ़ज़ीता करते हैं, उसका मूड़ मुड़ाकर गधे पर चढ़ाकर सारे नगर में घुमाते हैं। सुन्दरदास के इस वर्णन में उस युग की स्थिति का पता चलता है। इस युग में लोक में डायन का आतङ्क भी बहुत था। कबीर जीव को डसने वाली और लोगों को नचाने वाली (परेशान करने वाली) डायन का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार बुल्ला, रामचरण और तुलसी साहब ने लोगों को सताने वाली डायन (माया) की चर्चा की है।[2]

भूत-प्रेत बाधा—भूत-प्रेतों पर विश्वास करना लोक के अन्धविश्वास का प्रमुख अङ्ग है। सन्तों ने यन्त्र-तन्त्र तथा टोना-टुटका के साथ भूतों की प्रथा तथा उनकी झाड़-फूँक की चर्चा की है। लोकविश्वास के अनुसार कबीर भी कहते हैं—"जिस घर में हरि की पूजा नहीं होती, वह मरघट है और वहाँ भूत-पिशाच रहते हैं।" उन्होंने **मूठ चलाने** का भीं उल्लेख किया है। धरनीदास झाड़-फूँक करने वाले तथा जन्त्र-तावीज देने वाले ओझा और सगुनियों की चर्चा करते हैं।[3] चरनदास मसान-साधना करने वाले वीर, मूठ चलाने वाले सयाने और भूतों का वर्णन करते हैं, लेकिन उनके अनुसार यह संसार प्रभु का नाम न लेकर जादू-टोना और भूत आदि में विश्वास करता है। गरीबदास जानते हैं कि लोग सयानों की मूठ से कितने आतङ्कित रहते हैं। पलटूदास ने इसी सम्बन्ध में ओझा की झाड़-फूँक और ताबीज की चर्चा की है। दूलनदास ने भूत आदि के चढ़ने का वर्णन करते हुए सन्ध्या से प्रातः तक सिर झटकने और अभुवाने का उल्लेख दिया है और ढोल-मञ्जीरा बजाते

१—म० का० भा० सं०, पृ० ५० : दाराशि०, पृ० २१ : सि० का० भा०, पृ० १८१ : म० यु० इ०, पृ० ५४२ : भु० का० भा०, भा० १, पृ० ६१ : जहां० आ० क०, १०८; १३२. २—क० ग्र०, पृ० ९१; ९ : वही०, पृ० १६८; २३६ : बुल्ला० बा० भु०, पृ० २९; ७८ : रामचरण बा०, पृ० ५९०; ११ : तु० श० सा०, भा० १, पृ० २१. ३—क० ग्र०, पृ० २; ८ :

हुए ओझा के द्वारा जादू का मन्त्र पढ़कर भूत उतारने की चर्चा की है। पलटू ने लोक प्रचलित कहावत 'मार से भूत भगाने' का प्रयोग किया है।[1]

सगुन-विचार—अनेक प्रकार के सगुनों का विचार सन्त-काव्य के आधार पर निर्धारित किया जा सकता है, जो इस युग में प्रचलित रहा है। कबीर के अनुसार दक्षिण दिशा में **श्वान के भूकने** पर सगुन का विचार किया जाता था।[2] **अङ्गों का फड़कना** भी शुभ अथवा अशुभ माना जाता है। बघना ने विरहिणी के प्रसङ्ग में दाहिनी आँख और भुजा के फड़कने का उल्लेख किया है, जिससे उसे प्रिय के आने की सूचना मिलती है।[3] इसी प्रकार **काग के बोलने** को भी शुभ माना जाता है। धरमदास विरहिणी के सूने मन्दिर पर काग बोलने की चर्चा करते हैं।[4] **सुर विचार** में श्वास के आने-जाने की प्रक्रिया के आधार पर सगुन का विचार किया जाता है। दरिया (वि०) ने इन सुरों के आधार पर विस्तार से "ज्ञान स्वरोदय" खण्ड में सगुन-विचार किया है। इनके अनुसार—'जिस समय दाहिनी नाक का सुर चल रहा हो उस समय पूर्व और उत्तर की ओर यात्रा करनी चाहिये और जब बायां सुर चल रहा हो उस समय दक्षिण और पश्चिम की यात्रा करनी चाहिये।" इसी प्रकार लोक-विश्वास के आधार पर उन्होंने इसकी विस्तृत चर्चा की है। इस आध्यात्मिक सन्दर्भ वाली चर्चा के आधार पर सम्भवतः इनके पन्थ के अनुयायियों में सुरों का विश्वास बहुत अधिक मान्य हो गया है।[5] **सूप बजाकर** घर की बला निकलने का सन्दर्भ दादू की वाणी में मिलता है, वस्तुतः दीवाली के दूसरे दिन प्रातःकाल सूप बजाने की, इसी विश्वास के आधार पर परम्परा है।[6]

व्यवहार:सामान्य—सन्तों के काव्य में लोक-प्रचलित अनेक सामाजिक-व्यवहारों की चर्चा भी हुयी है। उत्सव आदि के अवसर पर **ऐपन से चौक पूरी**

१—चरन० बा०, भा० २, पृ० १९;१ : वही०,पृ० ६७ : गरी० बा०, पृ० ६३;४ : पलटू० बा०, भा० १, पृ० ३२;६९ : वही०, पृ० ७६;११ : दूलन० बा०, पृ० २४;५. २—क० ग्र०, पृ० ९५;२. ३—बघना० बा०, पृ० १२१;१० : वही०, पृ० ४६;१. ४—धरम० बा०, पृ० ४६;१३ : वही०, पृ० २५;१४. ५—दरि०(बि०) अनु०, पृ० २६;२०३ से २५१ तक. ६—दा० बा० भा० १, पृ० १४६; १२५.

जाती थी। हर्षोल्लास के अवसर पर लोग प्रजाजनों को **न्यौछार** देते थे। किसी कार्य के उद्देश्य से व्रत तथा तीर्थ आदि करने की **मनौती** की जाती थी। गुरुजन **आशीष** देते थे। स्त्रियाँ अपने स्नेही जनों को **तिनका तोड़ कर** बलैया लेती थीं। **गुरु की आज्ञा** अथवा बड़ों के **फरमान** का इस युग में बड़ा समादर था।[१]

प्रणाम—गुरुजनों तथा बड़ों के प्रति आदर प्रकट करने के लिये अनेक प्रकार की प्रणाम करने की शैलियाँ प्रचलित थीं, जिनका उल्लेख सन्त-काव्य में भी हुआ है। किसी पूज्य के घर पर आने पर उसका समादर **आरती** उतार कर किया जाता था तथा अनेक फलों और मेवों को भेंट देकर **सत्कार** किया जाता था। पूज्यजनों के **चरणों को धोकर** चरणामृत ग्रहण करने की प्रथा प्रचलित थी। इसके बाद प्रणाम करने की पद्धतियों में दण्डवत करना—**साष्टाङ्ग लेटकर** प्रणाम करने की पद्धति; **कोर्निश**—खड़े-खड़े झुक कर प्रणाम करना; **सिजदा**—माथा टेककर प्रणाम करना तथा इनके अतिरिक्त **जुहार, बन्दगी** और **हाथ जोड़ने** आदि का भी उल्लेख हुआ है।[२]

अतिथि-सत्कार—भारतीय संस्कृति में प्राचीनकाल से अभ्यागत का सत्कार महत्वपूर्ण स्थान रखता है। मध्ययुग के इतिहास में ऐसे अनेक दृष्टान्त मिल सकते हैं जिनसे इस युग में इस परम्परा की पुष्टि होती है। मुगल बादशाहों ने इस अतिथि-सत्कार को हिन्दू-मुस्लिम दोनों परम्पराओं से ग्रहण किया था। डॉ० अशरफ़ के अनुसार इस युग में "अतिथि के आने पर दरवाज़े पर खड़े होकर स्वागत करना, जाते समय विदाई के लिये साथ जाना तथा मेहमान की खातिर के लिये तथा उसके आराम के लिये प्रत्येक वस्तु का ध्यान रखना मेहमान-नवाज़ी का एक अङ्ग था। हिन्दुओं का सत्कार

१—क० बीजक, पृ० ४८६; १११ : गु० बा० भु०, पृ० ७५; २१८ : बषना० बा०,पृ० १२१; १० : क० ग्र०, पृ० ८८; ४ : धरम०बा०, पृ० ६१; २ : वही०, पृ० १; २ : वही०, पृ० २५; १ : गु० बा० भु०, पृ० ११२; १२: सं० कबीर, पृ० ७२; ६९. २—धरम० बा०, पृ० १६; ३ : वही०, पृ० १० १ : वही०, पृ० १४; ११ : दरि० बि० अनु०, पृ० ५; ४२ : बही०, पृ० १३; २९ : दा० बा०, भा० १, पृ० २११; ३८ : सु० वि०, पृ० १३३; २८ : धरम० बा० ७; २७ : पलटू० बा०, भा० ३, पृ० १; १ : वही०, पृ० ९५; १३८.

मुसलमानों की भाँति दिखावटी नहीं होता था, वरन् अतिथि के आने से पहले घर में सजावट, लिपाई-पुताई आदि की जाती थी और अतिथि को पान-फूल आदि भेंट में दिया जाता था। विशेष अतिथि के आने पर चबूतरा बनाकर फूलों से सजाया जाता था, मस्तक पर लगाने के लिये चन्दन तैयार किया जाता था और आरती उतारी जाती थी। गुरु के अतिथि रूप में आने पर उसके चरण धोये जाते थे, शरीर पर चन्दन लगाया जाता था, गले में फूलों की माला पहनाई जाती थी और फूलों तथा तुलसी से उसके मस्तक की पूजा होती थी। गुरु के लिये विशेष भोजन बनाकर विशेष बर्तनों में परोसकर हाथ जोड़कर भोजन कराया जाता था।" इस प्रकार मध्ययुग में अतिथि-सत्कार के प्रचलन के अनेक प्रमाण मिलते हैं।[1]

ऊपर अतिथि-सत्कार के जिस रूप का सङ्केत किया गया है, सन्तों के काव्य में इसका व्यापक और विस्तृत रूप मिलता है। उन्होंने अपने अतिथि के रूप में प्रायः सत्गुरु और कभी-कभी प्रभु को माना है। और इसी कारण ऐसे अतिथि के आने पर उनके मन का उल्लास और उत्साह पूर्ण आवेग के साथ अभिव्यक्त हुआ है। सन्तों ने 'साहेब पाहुन' के लिये आनन्दित होकर चन्दन से आँगन पुताने तथा गजमुक्ताओं से चौक पुराने की चर्चा की है। फिर अतिथि के आने के लिये रत्नजटित पटोर पावड़े के रूप में बिछाने का उल्लेख करते हैं। अतिथि के आ जाने पर चन्दन की चौकी पर बैठाया जाता है, फूलों का हार गले में पहनाया जाता है, चरण धोकर चरणोदक लिया जाता है, चरण छूकर प्रणाम किया जाता है और हाथ जोड़कर विनती की जाती है। ऐसे अतिथि के आने पर कोई चँवर डुलाता है, कोई न्योछावर करता है और कोई बधाई अथवा मङ्गलगान करता है। किसी ने अतिथि के लिये पलङ्ग पर गलीचा (दुलीचा) भी बिछाया है। किसी ने धूप-दीप-नैवेद्य को अर्पित किया, फूलों की मालाएँ पहनाई और आरती भी उतारी है, इन सबके बाद कञ्चन के थाल में अनेक प्रकार के पकवान और व्यञ्जनों को सजाकर हाथ जोड़कर विनती करते हुए प्रेम सहित अतिथि के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। अनेक प्रकार के मेवा, फल (नारियल आदि), मिष्ठान्न, खीर, खांड़ तथा घृत के पदार्थ भोजन के लिये प्रस्तुत किये जाते

१—ला० ए० क० आ० हि० (जीवन), पृ० २३१ : तु० का० भा०, भा० १, पृ० २३६ : जहाँ० आ० क०, पृ० २०४.

हैं। भोजन के पश्चात् पान दिया ज ता है। तदनन्तर शयन के समय **चरणों को चापने** का उल्लेख भी किया है। लोक-भावना के अनुकूल अतिथि-सत्कार के अन्तर्गत आँगन में **इलायची और नागर के बेल** धोने का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त **गुरु की प्रदक्षिणा** करने की चर्चा भी मिलती है।[1]

प्रथाएँ : पातिव्रत सती—सती होने के सन्दर्भ प्राचीन साहित्य में भी यत्र-तत्र मिलते हैं, परन्तु उस काल में सती की प्रथा वहुत कम प्रचलित रही है।[2] मध्ययुग में इस्लाम धर्म और उनकी शक्ति प्रवेश के साथ इस देश में सती प्रथा का प्रचलन बढ़ गया था। इब्नेवतूता और मार्को पोलो जैसे यात्रियों ने अपने विवरणों में सती-प्रथा का उल्लेख किया है। इसी प्रकार अन्य ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर भी यह बात सिद्ध होती है कि आलोच्य युग में सती प्रथा का प्रचलन बहुत अधिक हो गया था।[3] सन्तों ने अपने युग की इस प्रथा के मूल में निहित भावना से अपनी आध्यात्मिक साधना के लिये प्रेरणा ग्रहण की है। सती नारी का प्रेम, उसकी लगन, निष्ठा और अनुरक्ति सन्तों के काव्य में सती एक प्रतीक के समान प्रयुक्त हुयी है। सन्तों के मन में लोक की व्यापक भावना के अनुसार सती के प्रति आदर का भाव है।

कबीर के अनुसार "सती श्मशान को अपने मित्र के समान समझती है, क्योंकि वह उसको संसार की क्षणभङ्गुरता का बोध कराता है। सती काठ की शय्या बिछाकर अपने प्रिय के प्रेम में आशक्त हुयी चारों ओर अग्नि प्रज्ज्वलित कर लेती है। वह अपने प्रिय के प्रेम के बल पर ही अग्नि की ज्वाला की परीक्षा उत्तीर्ण कर लेती है। जब उसने तन-मन प्रिय को सौंप दिया तो फिर अन्तर की रेखा ही कहाँ रह गई।" आगे कबीर ने इस

१—धरम० वा०, पृ० १२;७ : चरन० बा०, पृ० ५०;१ : धरम० बा०, पृ० ५०;१ से ७ तक : गु० बा० भु०, पृ० ७२;२०७ : वही०, पृ० ७२; २०८ : वही०, पृ० २९४;७४९ : वही०,पृ० २६७;७४९ : दा० बा० भा०, २, पृ० ८०;१९९. २—कादम्बरी, पृ० १७२ : हर्षचरित, पृ० ९७. ३—ला० ए० क० आ० हि० (जीवन), पृ० १५२ : म० यु० का० इ०, पृ० ५१७ ते० का० भा०, भा० १, पृ० १७१ : म० का० भा० स०, पृ० ५५ : जहां० आ० क०, पृ० ४५०, ७३१.

बात का भी उल्लेख किया है कि सती चिता पर जाते समय घूँघट नहीं निकालती, वह लोक-लाज की सीमाओं का अतिक्रमण करती है।[1] गुरु ग्रन्थ साहब में नानकदेव, अमरदास, अर्जुनदेव तथा रामदास ने सती का वर्णन किया है। नानक के अनुसार "सती नारी वही है जो अपने प्रिय के लिए अग्नि में प्रवेश करती है। जो शील और सन्तोष के साथ विरह की चोट को सह कर और आपको सम्भालकर अपने को जलती आग में समर्पित कर देती है।[2]"

सन्तों को सती का आदर्श अपनी प्रेम साधना के इतना अनुकूल लगा है कि उन्होंने प्रायः पतिव्रता या सती का एक अङ्ग ही अपनी वाणियों में रखा है। दादू ऐसी सती नारी का वर्णन करते हैं जो मन, वचन, कर्म से अपने पति के प्रति समर्पित रहती है और सोलह शृङ्गार करके प्रिय का नाम लेकर अपने शरीर को भस्म कर देती है। रज्जब सती के बिना नगर को सूना मानते हैं, वह अपने नगर की प्रतिष्ठा है। उनके अनुसार सती पति के बाद जलने को ही जीवन मानती है और तिल में संसार को त्याग देती है। वषना सती के जीवन को मृत्यु के उपरान्त स्वीकार करते, हैं, उसका शरीर नष्ट हो जाता है पर उसकी सुरति (यश) नष्ट नहीं होता।[3]

सुन्दरदास पतिव्रता के सम्बन्ध में लिखते हैं कि वह "अपने पति से प्रेम करती है, पति ही उसका यज्ञ, योग तथा क्षेम है। जप, तप, व्रत आदि सब वह पति के लिये ही करती है। पति ही उसका ध्यान है, दान है तीर्थ-स्थान है। पति के बिना उसकी गति नहीं।" इसी प्रकार यारी साहब, धरनीदास तथा दूलनदास ने सती के प्रति अपनी भावना व्यक्त की है। गरीबदास कहते हैं कि "सती चिता पर खड़ी होकर केवल राम (पति) का नाम लेती है और इसी नाम को रटते हुए सहज ही प्राण दे देती है।" चरणदास के अनुसार पतिव्रता का सारा रूप, शृङ्गार, वस्त्राभूषण और बालों की शोभा सब पति के प्रति अर्पित होती है। तुलसी साहब भी धन-धाम और सुहाग को त्यागकर तन और मन के अनुराग के कारण मृतक के साथ जल जाने वाली सती

१—क० ग्र०, पृ० ७१; ३३ से ३८ तक : वही०, पृ० १६२; २१७. २—गु० ग्र०, पृ० ७८७; ३ : वही० पृ० ५०६; १. ३—दा० बा० (जयपुर), पृ० ७७; ३० : वही०, पृ० १७४; ८ वही०, पृ० १७८; ५: रज्जब बा०, पृ० २१८; १४९: वही०, पृ० ३८१; ३: वषना० बा०, पृ० ११३; ९२ से ९४.

के आदर्श की कल्पना करते हैं।[1] इन समस्त सन्दर्भ को ऐतिहासिक विवरणों के साथ रखकर देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्तों ने अपने युग की लोक-भावना का किस सीमा तक अभिव्यक्तीकरण किया है।

पर्दा—समाज में स्त्री-पुरुषों के बीच पर्दा प्रथा नहीं थी, स्त्रियाँ मुक्त रूप से पुरुषों के साथ बाहर जाती थीं। वस्तुतः पर्दे का प्रचलन उत्तरी भारत में इस्लामी-संस्कृति के परिणाम स्वरूप हुआ है।[2] सन्तों के काव्य में इस प्रथा का विशेष उल्लेख नहीं है। जिस लोक-समाज से सन्तों का सीधा सम्बन्ध था, उसमें इस प्रथा का प्रचलन उस युग में भी अधिक नहीं हो सका था। सन्तों ने घूँघट का उल्लेख अवश्य किया है, परन्तु उसका सम्बन्ध बधुओं की लज्जा से है, पर्दा प्रथा से इतना नहीं। कबीर ने बहू के घूँघट की चर्चा लज्जा के सन्दर्भ में की है। इसी प्रकार नानकदेव की प्रेम दीवानी घूँघट खोल अर्थात् लज्जा त्यागकर अपने प्रिय के सम्मुख जाती है। पलटूदास ने लम्बा घूँघट काढ़ने वाली स्त्री जो दूसरों से प्रीति करती है, उसे नटी कहा है। इस प्रकार उन्होंने निरर्थक लज्जा और शील का अभिनय करने का उल्लेख किया है। गरीबदास, तुलसी साहब और बुल्ला ने पर्दा का उल्लेख अवश्य किया है।[3]

शृङ्गार के प्रसाधन—भारतीय शृङ्गार के प्रसाधन प्राचीन काल से प्रसिद्ध रहे हैं। भारतीय सामन्तों का जीवन अपनी चर्या में कलात्मक अभिरुचि का प्रतीक रहा है। प्रातःकाल सोकर उठने से लेकर रात्रि में सोने के लिये जाने तक उनके जीवन का अधिकांश क्रम शृङ्गार-प्रसाधनों में बीतता था। स्त्रियाँ अपनी सज्जा और शृङ्गार में अत्यन्त कोमल अभिरुचि रखतीं थीं। मध्यकाल में यह परम्परा चलती रही है, केवल उनके विस्तारों में किञ्चित् परिवर्तन परिलक्षित होता है। जायसी के 'पद्मावत' में पद्मावती के शृङ्गार-प्रसाधनों में नवरत्नों की सेज, खम्भों पर गढ़कर उभारी हुई पुतलियाँ, चन्दन की कटोरी, सिन्दूर की डिबिया, केसर, कुमकुम, चौवा, पानों का

१—सु० ग्र०, भा० १, पृ० ७: यारी० बा०, पृ० ५; १४ : धरनी० बा०, पृ० १६; १ : दूलन० बा०, पृ० २८; ३ : गरी० बा०, पृ० ५५; २६ से ३० तक : तु० बा०, पृ० १२५; ३. २—म० का० स०, पृ० ५३ : म० युका इ०, पृ० ५१८ : हि० सा० का० बृ० इ० भा० १ : डॉ० रा० पा०, पृ० १७१. ३—सं० कबीर, पृ०; १२४; ३४ : गु० ग्र०, पृ० ९३१; १२ : गरी० बा०, पृ० १६६; १ : पलटू० बा०, भा० १, पृ० ६४; २१० : तु० बा०, पृ० ६६; ११.

बीड़ा, मिस्सी की बीरी तथा कस्तूरी-भेद आदि का उल्लेख है। इसी प्रकार आगे जायसी ने—"शरीर-स्नान, चन्दन, वस्त्र, माँग सजाकर सिन्दूर, ललाट पर तिलक, नेत्रों में अञ्जन, कानों में कुण्डल, नाक में अनमोल फूल (वेसर), पान खाना, कनक का आभरण, कलाई के कङ्कन, कटि के आभरण, पावों में पायल तथा चूड़ी" आदि आभूषण पहनने का वर्णन किया है। डाँ० अशरफ़ के अनुसार—"महल के कमरों के एक कमरे में दुल्हा-दुल्हिन के लिये सेज बिछी रहती है। उसमें सोने के खम्भे लगे हैं और दासियाँ इत्र लिये खड़ी है। उनके एक हाथ में दीपक और दूसरे में इत्रदान है। कमरा मुश्क, पान के बीड़ा तथा फूलों की सुगन्ध से महक रहा है।" इस कथन से भी इस युग की शृङ्गारिक भावना का परिचय मिलता है।[१]

विभिन्न शृङ्गार के प्रसाधनों के साथ ही इस युग में स्त्री-पुरुष दोनों में आभूषण पहनने की बहुत रुचि थी। आभूषणों को धारण करने की परम्परा भी इस देश में प्राचीन काल से ही चली आ रही है। बाण के साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि हर्ष के समय तक इस देश में विविध अङ्गों के अनेकानेक सोने के रत्न-जटित आभूषण प्रचलित थे और मोती तथा मणियों आदि के आभूषण धारण करने का पर्याप्त प्रचलन था। मध्य-युग में भी आभूषणों को धारण करने की समानरुचि पायी जाती है। जायसी ने इन आभूषणों का विस्तृत वर्णन किया है।[२] अन्य ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस युग में अनेक प्रकार के सोने-चाँदी के आभूषण प्रचलित थे। इनमें से कुछ बहुमूल्य रत्नों से जटित होते थे और कुछ मोती तथा रत्नों के ही बनाये जाते थे। मुगल बादशाहों में औरङ्गजेब को छोड़कर सभी को बहुमूल्य आभूषण तथा रत्नों को धारण करने का शौक़ था और इनमें भी जहाँगीर की प्रसिद्धि इस विषय में विशेष है।[3]

प्रसाधन—सन्तों ने अपनी आध्यात्मिक साधना के प्रसङ्ग में जिन

१—पद्मावत, पृ० २९१, २९२ और २९६ : ला० ए० क० आ० हि०, पृ० २४३. २—हर्षचरित, पृ० ४६ : कादम्बरी, पृ० ९२, ९५ ९७ और १०४: पद्मावत, पृ० २९८, २९९ और ३०४. ३—उ० ते० का० भा०, भा० १, पृ० २७४ : हुमायूँनामा, पृ० ६५, उ०भ० का०भा०, पृ० ४६५ : तु० जहाँगीरी, पृ० ७९, १६७; २७८, २९५ ३१८, ३७५ : जहाँ० आ० क०, पृ० ३१८, ३२२, ३२८ : म० का० भा०: स० पृ० १३५.

शृङ्गार के प्रसाधनों का उल्लेख किया है, उनसे इस युग की अभिरुचि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यद्यपि इनका क्षेत्र लौकिक-जीवन नहीं था, फिर भी अपने पतिव्रता, सती अथवा वधू आदि के रूपकों में उन्होंने इन प्रसाधनों की चर्चा की है। सन्त, परम्परागत स्त्रियों के सोलह शृङ्गारों से परिचित थ। कबीर ने इनमें काजल, सिन्दूर, अञ्जन, मञ्जन, मेंहदी, माँग काढ़ना, जूड़ा बाँधना तथा सेज लगाना आदि का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त अङ्ग में चोवा-चन्दन आदि लगाने की चर्चा भी की है। शृङ्गार के लिये दर्पण की आवश्यकता की ओर भी कबीर का ध्यान है। उन्हें इस बात का भी अनुभव है कि इन शृङ्गार के प्रसाधनों से लौकिक सौन्दर्य की अभिवृद्धि होती है, घूँघट के अन्दर की काजल की एक रेखा से कौन उबर सकता है?[१] इसी प्रकार अन्य सन्तों में सोलह शृङ्गार की चर्चा यत्र-तत्र मिल जाती है।[२] इनके अतिरिक्त आँखों में काजल लगाना या सलाका (सलाई) से अञ्जन या आँजना,[३] दांतों में मञ्जन लगाना या दातुन करना,[४] शरीर में तैल-फुलेल लगाना (इत्र लगाना) अथवा सुगन्धित पदार्थों का लेप करना[५] साबुन लगाना,[६] दर्पण देखना,[७] शृङ्गारदान से शृङ्गार करना[८] सिन्दूर लगाना

१—क० ग्र०, पृ० १३३; १३९ : वही, पृ० १८७; २९४ वही०, पृ० २५७; १०७ : वही०, पृ० ५२; १८, १८८; २९५, ६३; ३ : क० बीजक, पृ० ३४४; १. २—गु० ग्र०, पृ० १३६१; २ : दा० बा०, भा० २, पृ० ५; १० : गु०, बा० भु०, पृ० ५२; १४५. ३—स० सु० सा० : शेख फ़रीद : पृ० ४१२; ६ : गु० ग्र०, पृ० ३५९; १ : वही०, पृ० ७३७; २. ४—वषना० बा०, पृ० ५; १९ : वही०, पृ० ९०; ६२ : दरि० वि०, पृ० २४; १५८ : रामचरण बा०, पृ० १५६; १८ : चरन० बा०, १४७, १४ : पलटू० बा०, भा० १, पृ० ५१, १११ : दा० बा०, भा० २, पृ० ५, १०. ५—स० कबीर, पृ० १८; १६ : हरि० पु०, पृ० २२७; ७ : पलटू० बा०, भा० १, पृ० ३२; ९१ : तु० शब्द०, भा० १; पृ० २७; २० : वही०, पृ० १२७; २४. ६—दा० बा०, भा० १, पृ० ६६; २२८ : रज्जब बा०, पृ० १८२; १११ : चरन० बा०, पृ० १०१; ४ : दूलन० बा०, पृ० ८; ४ : दरि० वि०, पृ० ५२; ३. ७—क० ग्र०, पृ० ६६; ३ : दा० बा०, भा० १, पृ० ३९; १९. ८—क० ग्र०, पृ० ६९; १२ : हरि०, पु० बा०, पृ० ३२१; १ : सु० वेद०, पृ० १९३; ७.
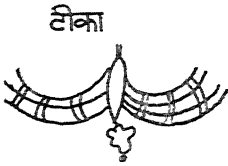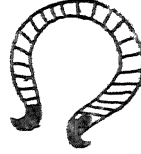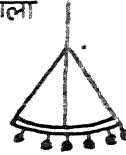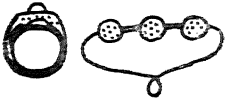
टीका
झूमर या झुमझुपी
जूड़ा
टीका
काँटा
चोटी
तिलक
झुमकी
बाला
झाला
अँगुठी
बाजू बन्द
पहुंची
धैल चूड़ी
चमक चूड़ी
चूड़ी
अनोखा

कंठ हार-गुलीबन्द
हमेला
सोटा
बेसर
भलुकिया नथ
आरसी
करा
पटिया
कंगन
कंठा
झुमकी
चौकी
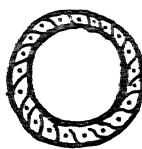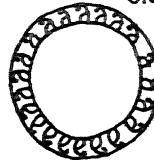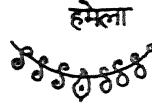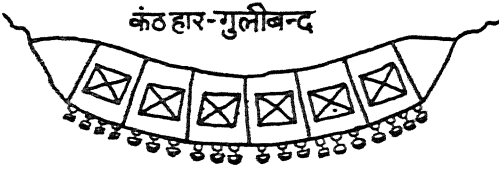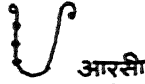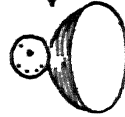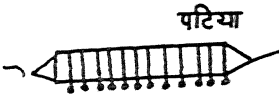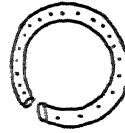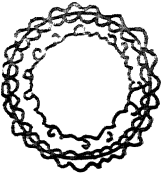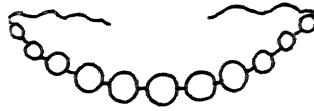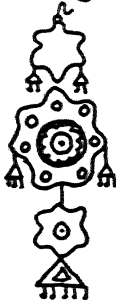
(माँग भरना), बेंदी लगाना,[1] चन्दन लगाना[2] और पैरों में आलता तथा महावर लगाना[3] आदि का उल्लेख सन्तों ने किया है। खिजाब का सन्दर्भ भी मिलता है—(वषना० बा०, पृ० १५, १३)।

आभूषण—सन्तों ने अपने प्रसङ्गों में लोकप्रचलित प्राचीन विभिन्न अङ्गों के आभूषणों की चर्चा की है। इन आभूषणों में कुछ आभूषण स्त्रियों के सौभाग्य के चिह्न के रूप में माने जाते हैं और कुछ शोभा के अलङ्करण हैं। सिर के आभूषण केशों से सम्बद्ध होते हैं। इनमें सीस-चोटी और सीस-फूल (माथे की मणि) की चर्चा की गयी है। जूड़े के ऊपर चूड़ा धारण करने का उल्लेख भी है।[4] कानों के आभूषणों में बाली, कुण्डल, ऐरन, तथा तरकी (तरविन) हैं।[5] माथे पर बेंदी धारण की जाती है।[6] नाक में नथ तथा बेसरि पहनते हैं।[7] गले में धारण किये जाने वाले आभूषणों में तोक, मोतियों का हार, कण्ठहार, जञ्जीर तथा हमेल की चर्चा हुयी है।[8] भुजाओं पर बाजूबन्द पहना जाता है और हाथों में कङ्गन, मातियों का कड़ा, चूड़ी-पहुँची और कड़ा धारण किया जाता है। अंगुलियों में मुदरी तथा हाथ के अँगूठे में आरसी का उल्लेख है।[9] पैरों के आभूषणों में अनवट, बिछुआ, पायल तथा घूँघुर की चर्चा की गयी है।[10]

वस्त्र-सज्जा—अपने काव्य में सन्तों ने विविध प्रकार के वस्त्रों के सन्दर्भ प्रस्तुत किये हैं। परन्तु जैसा स्पष्ट है, उन्होंने आध्यात्मिक जीवन के उपदेश

१—धरम० बा०, पृ० ४६;८ : वही०, पृ० ४७;५ : गु० ग्र०, पृ० ४१७; ३ : गु० बा०, भु०, पृ० ८७;५६ : दरि० वि०, पृ० ५८;१७ : सु० ग्र०, भा० १, पृ० ७६;१६, ६८;१९६. २—क० ग्र०, पृ० १८८;२९५. ३—दरि० वि०, पृ० १७०;४७. ४—वषना० बा०, पृ० ८७;५६ : दरि० वि०, पृ० १५८;२३ : सु० ग्र०, भा० १, पृ० ७६;१६. ५—क० ग्र०, पृ० २५०;१९ : दरि० वि०, पृ० १७०;४७ : गु० ग्र०, पृ० १३५४; ११. ६—वषना० बा०, पृ० २५;१. ७—दरि० वि०, पृ० १७०;४७ : पलटू० बा०, भा० ३, पृ० ६६;११५. ८—गु० ग्र०, पृ० ३५१;१ : वही०, पृ० ५८;४ : गरीब० बा०, पृ० १९१;९ : रामचरण बा०, पृ० ९०;१०. ९—गु० ग्र०, पृ० १३०८;५ : वषना० बा०, पृ० १२८; १०६ : रामचरण बा०, पृ० १५३; ८ : वही०, पृ० ८३;१६. १०—क० ग्र०, पृ० १३२; १३९ : धरम० बा०, पृ० ७८;१८ : पलटू० बा०, भा० ३, पृ० ६६;११५.

और साधना के प्रसङ्गों में ही ऐसा किया है। इसके अतिरिक्त इस विषय में यह स्मरण रखना भी आवश्यक है कि सन्त, समाज के ऐसे स्तर से सम्बन्ध थे जिसमें वस्त्र-सज्जा का बहुत साधारण स्तर स्वीकार किया जा सकता है। इस कारण इस युग के आभिजात्य-वर्ग में प्रचलित वस्त्रों की रूपरेखा इनके सन्दर्भों के आधार पर तैयार नहीं की जा सकती। इन्होंने कुछ प्रचलित वस्त्रों और कुछ साधारण जनों के द्वारा व्यवहृत वस्त्रों की चर्चा प्रमुखतः की है। इस युग के उच्चवर्ग में प्रचलित ज़रदोज़ी और ज़ोरबफ़्त के कपड़ों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं था। आगरा, फतेहपुर सीकरी तथा लाहौर आदि उत्तरभारत के नगरों और गुजरात एवं बिहार के विविध नगरों से आने वाले रेशमी कपड़ों, काश्मीर के शाल-दुशालों से भी इनका दूर का परिचय था।[1] इस युग में प्रचलित पाजामा, कुर्त्ता, दुपट्टा, कमीज़, कमरबन्द, क़वा दगला, पगड़ी, तंग मोहरी का पाजामा, सलवार, नादिरी (कुर्ती) फ़रगी, चारक़ाब, साफा, रेशमी पटका, घाघरा, पाग, जामा, आदि वस्त्रों में से सन्तों का परिचय कुछ का ही है। इसका कारण स्पष्टतः यह है कि इन वस्त्रों का सम्बन्ध प्रायः उच्च वर्ग के इस्लामी संस्कृति से प्रभावित लोगों से अधिक रहा है।[2]

सन्तों को कपड़ों की विशेषताओं का सामान्य ज्ञान था। उन्होंने कपड़ा, मलमल (सिरी), कारचोबी, हज़ारी कपड़ा, रेशमी वस्त्र, पटोर (एक प्रकार का रेशमी वस्त्र) साफ़न (टसर), चौसई (गजी मोटा कपड़ा), मोम का कपड़ा (मेंण), खासा, और ज़रक़सी (कारचोबी से कढ़े वस्त्र) की चर्चा की है।[3] ओढ़ने-

---

१—तु० का० भा०, भा० २, पृ० ७६ : भु० का० भा०, भा० १, पृ० ३१० : उ० म० का० भा०, पृ० ४८५. २—सोशल हिस्ट्री : डॉ० गयासीन : पृ० ३८;४० : सि० का० भा०, पृ० ८२: हु० नामा, पृ० ६४ : बाबरनामा, पृ० ९२ से ९५ : अ० द० के० हि० क०, पृ० २६४ : भु० का० भा०, भा० २, पृ० २६० : जहाँ०, आ० का०, पृ० ४४७ : ला० ए०, क० आ० हि० : ऐ० : पृ० १६४, २०८, २०९, २७५. ३—क० ग्र०, पृ० २६; ५३,५४ : बखना० बा०, पृ० ६७;३१ : वही०, पृ० १७०;८८ : क० ग्र०, पृ० ५०;१३ : सु० वि०, पृ० ७४;१ : क० बीजक, पृ० ४१;२१ : रज्जब बा०, पृ० २५१;१४ : दरि० वि०, अनु०, पृ० १५०;२१ : वही०, पृ० १५५; २२ : वही०, पृ० १५६;२३ : गरी० बा०, पृ० ११८;४ : वही०,

बिछाने आदि के सामान्य कपड़ों में चादर, दुशाला, लोई, कमली (कम्बल या कावली), निहाली (लिहाफ़) पाट-पटम्बर और तकिया का उल्लेख हुआ है।[1] पुरुषों के वस्त्रों में जामा, धोती, उपरना (वस्तुतः) अधोवस्त्र तथा उत्तरीय भारत में प्राचीन काल से चले आने वाले पुरुषों के वस्त्र हैं—कादम्बरी डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० २३। पटका, दगला, कमरबन्द, टोपी और पगड़ी (उसके साथ कलगी) के सन्दर्भ मिलते हैं।[2] साधु और सन्यासियों के वस्त्र में कोपीन और लङ्गोटी की चर्चा है।[3] इसी प्रकार स्त्रियों के वस्त्रों में लहंगा, साड़ी, चुनरी, कञ्चकी, अङ्गी और चोली की चर्चा की गयी है।[4] मुस्लिम स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त बुरका का भी उल्लेख मिलता है।[5] सन्तों ने अङ्गरखे में लगने वाली तनियों (तणी) का सन्दर्भ दिया है और वे निर्धन

पृ० १६२;६ : रामचरण बा०, पृ० ८३;१६. १—क० ग्र०, पृ० ४८;३ : वही०, पृ० ५०;१३ : वही०, पृ० १२१;१०५ : क० बीजक, पृ० १६;१५ : गु० ग्र०, पृ० १३७९;२४ : धरम० बा०, पृ० २७;२० : दूलन० बा०, पृ० ६;३ : वही०, पृ० ३०;१६ : गरी० बा०, पृ० १५०;६ : सु० वि०, पृ० ९८; १५ : पलटू० बा०, भा० १, पृ० ६६;१४६ : वही०, पृ० ९;१८ : वही०, पृ० ३७. २—क० ग्र०, पृ० ४८;३ : वही०, पृ० ५०;१३ : वही०, पृ० १२१;१०५ : गु० ग्र०, पृ० १६;२ : वही०, पृ० ७२१;६ : मलूक० बा०, पृ० ३०;११ : वही०, पृ० ३२;१४ : बु० बा० भु०, पृ० २५;६७: दूलन० बा०, पृ० २३;२ : गु० बा०, भु०, पृ० २३७;५६१ : गरी० बा०, पृ० १५६;२ रामचरण बा०, पृ० ५९४;६७ : पलटू० बा०, भा० ३, पृ० ३३; २ : तु० रत्न० सा०, पृ० ३१;१ : सु० वि०, पृ० ३६;११ : वही०, पृ० १६०;१६. ३—रज्जब बा०, पृ० २५१;२२ : मलूक० बा०, पृ० [illegible]३; १४. ४—क० ग्र०, पृ० ६०;३ : वही०, पृ० १५९;१२१ : क० बीजक, पृ० ३७७;५८ : गु० ग्र०, पृ० ७२२;३ : धरम० बा०, पृ० ६९;७ : वही०, पृ० ७४;९ : वही०, पृ० ७४;१८ : वही०, पृ० ३५;१० : बु० बा० भु०, पृ० २५;६६ : दूलन० बा०, पृ० ६;३ : यारी० बा० भु०, पृ० ४;१२:गरी० बा०, पृ० ११२;३ : रामचरण बा०, पृ० १४३;९ : पलटू० बा०, भा० १, पृ० ८७;११३ : वही०, भा० ३, पृ० ३३;५९ : सु० वि०, पृ० १०५;१३ : वही०, पृ० १२९;१८. ५—गरी० बा०, पृ० ४२;६६ : पलटू० बा०, भा० १, पृ० ४२;८३.

जन-समाज के चीथड़ों, पेबन्दों और गुदड़ियों से भी परिचित हैं।[1] सन्तों के पैरों में पहनने के उपकरणों में खड़ाऊ, पनही, जूती और पेजारा शब्दों का प्रयोग किया है।[2]

भोजन सामग्री—सन्त-काव्य में भोजन सामग्री का ऐसा विस्तृत वर्णन नहीं मिलता जैसा कि उनके समकालीन तुलसी, सूर और जायसी जैसे कवियों ने अपने 'रामचरित मानस','सूरसागर' तथा 'पद्मावत' आदि काव्यों में किया है। इन्होंने प्रसङ्गानुसार अपने समकालीन समाज में प्रचलित अनेक व्यञ्जनों की सूची दी है। अपने काव्यों की प्रबन्धात्मक प्रवृत्ति के कारण इनको ऐसा करने का सहज अवसर मिल गया था। जायसी ने तो हिन्दू तथा मुसलमानों की भोजन सामग्रियों का अलग-अलग वर्णन किया है। हर वस्तु का (चावल, माँस तथा पान आदि) इतना विस्तृत वर्णन किया है कि इनके नामों से पाठक का मन ऊब जाता है।[3] जहाँ तक सन्तों का सम्बन्ध है, उनके आध्यात्मिक काव्य में इन व्यञ्जनों और सामग्रियों के प्रस्तुत होने का कोई विशेष अवसर नहीं था। उन्होंने या तो अतिथि-सत्कार के अवसर पर अथवा अपनी जीवन-पद्धति के प्रसङ्ग में इनकी चर्चा की है। इसके अतिरिक्त उनका सम्बन्ध न तो उच्चवर्ग से था और न उनका बादशाहों की बड़ी-बड़ी दावतों तथा जशनों से कोई सरोकार था। वे तो अधिकतर सत्तू पीने वाले तथा घर में चावल कूटकर खाने वाले जन-समाज से परिचित हैं।—(रज्जब बा०, पृ० ४६) वही०, पृ० २५३। ऐसी स्थिति में इनके द्वारा निर्दिष्ट भोजन-सामग्री उस युग के सामान्य जीवन के स्तर को व्यक्त कर सकती है।

सन्त सहज जीवनपद्धति को स्वीकार करके चलते हैं, इसी कारण वे प्राणी के लिये भोजन आवश्यक मानते हैं। कबीर के अनुसार "आदि पुरुष का नाम भी भोजन के बिना नहीं लिया जा सकता। नाम के साथ अन्न का भी जाप करना चाहिये। जो मनुष्य अन्न (भोजन) का बहिष्कार करते हैं, वे तीनों लोकों में अपनी मर्यादा खोते हैं। ऐसे लोग भोजन छोड़कर पाखण्ड करते हैं और संसार में अपने को दुग्धाहारी घोषित करते हैं। किन्तु वे गुप्त

१—क० बीजक, पृ० १२७; ७७ रामचरण बा०, पृ० ५६४; ६७.
२—क० ग्र०, पृ० ७८; १: वही०, पृ० २६१; १५६ : क० बीजक०, पृ० ३८; १३० : गु० बा० भु०, पृ० १६७; ४४६ : रामचरण बा०, पृ० ७०; १३ : पलटू० बा०, भा० २, पृ० ५०; ३२ : पा०बो०, पृ० ७०; १ तु० श०, भा० १, पृ० ५९; ५. ३—पद्मावत : डॉ० वा० श० अ० : पृ० ५९५.

रूप से आपस में कसार (भुना हुआ शकर तथा मेवे से मिला हुआ आटा) बाँटकर खाते हैं। वे नहीं जानते कि बिना अन्न के सुकाल नहीं हो सकता। अन्न छोड़ने से गोपाल नहीं मिलते।"[1] इस उद्धरण में एक ओर तत्कालीन साधकों का एक चित्र है, तो दूसरी ओर सन्तों का अपना आदर्श भी व्यञ्जित है। फिर भी सन्तों के लिये भोजन, शरीर धारण का आधारमात्र है, वे भोजन के सम्बन्ध में विविध व्यञ्जनों की आसक्ति से बचने का उपदेश देते हैं। सुन्दरदास ने इसी दृष्टि से सन्तों के लिये मिताहार पर बल दिया है और वे सात्विक भोजन के पक्ष में हैं। वे सरसों, तिल, माँस, मदिरा तथा लहसुन आदि तेज वस्तुओं तथा मसालों को वर्जित मानते हैं और गेहूँ, चावल, साँठी, खीर, खाँड और मधु जैसे सात्विक भोजन को स्वीकार करते हैं।[2]

खान-पान के बारे में अपने युग की कुछ प्रचलित मान्यताओं का भी सन्दर्भ सन्तकाव्य में आया है। कबीर, हिन्दुओं के एकादशी व्रत में दूध-सिंघाड़ा खाने की चर्चा करते हैं और उन्होंने पारन करने का उल्लेख भी किया है।[3] नानक ने सन्तों की भावना के अनुसार भोजन को केवल साधन के रूप में कहा है, अतएव—"किआ मेवा किआ घीव गुड़ मिट्ठा किआ मैदा किआ माँस।"[4] जहाँ तक स्वाद का प्रश्न है, उनके लिये एकमात्र प्रभु के प्रेम का ही रस स्वीकार है। माँस-मदिरा आदि के सम्बन्ध में सन्तों का दृष्टिकोण सदा निषेधात्मक रहा है। इसी कारण उन्होंने निन्दा के प्रसङ्ग को छोड़कर माँस के व्यञ्जनों का कोई उल्लेख नहीं किया है। इसी दृष्टि से तुलसी साहब ने पुलाव, सीरमा, कलिया, मछली के माँस आदि की चर्चा की है।[5] सन्तों ने अधिक खाने को गर्हित माना है। इनके अनुसार पेट फुलाकर खाना शूकर और श्वान की भाँति होता है और वे स्वाद के विरुद्ध भी हैं।[6]

विभिन्न सन्तों ने खाने के जिन विविध व्यञ्जनों का उल्लेख किया है वे हैं—रोटी, रोटी का चूरमा, भात, धोई मूँग की दाल, बथुआ

१—स० कबीर, पृ० १७५; ११. २—सु० ग्र०, भा० १, पृ० ३३; ८ : वही०, पृ० १०२; ५,७. ३—क० बीजक, पृ० १२३; १० : रामचरण बा०, पृ० १३९; ३२. ४—गु० ग्र०, पृ० १४२; २. ५—दा० बा०, भा० १, पृ० ११३; ८ : धरनी० बा०, पृ० ५९; ६५ : सु० वि०, पृ० २०; २७ : तु० बा०, पृ० ७९; १५. ६—दा० बा० (मङ्गल), पृ० ११६; ६०,६१,६२.

का साग, खिचड़ी, सत्तू, चवेना, दलिया आदि। ये साधारण भोजन की वस्तुएँ हैं जो कि जन-साधारण में प्रचलित रही हैं।[1] कुछ अधिक सुस्वादु व्यञ्जनों में मैदे के पकवान, हलुवा, खीर, सुहाली(सुहारी), लापसी-लोंदा, लावरण-लापसी, लुचरी-लापसी, लापसी-माँडा, पतरा माँडा. वरा, कसार, काँजी (बड़े आदि) आते हैं, जिनका प्रयोग उत्सव-त्यौहार आदि के अवसर पर होता है।[2] मिष्ठान्नों में खोया, खाँड, शक्कर, राब, गुड़, बतासा, लड्डू, पेड़ा, जलेबी, मलाई, रसदूध हैं।[3] दही, मक्खन, मट्ठा, घी और दूध भोजन के मुख्य अङ्ग थे।[4] स्वाद को बढ़ाने वाले पदार्थों में नमक, मिर्च, चटनी, सिरका, राई, अदरक, हल्दी, इलायची, लौंग जैसे मसालों आदि के प्रयोग की चर्चा की गयी है।[5] सन्तों ने इन मेवों का भी उल्लेख किया है—बादाम,

---

१—क० बीजक, पृ० ३३२; ६ : क० ग्र०, पृ० २५१; ३५ : वही०, पृ० २५७; १११ : स० कबीर, पृ० १६९; ६ : दूलन० बा०, पृ० १७; ४ : धरम० बा०, पृ० ६०; १ : वही०, पृ० ६१; २ : रज्जब० बा०, पृ० २४२; ८ : रामचरण बा०, पृ० ५८; ६ : पलटू० बा०, भा० २, पृ० १०९; ६ : वही०, भा० ३, पृ० ३०; ५५. २—दा० बा०, भा० १, पृ० १८; २१ : वही०, पृ० ८५; ७ : पलटू० बा०, भा० ३, पृ० १०४; ४५ : सु० वि०, पृ० ७४; १ : क० ग्र०, पृ० ४८; ६ : गरी० बा०, पृ० ११६; ६ : वही०, पृ० ११६; ६ : दरि० वि०, पृ० १२; १७ : वही०, पृ० १५१; २१ : क० ग्र०, पृ० १३१; १३५ : वही०, पृ० १५५; १६८ : सु० ग्र०, भा० १, पृ० ३५२; २१ : क० बीजक, पृ० २३१; २१ : स० कबीर, पृ० १७५; ११. ३—क० ग्र०, पृ० ४८; ६ : सु० वि०, पृ० ७४; १ : गरी० बा०, पृ० ११६; ६ : पलटू० बा०, भा० १, पृ० १०८; २०२ : गरी० बा०, पृ० १३८; ६ : वही०, पृ० २०१; २. ४—क० ग्र०, पृ० ११२; ७६ : वही०, पृ० २५; १८ : वही०, पृ० २२७; ११ : धरम० बा०, पृ० ६१; २ : बषना० बा०, पृ० ९; १४, ११; १, ४०; १ : रज्जब बा०, ३५८; ५ : दरि० बा०, पृ० ४४; ६, १५१; २२ : पा० बा०, पृ० ४; ११ : गरी० बा०, पृ० ४४; ८२ : रामचरण बा०, पृ० १२३; २ : पलटू० बा०, भा० ३, पृ० १०५; ५० : तु० घ० रा०, पृ० १५; १. ५—रवि० उ० का०, पृ० ११४; ४० : दा० बा०, भा० १, पृ० ६३; ११६ : तु० घ० रा०, पृ० २०८; १ : पलटू० बा०, भा० ३, पृ० १११; ११२ : क० ग्र०, पृ० १८७; २६१ : वही०, पृ० २७५; ३९.

छुहारा, किशमिश, मुनक्का (दाख), नारियल कूजमिसरी ।[1] चौके की भोजन व्यवस्था के अन्तर्गत बर्तनों का उल्लेख पञ्चम प्रकरण में किया जा चुका है, इनके अतिरिक्त पत्तल, दोना तथा उनमें लगी सींको की चर्चा भी की गयी है ।[2]

पान—वस्तुत: पान खाना इस देश में भोजन के बाद उसके अङ्ग के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है, साथ ही इसको शौक़ तथा व्यसन के रूप में भी स्वीकार किया जा सकता है। आभिजात्य वर्ग के लोग पान खाने को शृङ्गार-प्रसाधान तथा विलास के अङ्ग के रूप में ग्रहण करते रहे हैं। वैसे पान-सुपारी का स्थान धार्मिक अनुष्टानों तथा अतिथि-सत्कार में भी सुरक्षित है। प्राचीन काल से चली आने वाली इस परम्परा का मध्ययुग में भी अत्यधिक प्रचलन रहा है। 'मस्तालिक-अल-अब्सार' के लेखक के अनुसार इस काल में 'हिन्दोस्तान के लोग मदिरापान में इतनी अधिक रुचि नहीं रखते और पान-सुपारी से ही सन्तोष कर लेते हैं। मुसलमान बादशाहों में भी पान और उसके साथ कपूर, कस्तूरी, इलायची तथा केसर आदि खाने का प्रचलन रहा है।[3] कबीर पान-सुपारी खाकर उज्ज्वल वस्त्र धारण कर ऐश्वर्य विलास से रहने वाले लोगों की चर्चा करते हैं। नानकदेव पान-सुपारी के बीड़ा को मुख में खाने का उल्लेख करते हैं। धरमदास के अनुसार पान फिराना सम्मान सूचक है और चरनदास पान की पीक का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं।[4]

वाद्य-यन्त्र—सन्त-काव्य की लम्बी परम्परा में तत्कालीन समाज के प्रचलित अनेकानेक बाजों का उल्लेख मिलता है, जिनसे उस युग के वाद्य-यन्त्रों की कल्पना की जा सकती है। भारतीय लोकजीवन में सङ्गीत का अनिवार्य सहयोग रहा है। यहाँ सङ्गीत केवल उनके मनोरञ्जन तथा उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति का साधन मात्र नहीं है, वह लोकजीवन के प्रवाह की जैसे

१—धरम० बा०, पृ० १७;३ : गु० ग्र०, पृ० ४१७;३ : दरि० वि०, अनु०, पृ० १७;७ : मलूक० बा०, पृ० ३८;१ : गरी० बा०, पृ० २५०;५ : वही०, पृ० २२०; ५ : बपना० बा०, पृ० २६;२. २—धरम० बा०, पृ० ६०;१. ३—म० यु० का० इ०, पृ० ५१६ : उ० ते० का० भा०, भा० १, पृ० १४६ : ला० ए० क० आ०, हि० : नवजीवन : पृ० १६३. ४—क० ग्र०, पृ० २६;५४ : वही०, पृ० ५१;८ : गु० ग्र०, ७२७;१३ : वही०, पृ० ८२२;१ : धरम० बा०, पृ० ३६;६ : चरन० बा०, पृ० १०१;१०.

स्पन्दन-शक्ति हो। बच्चे के जन्म से लेकर बूढ़े के मृतक-संस्कार तक सभी में बाजों का उपयोग है। हर संस्कार इन्हीं वाद्यों से ताल और लय पर संचालित होता है। इसी प्रकार युद्ध के अवसर पर, आनन्दोल्लास के उद्घोष के लिये, विजय की घोषणा के लिये, विवाह-उत्सव तथा पर्वों में, पूजा और आरती में, सती के प्रस्थान के अवसर पर तथा शव-यात्राओं के साथ विभिन्न प्रकार के वाद्य-यन्त्रों का प्रयोग किया जाता रहा है। सन्तों ने इस प्रकार निम्नलिखित अवसरों के बाजों का प्रयोग अपने काव्य में किया है— १. सङ्गीत में प्रयुक्त २. विवाह के अवसर पर ३. जन्म के अवसर पर ४. युद्ध में ५. सती होने के लिये जाते समय ६. आरती ७. शव-यात्रा तथा ८. बाजीगर (मदारी) नट-नटी, कठपुतली नचाने वालों के बाजे।

परन्तु सन्तों ने इन सभी स्थितियों का वर्णन अपने काव्य में मुख्यतः नहीं किया है। उन्होंने सामान्यतः नौवत बजने, युद्ध के बाजों के बजने तथा होली के अवसर पर बाजों के साथ फाग गाने की चर्चा कीं है और अन्य समस्त वाद्य-यन्त्रों की ध्वनियों का प्रयोग साधना और समाधि के प्रसङ्गों में किया है। नाद-ब्रह्म की साधना में अनहद नाद के अन्तर्गत उन्होंने विभिन्न वाद्य-यन्त्रों की ध्वनियों की कल्पना की है। सन्तों को वाद्य-यत्रों का व्यक्तिगत अनुभव भी है। इसी कारण कहीं-कहीं उन्होंने इनके विषय में सूक्ष्म-निर्देश भी किये हैं। कबीर, तार के बाजों में मोम के प्रयोग से परिचित हैं, साथ ही यह भी जानते हैं कि एक तार टूटने पर सितार निरर्थक हो जाता है। इसी प्रकार वषना के अनुसार मृदङ्ग (कसनियों) से बिना कसे ठीक स्वर-ताल नहीं दे सकता। भीखा के अनुसार सातों तारों पर अंगुलियों के फेरने से ही विविध ध्वनियों वाले राग की सृष्टि होती है और उनके साथ मृदङ्ग या तबला ताल देने के लिये प्रयुक्त होता है। रामचरण का कहना है कि फूटी ढोल की ध्वनि एकसार नहीं होती अर्थात् उसमें सङ्गीत की सृष्टि नहीं हो सकती।[1] पानपदास कहते हैं कि बिना तार के तम्बूरा कैसा तथा उसके तार कसने के लिये उसमें लगी खूँटी को सावधानी से कसनी चाहिये। वे जानते हैं कि सारङ्गी में पाँच तार लगे रहते हैं।[2] स्वाँग के आधार पर मुँह से बजाये जाने वाले बाजों

१—क० बीजक, पृ० २२५; ६९ : वही०, पृ० ४१८; २९७ : वषना० बा०, पृ० ७३; ३९ : दूलन० बा०, पृ० ३; ७ : भी० बा० भु०, पृ० ९४; २६६ : रामचरण बा०, पृ० २८२; २२. २—पा० बोध, पृ० ८८; ३.

मदन भेरी
डुगडुगी
डमरू
तम्बुक
चिकारा
चोवें
जल-तरंग

तुरई
किन्तरी
सिंगी
घंटा
तुरी
तूर
टलटलनिया
खड़ताल की जोड़ी
घंटा
झांझ
मँजीरा
शंख
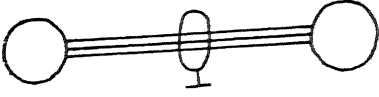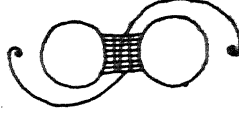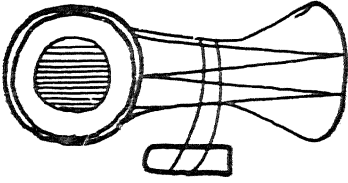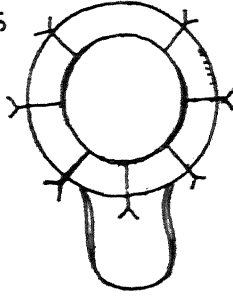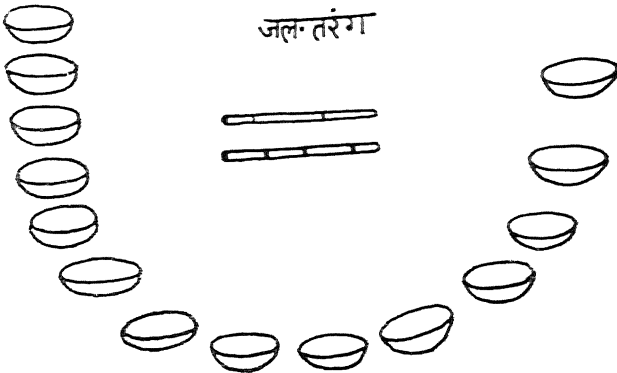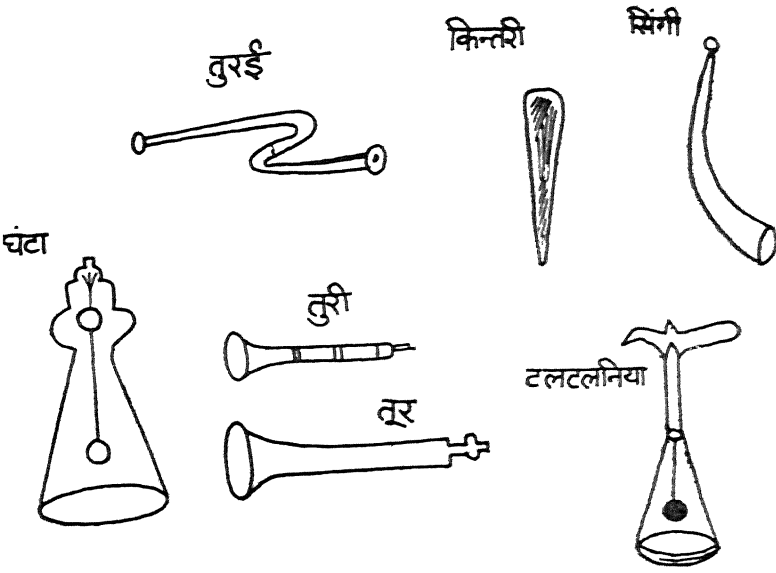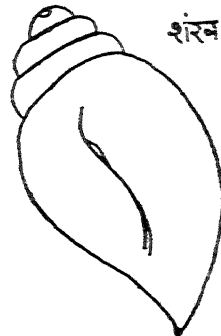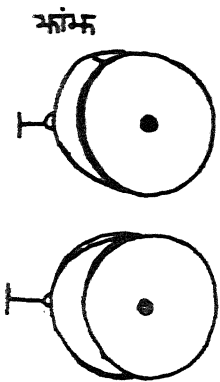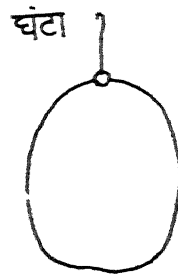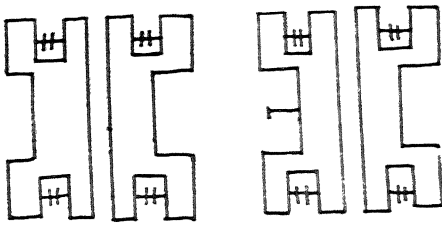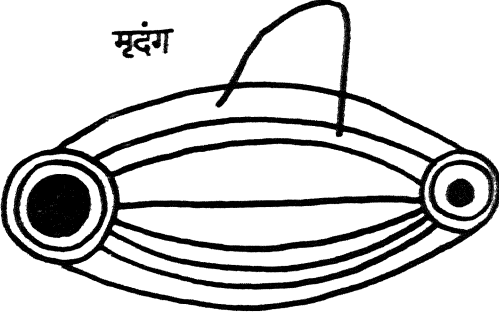
चंग
ढप
मृदंग
परवावज
डंका या मोंगरी
इकतारा
झालर

तम्बूरा

तबला

सारंगी

चौसा

घुंघरू

बासुरी
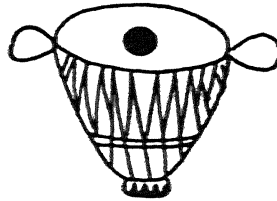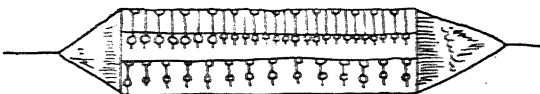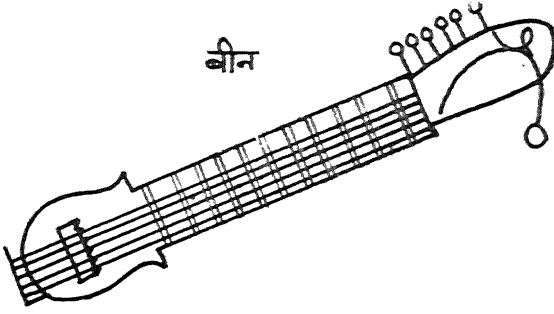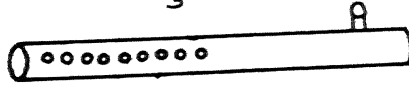
सहनाई और नफीरी
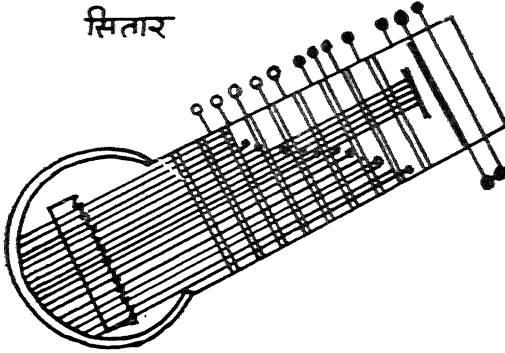
में बाँसुरी (मुरली), बेणु, बीन, तुरही, नफ़ीरी, शङ्ख, शहनाई, सींगा और नरसिंघा हैं।[1] ताल देने वाले चमड़ों के बाजों में डफ़, ढोल, ढोलक, तबला, पखावज, मृदङ्ग, चङ्ग और मुचङ्ग हैं। चमड़े मढ़े हुए अन्य बाजों में नगाड़ा, धोसा, निशान (डङ्का), नोबत और दमामा हैं।[2] तार के बाजों में किङ्गरी, सारङ्गी, सितार, रबाब और सरोंद हैं।[3] इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे

१—क० ग्र०, पृ० २०; १२ : वही०, पृ० १२६; १२१ : वही०, पृ० १३७; १५३ : गु० ग्र०, पृ० ८८४; १ : क० ग्र०, पृ० ११२; ७६ : वही०, पृ० ९०६; १२ : सु० ग्र० सुरा तन को अङ्ग, पृ० ३७ : वही०, पृ० २१; २१ : धरनी० वा०, पृ० ५; ९ : बु० वा० भु०, पृ० २५; ६५ : वही० पृ० ६१; १७६ : वही०, पृ० २४२; ५७६ : बु० : वे वि० प्रे० : पृ० २; ४ : चरण० बा०, पृ० १३२; १६ : गरी० बा०, पृ० १०५; १३ : वही०, पृ० १३७; ५ : वही०, पृ० १५०; ७ : वही०, पृ० १५३; ३ : वही०, पृ० २०३; ५ : भी० बा० : वे वि० प्रे० : पृ० १८; ४ : भी० बा० भु०, पृ० ९१; २६२ : वही०, पृ० ६४; २६६ : गु० बा० भु०, पृ० २४२; ५७६ : रामचरण बा०, पृ०; १९२; ३२ : तु० बा०, पृ० १२५; १०. २—क० ग्र०, पृ० १९०; ३०१ : वही०, पृ० २०; १२ : वही०, पृ० १४०; १५८ : वही०, पृ० १६४; २२३ : गु० ग्र०, पृ० ३८१; ४३ : वही०, पृ० ८३३; ५ : वही०, पृ० १२७१; १ : वही०, पृ० १३८२; ७९ : धरम० बा०, पृ० ३७; १५ : बषना० बा०, पृ० ७३; ३९ : दा० बा०, भा० १, पृ० १; १ : दा० बा०, भा० २, पृ० २९; ७२ : वही०, पृ० ३१; ७५ : रज्जब० बा०, पृ० १५५; ४ : वही०, पृ० १८०; ७९ : मलूक० बा०, पृ० ३५; ३५ : सु० ग्र०, भा० २, सूरा तन को अङ्ग : धरनी० बा०, पृ० ५; ९ : यारी० बा०, पृ० ३; ६ : गु० बा० भु०, पृ० ३७; ९९ : वही०, पृ० ४९; १३५ : वही०, पृ० १४०; ३९८ : वही०, पृ० ३९८; १०१४ : वही०, पृ० २३६; २५८ : दरि० वि० अनु०, पृ० ११५; १०,४ : दरि० (मा०) पृ० १७; २१ : वही०, पृ० १८; २६ : चरन० बा०, पृ० १३२; १६ : गरीब० बा०, पृ० १७१; ७ : भी० बा० भु०, पृ० ९२; २६२, २६६ : रामचरण बा०, पृ० १९२; ३२ : पलटू० बा०, भा० ३, पृ० १०१; १९ : तु० बा०, पृ० १२५; ?. ३—क० ग्र०, पृ० २५४; ६५ : वही० पृ०, ३०९; १४९ : वही०, पृ० १३७; १५३ : गु० ग्र०, पृ० ९०७; ४ : वही०, पृ० ९३४; २२ : वही०, पृ० १२५४; १३ : मलूक० बा०, पृ० ४; १ :

बाजें हैं जो काँसे या पीतल आदि धातु के बनाये जाते हैं तथा जिनमें से कुछ हाथों से झाँझ, मजीरा, टाली, घण्टा और झालर आदि हैं। खड़ताल जो लड़की के टुकड़ों में पीतल की छोटी-छोटी तश्तरी डालकर बनाई जाती है, वह भी हाथों से बजती है, इसकी भी चर्चा सन्त-साहित्य में की गयी है। डुगडुगी और डमरू बजाकर बाजीगर या मदारी लोग तमाशा दिखाने के लिये भीड़ एकत्र करते हैं।[1] जलतरङ्ग, जो चौदह प्यालों में पानी मात्रा में भरकर बजाया जाता है, इसका उल्लेख भी सन्तों ने किया है। इनके अतिरिक्त भी सन्तों ने अनेक प्रकार के बाजों की चर्चा की है जिनके नाम हैं—कुम्भ (घड़ा), शङ्ख, घमार, सुतरी, असङ्गी, पोङ्गी (तुमड़ी मदारियों का बाजा), तुम्बा और बिजोगी आदि। घूँघुर पैरों में बाँधकर नाचने के समय बजाये जाते हैं।[2] सन्तों ने जिन बाजों का सन्दर्भ प्रस्तुत किया है उनसे सन्तों के समकालीन लोकजीवन की आनन्दमय झाँकी तथा साँस्कृतिक स्थिति का बहुत कुछ परिचय मिल जाता है। जायसी के 'पद्मावत' तथा सूर के 'सूरसागर' में भी प्रायः इनमें से अनेक बाजों की चर्चा की गयी है[3] जो इस प्रकार है। बाजों के आगे "सूरसागर" की पृष्ठ-संख्या तथा पदसंख्या

गु० बा० भु०, पृ० ७५; २१७ : दरि० भा०, पृ० ५२;७ : गरी० बा०, पृ० १५०;७ : भी० बा० : बे० वि०, प्रे० : पृ० १८;४ : रामचरण बा०, पृ० १९२;३२ : तु० बा०, पृ० २०४; १ : पा० बोध, पृ० १०३;२ : सु० वेद पृ० ४६;७८. १—क० ग्र०, पृ० १५४;१९५ : क० बीजक, पृ० २२५; ६९ : वही०, पृ० ३०६;१ : सु० ग्र०, भा० २, इ० को अङ्ग : वही०, भा० १, पृ० २१;२१ : यारी० बा०, पृ० ३;६ : गु० बा०, पृ० ४९; १३५ : वही०, पृ० १४०;३९८ : वही०, पृ०, २२८;३३८ : दरि० मा०, पृ० ५२; ७ : चरन०, पृ० १३२;१६ : गरी० बा०, पृ० १०;९३ : वही०, पृ० १०५; १३ : वही०, पृ० १५०;७ : वही०, पृ० १५६;४ : १५७;६ : पा० बो०, पृ० ९२;३ : भी बा० भु०, पृ० ९४;२७६ : रामचरण बा०, पृ० १९२; ३, २ : तु० बा०, पृ० ३५;२५ : वही०, पृ० १२५;१० : वही०, पृ० २०५;२. २—गु० ग्र०, पृ० ९३४;३२ : चरण० बा०, पृ०, १३६;१६ : गरी० बा०, पृ० १३७;५ : भी० बा०, बे० वि० प्रे०, पृ० ७५;१९. ३—सूर सा०, का अध्ययन : डॉ० पी० एन० टण्डन : पृ० ३५ : जायसी : डॉ० वा० श० अग्रवाल : पृ० ५२७ से ५५४ तक.

दी गयी है। आउज : सू० सा० ६·७५:, अमृत कुण्डली : सू० सा० २८८८ : उपङ्ग : सू० सा० ११८०:, करताल :वही० २८६४:, किन्नरी :वही० २८६७:, गिरगिरी : वही० ९.७५:, चङ्ग : वही० २८६६:, झाँझ: वही० ९. ७५, झालरी :वही०२८६७: , डफ : वही० २८६७:, डिमडिम :वही० २९०६:, ढोल : वही० २९०६:, तुम्बुर : वही० २८८८ :, तूर : वही० १०.४०: निसान : वही० १. १४४:, पखाउज :वही० ९. ७५:, पटह :वही० २८८८:, बाँसुरी :वहीं० २८६७:, बेणु : वही० ११८०:, मुरली : वही० २८८१, ११८०:, वीणा वही० ३३५७:, मृदङ्ग : वही० ४१८१ :, मुरज : वही० ११८०:, रबाब :वही० ११८०:, रन्ज : वही० २८६०:, शङ्ख : वही० ४१८६:, सुरमण्डल : वही० २९१६:, और हुक्के :वही० १०. ३०: । 'पद्मावत' में जिन बाजों का उल्लेख मिलता है, वे इस प्रकार हैं—घड़ियाल : प० ५५३; १:, मृदङ्ग : वही० ५२७ ; ३ : रबाब : वही० पृ० ५२७; ३ :, किङ्गरी : वही० पृ० ४४;१:, नीसान: वही० पृ० ४७; १:, बीन, बंसी, बेणु : वही० पृ० १०८; ३ :, तूर : वही० पृ० ५५४; ५: "निस दिन बाजंहि मन्दिर तूरा", नक्कार : वही०, पृ० ५०४; ७:, पखाउत्र, आउज "यन्त्र पखाउज आउझ बाजा" : वही०, पृ० ५२७; ३ :, चङ्ग : वही०, पृ० ५२७; ५:, तुमड़ी : वही०, पृ० ५२७; ५:, बीणा : वही०, पृ० ५२८; ३:, बीन : वही०, पृ० ५२७; ४:, तबल :वही०, पृ० २३; ३:, मञ्जीरा : वही०, पृ० ५२७; ३:, घनताल करताल खड़ताल : वही०, पद ५२७; ७:, डफ़ झाँझ और हुरुक : वही०, पृ० ५२७; ६ ।

सप्तम प्रकरण

भौगोलिक तथा प्राकृतिक सन्दर्भ

सन्तों का लौकिक-जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध था। वे अनेक क्षेत्रों, प्रदेशों तथा नगरों में घूमते थे, इस कारण उनका परिचय अपने प्रदेश से पर्याप्त था। परन्तु जहाँ तक उनके काव्य का सम्बन्ध है, इस प्रकार के सन्दर्भ प्रसङ्गानुकूल आ सके हैं। अपने समकालीन जीवन की भौगोलिक स्थिति का जो ज्ञान इनको रहा है, उसका एक अंश ही इनके काव्य में इस प्रकार आ सका है। इसके आधार पर तत्कालीन भौगोलिक स्थितियों के ज्ञान की पूरी कल्पना नहीं की जा सकती है। फिर भी अनेक क्षेत्रों, प्रदेशों तथा नगरों आदि के उल्लेख भी मिल जाते है। जहाँ तक प्राकृतिक संसार का प्रश्न है, सन्तों के काव्य में इसका व्यापक प्रयोग उदाहरणों, दृष्टान्तों, रूपकों तथा प्रतीकों के रूप में किया गया है। इनके आधार पर सन्तों की प्रकृति सम्बन्धी अन्तर्दृष्टि का पर्याप्त परिचय मिलता है।

प्रदेश तथा नगर : द्वीप तथा प्रान्त—प्रथम प्रकरण के अन्तर्गत सन्तों की लोकसम्बन्धी धारणाओं पर विचार किया गया है और उनके इस प्रकार के विभाजन की चर्चा भी की गयी है। परन्तु सन्तों ने द्वीप, प्रान्त, नगर, कस्बा तथा गाँव आदि के विवरण भी प्रस्तुत किये हैं। द्वीपों में कबीर की प्रेम कथाओं में प्रसिद्ध सिंहल द्वीप का ज्ञान है। सम्भवतः इसी बात को लक्ष्य करके उन्होंने कहा है—"राम को ढूंढते-ढूंढते चाहे सिंहल द्वीप चले जाओ, पर राम तो तुम्हारे भीतर ही रम रहा है।"[1] दरिया (बि०) नबी के सन्दर्भ में अरब देश तथा मक्का-मदीना की चर्चा करते हैं।[2] धरमदास ने जम्बूद्वीप के हंसों की चर्चा की है।[3] मलूकदास कच्छ देश के विषय में कहते हैं—"इस देश में बड़े-बड़े गारुड़ी समाप्त हो गये हैं। यह वह कच्छ देश है जहाँ गोरखनाथ भी समाप्त हो गये जिनका अगम विचार था।"[4] कबीर बाँगड़ देश की चर्चा करते हुए कहते हैं—"यह देश लू का घर है। यहाँ गर्मी और लू लगने

१—क० ग्र०, पृ० ८१;४. २—दरि० वि० अनु०, पृ० ६३;७२ : वही०, पृ० ६६;१४. ३—धरम० बा०, पृ० ३३;११ : वही०, पृ० ४४;१०. ४—मलूक० बा०, पृ० ९;१.

का अधिक डर रहता है। चारों ओर धूल ही धूल दिखाई पड़ती है। यहाँ के लोग उड़ती हुई धून को कहते हैं अबीर, गुलाल उड़ रहा है। न वहाँ तालाब है न पानी है और न कोई सद्गुरु साधु की वाणी सुनने वाला ही। न कोयल यहाँ बोलती है और न यहाँ तोता या हंस ही पहुँच पाता है, यदि पहुँच भी जाय तो आकाश में पानी की तलाश में ही मर जाता है। इसके विपरीत मालव देश बड़ा घना आबाद प्रान्त है। वहाँ क़दम-क़दम पर रोटी और पग-पग पर नीर है।" दूलन भी मालव देश के पानी के अधिक्य की चर्चा करते हैं।[1]

नगर:—मध्यकाल में राजधानियों, व्यापारिक केन्द्रों तथा धार्मिक तीर्थ-स्थानों के रूप में अनेक नगर प्रसिद्ध थे। इस प्रकार के तीर्थयात्रा तथा व्यापार के केन्द्र गङ्गा-यमुना तथा ऐसी ही अन्य नदियों पर स्थित थे। प्रायः व्यापार का मुख्य साधन ये नदियाँ ही थीं। इस कारण इन पर बसे हुए नगरों का महत्व विशेष था। डॉ० ओझा के अनुसार अन्य नगरों के साथ कन्नौज एक विशाल और प्रसिद्ध नगर था, यहाँ के व्यापारी पूर्वी चीन की तरफ़ जाते थे। मालवा की उज्जैनी नगरी कम विशाल न थी। बम्बई प्रान्त में कच्छ बन्दरगाह से भारत से फारस और मिस्र जैसे देशों में माल जाता था। पाटलिपुत्र तथा जगन्नाथ आदि का वर्णन मेगस्थनीज ने किया है।[2] 'अकबरनामा' के अनुसार अहमदाबाद घना आबाद शहर था, उस समय उसमें ३८० मोहल्ले थे।[3] डॉ० आर्शीवाद लाल ने अपने इतिहास-ग्रन्थ में दिल्ली, आगरा, इलाहाबाद, फतेहपुर सीकरी, लाहौर, मुल्तान, उज्जैन, बुरहानपुर, अहमदाबाद, बनारस, पटना, वर्दवान और मथुरा आदि घने आबाद नगरों की चर्चा की है। इतिहासकार फ़िच ने १५८५ ई० में लिखा था कि आगरा और फ़तेहपुर बहुत बड़े शहर हैं, दोनों ही लन्दन की अपेक्षा अधिक घने तथा विशाल हैं। आगरा से फ़तेहपुर बारह कोस है। मार्ग में खाने-पीने की दूकाने हैं, जहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि मानो मनुष्य नगरों में ही हैं। मोन्सोरेट के कथनानुसार—"लाहौर संसार के विशाल नगरों में से एक था।.....दिल्ली उस समय भी लाहौर से बड़ी थी। जौनपुर तथा इलाहाबाद समृद्धिशाली नगर थे। बनारस संसार में सबसे अधिक प्राचीन घना तथा धन सम्पन्न नगर था"।[4]

१—क० ग्र०, पृ० १०९; ६८ : दूलन० बा०, पृ० ४०; १५. २—म० का०, भा० सं०, पृ० १३१. ३—अकबरनामा, पृ० ४८. ४—मु० का०, भा०, भा० १, पृ० ३०७ व ३०८ : तु० का० भा०, भा० २, पृ० २५८, २६१ : उ० ते०, का० भा०, भा० १, पृ० ८१.

मध्यकालीन इतिहास के उपर्युक्त प्रसिद्ध नगरों में से अधिकांश की चर्चा सन्तों ने प्रसङ्गानुसार की है। कबीर का विश्वास है कि "मथुरा", द्वारिका और जगन्नाथ किसी भी तीर्थ की यात्रा निरर्थक है यदि साधु सङ्गति न की। इसके बिना क्या हाथ लगेगा ?" उन्होंने बनारस के ठगने वाले पण्डों का वर्णन भी किया है जो तीन गज़ की धोती पहने, पैरों में तीहरे तागे लपेटे, गले में जयमाला डाले और हाथों में लोटा लिये बनारस की गलियों में घूमते-फिरते हैं। काशी के साथ कबीर मगहर की भी चर्चा करते हैं जहाँ के विषय में लोक-प्रसिद्धि थी कि वहाँ मरने वाले को मुक्ति नहीं मिलती। उन्होंने वृन्दावन में कृष्ण के गउँये चराने का उल्लेख किया है। उज्जैन नगरी का कबीर ने राजा भरथरी के सन्दर्भ में उल्लेख किया है।[1] गरीबदास ने पुर पट्टन, बलख, सलेमाबाद और दिल्ली नगर की चर्चा की है। इनके साथ ही जगन्नाथपुरी, हरिद्वार, बदरीनाथ, द्वारिकापुरी, वृन्दावन, लोहागिरी, पुष्कर, काशी, अयोध्या, सप्तपुरी तथा अवन्तीपुरी जैसे प्राचीन स्थानों और तीर्थों का उल्लेख भी किया है।[2] तुलसी के समय में लखनऊ को भी महत्व प्राप्त हो चुका था और उन्होंने कहा है—"इस नगर में रहने वाले से खुदा बचाये।"[3]

इन सन्तों का नगरों तथा उनके जीवन से परिचय भी था, क्योंकि वे गाँव-गाँव, नगर-नगर घूमते-फिरते थे। नानक के अनुसार नगर में चोर लगते थे।[4] दादू के अनुसार वही नगर श्रेष्ठ है जिसका एक ही अधिकारी (राजा) है। वषना नगर के कोलाहल से ऊबे हुए हैं।[5] धरनीदास बड़ी-बड़ी अटारियों वाले नगर की चर्चा करते हैं, अटारियाँ पकाई हुई चौखुंटी ईंटों से बनाई जाती हैं। वहाँ के महलों में पत्थर जड़े जाते हैं जिन पर नक्काशी होती है। ये महल सात-सात, आठ-आठ मञ्जिलों के होते हैं जिनको धवलागिरि कहते हैं। बुल्ला नगर के भवनों के द्वार पर तालों की चर्चा भी करते हैं।[6]

१—क० ग्र०, पृ० ४६; ३ : वही०, पृ० १४८; ४७ : सं० कबीर, पृ० ६१; २ : क० ग्र०, पृ० २७० ; १८. २—गरी० बा०, पृ० ८१; ५४ : वही०, पृ० २०३; ४ : वही०, पृ० १३७; ५ : वही०, पृ० १४८; ४. ३—तु० शब्द०, पृ० ६८; १३ : वही०, पृ० १०६; ४ : तु० ध० रा०, पृ० २४८; ८. ४—गु० ग्र०, पृ० ६५५; १ : वही०, पृ० ११७८; १. ५—दा० बा० (मदा०), पृ० १००; ३३, ३४ : वषना० बा०, पृ० ६७; १३. ६—धरनी० बा०, पृ० ४; २ : वही० पृ० ५; ६ : वही०, पृ० ६; २०, २१ : वही०, पृ० १७; १ : बु० बा०, पृ० ५; १२.।

गाँव, कस्बा तथा परगना—सन्तों का अधिकांश जीवन लोक से सम्बद्ध रहा है, इस कारण उनकी समग्र लौकिक दृष्टि में मुख्यतः गाँव का जीवन ही रहा है। उनके सामाजिक तथा आर्थिक सन्दर्भों में इसका समुचित विवेचन पीछे किया जा चुका है। प्रस्तुत दृष्टि से यहाँ इनके द्वारा कतिपय उल्लेखों को प्रस्तुत किया जा सकता है। कबीर कहते हैं—'वैष्णव की छपरी भली ना साकत का बड़ गाँव'। यहाँ कबीर ने 'छपरी' छोटे गाँव के लिये प्रयुक्त किया है जो दो-चार घरों का होता है।[१] धरनीदास ने गाँव के अतिरिक्त कस्बे का वर्णन भी किया है।[२] मलूकदास के अनुसार दिगम्बर के गाँव में धोबी का क्या काम है ?[३] कबीर ने गाँव के जीवन की कठिनाइयों की ओर सङ्केत किया है। राज्य के अधिकारी और लगान वसूल करने वाले, वहाँ के निवासियों का रहना कठिन कर देते हैं। गुलाल साहब ने भी गाँव के हठीले ठाकुर का उल्लेख किया है। ऐसे गाँवों का भी उल्लेख है जिनमें 'मार्ग' या 'बाट' (खेतों के बीच का रास्ता) कुछ भी नहीं है। कहीं-कहीं परगने की चर्चा भी की गई है।[४]

वन-पर्वत—साहित्य में वन तथा पर्वतों के वर्णन की परम्परा प्राचीनकाल से चली आ रही है जिनमें देश की भौगोलिक स्थिति का समावेश भी हो जाता है। बाण ने 'कादम्बरी' में विन्ध्याटवी का विस्तृत वर्णन किया है जिसमें उसका यथार्थ चित्र भी अन्तर्निहित है। कबीर के समकालीन जायसी ने 'पद्मावत' में कजरी वन का उल्लेख किया है जो 'महाभारत' (वन पर्व-अ० १४६; ७५-७८) में निर्दिष्ट ऋषिकेश से बदरिकाश्रम तक फैला हुआ वन-प्रदेश ही है। इब्नेबतूता ने अपनी यात्रा के अन्तर्गत भारत के गहन वनों का वर्णन किया है। बाबर और हुमायूँ ने भी अपने समय में भारत में फैले हुए गहन वनों की चर्चा की है। इस प्रकार सन्तों का वनों से परिचित होना स्वाभाविक है, यद्यपि वे संसार त्याग कर साधना के लिये वन में जाने के पक्ष में नहीं हैं।[५] कबीर के अनुसार वन में फूली मालती को कोई नहीं पूछता ?

१—क० ग्र०, पृ० ५२; १. २—धरनी० बा०, पृ० ४; २. ३—मलूक० बा०, पृ० ३३; १२. ४—क० ग्र०, पृ० १६३; २२२ : गु० बा० भु०, पृ० २७३; ६८१ : वही०, पृ० २३६; ५६८ : गरीब बा०, पृ० ५७; ४१ : द.रि० : मा० : बा०, पृ० २३; ६. ५—कादम्बरी ए० अ०, पृ० ३४ : जा० पदम०, पृ० १३०,७ : तु० का० भा०, भा० १, पृ० १५६ : इलि० और डा०, पृ० १५ : ला० ए० का० बा० आ० हि०, पृ० ६०.

वन की हरियाली इस लोक की बादशाही के समान चार दिन की है। वस्तुत: यहाँ कबीर की दृष्टि में साधारण कटीले वन ही हैं।[1] शेख फ़रीद ने वन-वन की खाक़ छानने की चर्चा की है। वषना वन में पशुओं के चराये जाने का उल्लेख करते हैं; वस्तुत: उनका भाव गाँव के समीपवर्ती जङ्गल मिश्रित चरागाहों से है। रामचरण ने वनों में आग लगने का सन्दर्भ प्रस्तुत किया है और तुलसी के अनुसार इस देश में इतने प्रकार के वन हैं कि जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता।[2]

सन्तों को सत्य की खोज के लिए न जाने कितने वन-पर्वतों में भटकना पड़ा हैं। कबीर कहते हैं—"परवति-परवति में फिरिया नैन गंवाय रोय। सो बूटी पाऊ कहीं जाते जीवनि होय।" वषना का विश्वास है कि पर्वत पर रहने से वन-मैदान की ज्वाला शान्त हो जाती है। उन्होंने विरहिणी के प्रसङ्ग में पर्वत को पार करने की कठिनाई का उल्लेख किया है। गरीबदास ने धौलागिरि और गिरनार पर्वत के नामोल्लेख किये हैं। उन्होंने सुमेरु पर्वत का भी उल्लेख किया है जो पौराणिक सन्दर्भ प्रस्तुत करता है। तुलसी साहब ने भी गिरनार का उल्लेख किया है।[3] धरमदास मलयागिरि की चर्चा करते हैं।[4]

समुद्र—सन्तों ने समुद्र का वर्णन मुख्यत: प्राकृतिक उपमान या प्रतीक के रूप में किया है। उन्होंने उसकी गहनता, विस्तार तथा खारीपन के साथ उसकी लहरों तथा उसके अन्दर रहने वाले जन्तुओं का वर्णन भी किया है। कबीर अपने रूपक में कहते हैं—"संसाररूपी समुद्र में लोभ की लहरें उठती हैं, उसमें काम, क्रोध का अथाह जल है, मद-मत्सर रूपी मगर-मच्छ हैं, और हर्ष, शोक तथा कामना के भँवर हैं। ऐसे समुद्र में तैरने के लिये राम नाम रूपी नौका ही आवश्यक है।" ईश्वर की कल्पना में कबीर 'कोटि समुद्र'

१—क० ग्र०, पृ० २२०; ३९८ : वही०, पृ० २२१; ४००. २—गु० ग्र०, पृ० ११७८; १६ : वषना बा०, पृ० १६५; ६८ : सु० ग्र० तृष्णा को अंग : रामचरण बा०, पृ० २४२; ११ : तु० ध० रा०, पृ०, ३११. ३—क० ग्र०, पृ०, १०; ४० : वही०, पृ० ३९२ : वषना बा०, पृ० २०; ३ : वही०, पृ० ११७; ९५ : वही०, पृ० १२०; ९७ : गरी० बा०, पृ० ८२; ६१ : वही०, पृ० ९५; १०, ११ : तु० रत्ना, पृ० १४; २ : गु० बा० भु०, पृ० २३१; ५४२. ४—धरम० बा०, पृ० १५; १ : वही०, पृ० ७८; २२.

को 'पणिहारी' और 'खाई' के रूप में ग्रहण करते हैं।[१] रैदास संसार रूपी समुद्र में मन रूपी मछली के भटकने की चर्चा करते हैं।[२] अमरदास ब्रह्म को ही समुद्र के रूप में परिकल्पित कर उसमें रत्नों के अन्तर्निहित होने की सम्भावना करते हैं। रामदास समुद्र की भयावह लहर की कल्पना करते हैं जो एक क्षण में सबको समाप्त कर सकती है। नानकदेव सात समुद्रों की चर्चा करते हुए कहते हैं कि "संसार रूपी खारे समुद्र में (दुःख के कारण) कोई विरला प्राणी ही सुख रूपी रत्न प्राप्त कर सकता है।"[३] दादू ने मन की कामनाओं की उपमा समुद्र की लहरों से दी है।[४] रज्जब के अनुसार संसार ऐसा अथाह समुद्र है जिसमें सब कुछ डूबने वाला है और समुद्र की बड़वाग्नि की भाँति मन में कामनाएँ वास करती हैं। आगे उनका कथन है कि बूँद-बूँद मिलकर ही समुद्र बनता है।[५]

सुन्दरदास ने नदी और समुद्र के मिलन की कल्पना की है—"नदी का प्रवाह समुद्र की ओर इस वेग से जा रहा है जैसे काल के मुख की ओर संसार का प्राणी।"[६] दूलनदास ने समुद्र के ज्वार-भाटा की उत्ताल लहरों को मनुष्य के विचारों के समान माना है।[७] चरनदास ने अनुभव किया है कि समुद्र की लहरें उसी से उठकर उसी में समाप्त हो जाती हैं।[८] गुलाल के मन में समुद्र की अपार कल्पना है।[९] गरीबदास को समुद्र में सन्तरण करते हुए वेड़ा का अनुभव है।[१०] रामचरण समुद्र के जल की अथाह स्थिति से ज्ञानी के ज्ञान की तुलना करते हैं और उनके अनुसार अज्ञानी पुरुष समुद्र की लहरों के समान सागर तल पर ही भटकता रहता है।[११] भीखा साहब के अनुसार समुद्र, नदी, तालाब, कुँआ तथा बावड़ी में एक ही जल की बूँद समायी हुयी है।[१२] तुलसी साहब ने

१—क० ग्र०, पृ०, १६७; ३२१ . क० बीजक, पृ० ५७; ४१. २—रैदास बा०, पृ० २२; ४७. ३—गु० ग्र०, पृ० २५२; ३ : वही०, पृ० ६६०; २ : वही०, पृ० ८३५; ७ : वही०, पृ० ८३६; ६ : वही०, पृ० १०१२; १. ४—दा० वा०, भा० १, पृ० १०३; ८. ५—रज्जब० वा०, पृ० २०४; २ : वही०, पृ० २४०; ६ : वही०, पृ० ३५१; १२, १३. ६—सु० वि०, पृ० ३२; २५. ७—दूलन० बा०, पृ० ११; १०. ८—चरन० बा०, पृ०, ६७; ३. ९—गु०, बा० भु०, पृ०, २४४; ५८४ : वही०, पृ० २४३; ८७१. १०—गरी० बा०, पृ० ५०; ११. ११—रामचरण वा०, पृ० ११२; ११ : वही०, पृ० १७३; १. १२—भी० बा० भु०, पृ०, ४६३; १२२६.

समुद्र का साक्षात्कार अपने ध्यान में किया है। इस प्रकार सन्तों ने अपने उपमानों और रूपकों में समुद्र की कल्पना को प्रत्यक्ष किया है।[1] धरमदास ऐसा ही मानते हैं—"मोह समुन्दर भरे अपर बल भंवर भवे अति भारा। काम क्रोध की लहर उठत है केहि विधि होय निवारा।"[2]

नदी—सन्तों में अधिकांश का सम्बन्ध नदियों से रहा है। उन्होंने मुख्यतः गङ्गा, यमुना, सरस्वती (पौराणिक सन्दर्भ के रूप में), त्रिवेणी, गण्डक तथा गोमती का उल्लेख किया है। इनमें सर्वप्रमुख स्थान गङ्गा का है। वस्तुतः सन्तों ने तीर्थ, व्रत तथा स्नान को अपनी साधना में महत्व नहीं दिया है, इस कारण नदियों का इस रूप में सन्दर्भ प्रायः नहीं मिलता। कबीर के अनुसार गङ्गा के जल में मिलकर सभी नदी तथा नालों का पानी गङ्गोदक हो जाता है, इससे यह जान पड़ता है कि गङ्गा का इस रूप में महत्व कबीर को भी स्वीकृत था। यह अवश्य है कि कबीर गङ्गा में स्नान करने से मुक्ति मिल जाती है, ऐसा नहीं मानते। ऐसा होता तो गङ्गा में रहने वाले मेढ़क और मछलियों को भी मुक्ति मिल जाती। कबीर को आन्तरिक साधना पर विश्वास है, इसी कारण वे गङ्गा-यमुना को उर अन्तर में प्रवाहित मानते हैं। उन्होंने त्रिवेणी के मेले की चर्चा भी इसी आलोचनात्मक दृष्टि से की है।[3] कबीर ने साधारण नदी के प्रवाह के रूप में संसार की कल्पना की है जिसमें मोह रूपी तीव्र जल की तीव्र-धारा बह रही है और पैर नहीं जमते—"साखी कहे गहे नहीं चाल चली नहीं जाय। सलिल मोह नदिया बहे पाँव नाहिं ठहराय।"[4] एक स्थान पर कबीर अपनी हज्ज 'गोमती तीर बताते हैं।'[5]

रैदास ने नदी की बाढ़ रोकने के लिये बाँध-बाँधने की चर्चा की है।[6] नानक ने गङ्गा, यमुना, सरस्वती और गोदावरी की चर्चा करते हुए भगीरथ की तपस्या के फलस्वरूप केदार पर्वत से गङ्गा के निकलने का उल्लेख किया है।[7] शेख फ़रीद की कल्पना है कि संसार में दुःख की लम्बी-लम्बी नदियाँ बह रही हैं और इनको सचेत होकर राम नाम रूपी बेड़े से ही पार किया जा

१—तु० ध० रा०, पृ० ७५; १६ : तु० शब्द०, पृ० १४६; ५ : वही०, पृ० ६८; १३ : वही०, पृ० १६०; ३. २—धरम० बा०, पृ० २३; १३. ३—क० ग्र०, पृ० ५०; ८ : वही०, पृ० २०४; ३४६ : वही०, पृ० १८; १० : वही०, पृ० २१४; ३७८ : वही०, पृ० २०३; ३४१. ४—क० बीजक, पृ० ३८०; ७९. ५—क० ग्र०, पृ० ३३०; २१५. ६—रैदास बा०, पृ० १४; २८. ७—गु० ग्र०, पृ० ११६२; ४१.

सकता है ।[१] चरनदास गोमती नदी के किनारे शुभ कर्म करने का उपदेश देते हैं और वहाँ अच्छे कर्मों के द्वारा अधर्म की मैल छुड़ाने का आग्रह करते हैं। वे नर्मदा नदी के किनारे क्षमाव्रत धारण कर गोता लगाने को कहते हैं। उनके अनुसार सत धारण करना यमुना स्नान है और धीरज धारण करना ही सरस्वती-गङ्गा का स्नान है ।[२] तुलसी साहब ने गङ्गा, यमुना और सरस्वती के साथ गण्डक नदी की भी चर्चा की है ।[३] धरमदास भादों में जल से अपूरित नदी की कल्पना करते हुए कहते हैं—"भादों नदिया अगम बहे सजनी सूझै बार न पार हो ।"[४]

घाट—सन्त-काव्य में नदियों के वर्णन के साथ-साथ उनके किनारे के बने घाटों का वर्णन भी मिल जाता है। तीर्थ-स्थानों पर घाटों की परम्परा प्राचीन साहित्य में भी मिलती है। 'नारद स्मृति' में कहा गया है कि ब्राह्मण, घाट पर नौका को बिना कर और भाड़ा दिये नदी पार कर सकता है। यदि वे व्यापार करे तो अपना माल घाट पर बिना भाड़ा दिये पार उतार ले। मध्यकाल के इतिहास से विदित होता है कि उस समय मुग़ल बादशाहों ने तालाबों और नदियों के किनारे घाट बनवाये थे ।[५] सन्त काल में सेनाओं को युद्ध की यात्रा के लिये नदियों को पार करना पड़ता था। जिस स्थान से सेना नदी पार करती थी, एक प्रकार से वही घाट बन जाता था। गुलाल साहब सहज सरोवर के सुन्दर घाट की चर्चा करते हैं। आगे वे गङ्गा-यमुना के किनारे त्रिवेणी पर आसन मार कर बैठने की चर्चा करते हैं। बुल्ला भी त्रिवेणी के किनारे सुन्दर घाट सँवारने का आदेश करते हैं ।[६] गरीब एक विराट घाट की चर्चा करते हैं कि "एक विराट घाट है, उसमें एक द्वार है तथा उस द्वार में एक देहरी लगी है ।"[७] पलटूदास के अनुसार घाट और बाट का भेद तो मरहमी (जानकार) ही जान सकता है। जब मार्ग और घाट का भेद मालूम हो तभी घाट पार होने के लिये नाव में पैर रखना चाहिए। आगे वे कहते हैं कि तिरकुटी के घाट पर सुषुम्ना रूपी रस्सी को सँभाल कर खींच कर उसे गुणों के खूँटे से

१—गु० ग्र० पृ० ११८२; ८६. २—चरन० बा०, पृ० ६७; २. ३—तु० घ० रा०, पृ० ७५; १६ : वही०, पृ०, ८०; ५. ४—धरम० बा०, पृ० ३२; ६, ५—भा० कृ० का० क, ख, पृ० २१८, २१६ : भा० का० इ०, पृ० ३८५, ६—गु० बा० भु०, पृ० ५०; १४० : वही०, पृ० ७०; २०० : बु० बा० भु०, पृ० २१; ५४ : वही०, पृ० २४; ६४. ७—गरी० बा०, पृ० १२५; ५.

बाँधना श्रेयस्कर होगा। घाट के पास पहुँचते-पहुँचते एक पर्वत से निकलकर तङ्ग गली से नाव निकालनी पड़ती है जहाँ कि भारी कुण्ड है, जिसमें भँवर है। इस प्रकार पलटू घाट के किनारे पहुँच कर बड़ी सावधानी से उतरने का आदेश देते हैं।[1]

मानसरोवर—सन्त-साहित्य में मानसरोवर झील का वर्णन भी मिलता है, परन्तु यह वर्णन प्रमुखतः प्रतीकात्मक है। इसके किनारे हंस रहते हैं जो केवल मोती चुगते हैं। कबीर मानसरोवर झील के पवित्र जल की चर्चा करते हैं जिसमें हंस क्रीड़ा करता है।[2] वह मोती चुगता है और मानसरोवर छोड़कर कहीं अन्यत्र नहीं जाता। मानसरोवर के तट पर उदासी लोग बसते हैं जिनका चित्त राम के चरणों में लगा रहता है। वहीं पर हंस रहता है जो मोती के अतिरिक्त और कुछ अपनी चोंच में नहीं लेता।[3] कबीर मानसरोवर झील के किनारे हीरे आदि के व्यापार की चर्चा करते हैं—'कबीर हीरा वनजिया मानसरोवर के तीर।'[4] कबीर मानसरोवर के स्नान करने का उल्लेख करते हैं।[5] धरमदास मानसरोवर के तट पार घाट बनाकर रहने की चर्चा करते हैं।[6] दादू भी कहते हैं कि हंस मानसरोवर के जल को छोड़कर कहीं अन्यत्र जाना पसन्द नहीं करता तथा उसके तट पर रहने वाला हंस इतना चतुर होता है कि वह विष में से अमृत निकालकर उसका पान करता है।[7] पानपदास कहते हैं कि मानसरोवर के किनारे कौवे नहीं पहुँच सकते।[8] गरीब के अनुसार मानसरोवर में हंस स्नान करते हैं। वे उसमें कमल के फूलों के खिलने की चर्चा भी करते हैं।[9] पलटू भी मानसरोवर के कमल के फूलों के खिलने तथा उसके किनारे हंस के मोती चुगने की चर्चा करते हैं।[10] तुलसी साहब मानसरोवर के किनारे सुख से समाधि लगाकर संसार रूपी समुद्र से पार उतरने का उल्लेख करते हैं।[11] 'पद्मावत' में भी मानसरोवर का उल्लेख

१—पलटू० बा०, भा० २, पृ० ३६; ७०, : वही०, पृ० ९७; १०६, २—क० ग्र०, पृ० १५; ३६, ३—वही०, पृ० २०४; ३४४, ४—वही०, पृ० २५५; ७८, ५—वही०, पृ० २६९; १६, ६—धरम० बा०, पृ० १; ३ : वही०, पृ० ३; ७. ७—दा० बा०, भा० १, पृ० १७७; १ से ८ तक. ८—पानप सु० वेद, पृ०, ७६; ५ : वही०, पृ०, १२७; १. ९—गरी० बा०, पृ० ८७; १८ : वही०, पृ० १४०; ६, १०—पलटू० बा०, भा० २, पृ० ११; ३०, ११—तु० शब्द०, भा०१, पृ० ३८; १६.

मिलता है कि वह समुद्र की तरह अति अगाध है। उसका जल सुन्दर दिखाई देता है, उसका पानी मोती जैसा निर्मल है, वह अमृत तुल्य है और उसमें कपूर की सुगन्ध है।...उसके किनारे सीप, जल में उलटे हो जाते हैं और उसमें भरे मोती बाहर निकलते हैं। हंस इन्हें चुगते हैं और जल में क्रीड़ा करते हैं। सरोवर की शोभा देख भूख-प्यास सब भाग जाती है।[१] वस्तुतः इस युग में भारतीय जीवन में मानसरोवर की कल्पना बहुत महत्वपूर्ण हो चुकी थी।

तालाब, झील, कुँआ—सन्त-साहित्य में समुद्र, नदी के साथ तालाब, झील तथा कुएँ का उल्लेख भी हुआ है। वषना ने तालाब में कमल खिलने का वर्णन किया है। विरह में दुःख के आँसू इतने गिरे कि ताल-तलैया सब भर गये। तालाब में पत्थर पड़े रहते हैं और उन पर सिंवाल (काई) जम जाती है। वषना के अनुसार राजपूताने में तालाब का महत्व अधिक है, इस कारण इनको वाणी में तालाब का वर्णन विस्तार से हुआ है। तालाब के लिये पोखर शब्द का प्रयोग भी मिलता है।[२] नानक कहते हैं कि पोखर को चाहे कितना ही बिलोइये उसमें से मक्खन नहीं निकल सकता। आगे वे कहते हैं कि तालाब में कमल उसी समय तक रहता है जब तक उसमें जल है। जल के बिना कमल एक क्षण भी नहीं रह सकता।[३] तालाब के किनारे रहने वाला हंस भला कौवे की कुसङ्गति क्या जाने ?[४] धरमदास झील का वर्णन करते हैं—"असी कोस में झील अरु झांकर, असी कोस अंधियारा। असी कोस बैताली नदिया जहँवा हंस उतारा॥"[५] तालाब के साथ बावड़ी शब्द का प्रयोग भी सन्तों ने किया है। दरिया (मा०) कहते हैं कि सत्गुरु का शब्द जो जल के समान ही है, बावड़ी के किनारे रहने वाला कभी जल से दुःखी नहीं रह सकता।[६] पलटू ने तालाब से मिट्टी निकालने की चर्चा की है।[७] कुएँ की चर्चा करते हुए कबीर कहते हैं—"जाका गुरु है आंधरा चेला कहा कराय, अन्धे-अन्धे पेलिया दोऊ

१—पद्मावत : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल : पृ० ३१, २—वषना० बा०, पृ० १०; १ : वही०, पृ० ११३; ६१ : वही०, पृ० १०६; १. ३—ना०गु० ग्र०, पृ० २२६; ७ : वही०, पृ० ३५२; १२. ४—वही०, पृ० १४१०; १०. ५—धरम० बा०, पृ० २७; १६. ६—दरि० मा०, पृ० ५; ४. ७—पलटू० बा०, भा० १, पृ० ७४; १६०.

कूप पराय।"¹ कुओं से अरहट और चरस द्वारा सिंचाई का उल्लेख पिछले प्रकरण (द्र०—पंचम प्रकरण) में हो चुका है।

उद्यान, वाटिका या बाग़—सन्त-साहित्य में उद्यान या बाटिका का वर्णन भी मिलता है। कबीर के अनुसार "कौन ऐसा प्राणी है जिसे उद्यान में जाकर खिले हुए फूलों की गन्ध न मिली हों ?" दरिया (वि०) कहते हैं—"तुम्हारा बाग़ बग़ीचा तो इस बाहर के बाग़ से कहीं अधिक हरा-भरा है परन्तु तुम संसार के ऐश्वर्य में उसे भूले हो। तुम्हारे पास सदा नई बहार देने वाला बाग़ है जिसे तुमने भ्रम में भुला रखा है। इसके परे जो सच्ची फुलवारी वाला बाग़ है उसे देखने के लिये दृष्टि फैलानी पड़ेगी।" बुल्ला भी पेड़ों की जड़ों को सींच-सींच-कर बाग़ लगाने की चर्चा करते हैं। उनके समय में बाग़ में तालाब खुदवाने का भी प्रचलन था—'पोखर खुदवावहिं बाग़ लगवावहिं पावहिं मन भाया।"²

रामचरण 'इस समस्त लोक को बाग़ के रूप' में ही देखते हैं, जिसके सब प्राणी वृक्ष के समान हैं तथा जिसका माली परमात्मा है। जिसने यह बाग़ लगाया है, वही इसको सींचता है फिर बन्दा भार क्यूँ ले। आगे वे राम के बाग़ में बैठकर राम का उच्चारण करने का उपदेश देते हैं। बाग़ में बैठकर शीतल छाया प्राप्त करने का भी वे उल्लेख करते हैं। गरीबदास बाग़ में लगे फव्वारों का भी उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार पलटू और तुलसी साहब की वाणी में भी बाग़ के रङ्ग-विरङ्गे फूलों-फलों से लदे वृक्षों तथा माली के द्वारा उनकी रक्षा के सङ्केत मिलते हैं। तुलसी साहब ने इसके अतिरिक्त बाग़ में भौरों की गुन्जार तथा बसन्त की ऋतु में बाग़ में बिरहिणी को अपने प्रिय की अधिक याद सताने का वर्णन किया है।³

भारत में बागों के लगाने का प्रचलन प्राचीन काल से चला आ रहा है। मध्यकाल में भी मुग़ल बादशाहों को बाग़ लगवाने का अधिक शौक़ रहा है।

१—क० बीजक, पृ० ३६४; १५४. २—क० ग्र०, पृ० २६४; १०२ : दरि० बि० अनु०, पृ० २१; ७६ : बु० बा० भु०, पृ० २०; ५० : वही०, पृ० ७७; २२२. ३—रामचरण बा०, पृ० १७; ५ : वही०, पृ० ११५; ८ : वही०, पृ० ३३०; ४ : गरीब० बा०, पृ० १५३; ५ : पलटू० बा०, भा० २, पृ० ६३; ८८ : वही०, पृ० ६५; ६४ : वही०, पृ० ६८; १०८ : तु० घ० रा०, पृ० ३१०; १.

डॉ० अशरफ़ ने इस काल में भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के बाग़ों का वर्णन किया है। बङ्गाल के बड़े-बड़े मकानों में बाग के साथ एक ओर तालाब भी होता था। उड़ीसा के घरों की बनावट ऊँची होते हुए भी एक तरफ़ फलों व सब्जियों के वृक्ष लगाने की प्रथा है। गुजरात में भी मकानों में एक तरफ़ बाग़-बाड़ी का स्थान छोड़ने की प्रथा है। यह स्थान आनन्द के लिये रखा जाता है। चम्पानेर और अहमदाबाद में प्रसिद्ध है कि वहाँ के मारवाड़ी लोग बढ़िया महल के साथ तालाब, कुएँ तथा बाग़ लगवाने के लिये अधिक शौक़ीन हैं। धौलपुर के चारों ओर बाग़ ही बाग़ दिखाई पड़ते हैं।

८ जुलाई १६३५ ई० में मालवा के सुल्तान महमूद खाँ ने नालचा क़स्बे के पास एक बहुत बड़ा बाग़ लगवाया था जिसमें तालाब तथा महल भी बनवाया था। जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा में अनेक ऐसे उत्सवों का उल्लेख किया है जो सदा बाग़ों में ही होते थे। उसने बाग़ों के अलग-अलग नाम भी रख छोड़े थे, जैसे रुस्तम बाग, नूरजहाँ बाग़, मुकरेब खाँ का बाग़ जिसमें सभी प्रकार के फल व मेवे थे। जहाँगीर को स्वयं बाग़ लगवाने का बड़ा शौक़ था उसने काश्मीर और लाहौर में कई बाग़ लगवाये थे। देखा जाय तो मुग़ल काल में बाग़ लगवाने की प्रथा का आरम्भ बाबर ने ही किया था। उसने फ़ारस और तुर्किस्तान के नये ढङ्ग के बाग़-बगीचों का लगवाना आरम्भ किया था। हुमायूँ ने दिल्ली में बाग़ लगवाये। अकबर ने फतेहपुर सीकरी में तथा सबसे अच्छा बाग़ सिकन्दरे में लगवाया था। बगल में तालाब तथा फव्वारे भी लगवाये। शाहजहाँ ने लाहौर के पास शालमार तथा ताजमहल का बाग़ लगवाया। काश्मीर में वज़ीर बाग़ दारा ने बनवाया था। डॉ० ओझा तथा डॉ० राजबली पांडे ने भी मध्यकालीन बाग़ों का उल्लेख किया है।[१]

वृक्ष—सन्त-काव्य में वृक्षों का वर्णन इस प्रकार का नहीं मिलता जिस प्रकार महाकाव्य में विस्तार से वृक्षों के नाम गिना दिये गये हों, जैसे पद्मावत आदि महाकाव्य में गिना दिये जाते हैं। सन्तों की वाणी में तो उदाहरण या

१—कादम्बरी, पृ० ६०; १०१ : ला० ए० क० आ० हि०, पृ० १७१ : वही० (राशि०) पृ० २४३ : उ० ते० का० भा०, पृ० ७४ : जहाँ० आ० क०, पृ० ३३४, ३३५, ३७७, ३६८-४००, ४८८ : मु० का० भा०, पृ० २६५ : वही०, भा० १, पृ० ३६१ : म० का० भा० स०, पृ० ४१ : हि० सा० बृ० इ० : डा० रा० ब० पां० : पृ० ६०७, ६०८।

प्रतीक के रूप में कहीं-कहीं वृक्षों का नाम भर आ गया है। चन्दन, आम, नीम, बेल, ढाक, पलाश और बबूल आदि नामों का विशेष रूप से उल्लेख सन्त-काव्य में हुआ है। कबीर के अनुसार जो बबूल का पेड़ बोयेगा वह आम नहीं खा सकता। **पलाश** (ढाका) का वृक्ष कुछ दिन हरा रहता है, फिर खंखर हो जाता है। **चन्दन** के पेड़ के विषय में कबीर कहते हैं कि चाहे वह छोटा क्यों न हो, परन्तु उसे कोई नीम नहीं कह सकता। चन्दन की जरा सी कुटकी भली है, **बबूल** के बहुत अधिक वृक्ष भी श्रेष्ठ नहीं क्योंकि उनमें सदा काँटे का डर रहता है और उसमें से जरा सी लकड़ी से भी गन्ध प्राप्त नहीं होती। **खजूर** का वृक्ष यद्यपि ऊँचा होता है परन्तु न उसकी छाया होती है न उसमें फल हीं। **बाँस** का वृक्ष बहुत लम्बा होता है परन्तु उनमें चन्दन की सी गन्ध नहीं होती और बड़ी जल्दी उसके वन में आग लग जाती है। चन्दन के जड़ के पास रहने वाला नीम भी चन्दन बन जाता है। **जवासा** के विषय में कबीर कहते हैं कि वह अधिक वर्षा होने तथा तिवांसे दूध को उसकी जड़ों में डालने से वह जल जाता है।[1] कबीर **आम** के बौर, **कटहल** के वृक्ष तथा **नीम** की **निंबिया** का उल्लेख करते हैं। **बेल** की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि एक साथ तीन पत्तियाँ निकलती हैं।[2]

नानक देव मानते हैं कि नीम के वृक्ष को चाहे कितना ही सींचो परन्तु उसमें मीठा रस नहीं हो सकता। वे **पीपल** की छाया को अत्यन्त श्रेष्ठ मानते हैं।[3] रज्जब भी नानक की भाँति कहते हैं कि नीम को चाहे दूध से सींचो परन्तु सर्प के विष की भाँति वह भी कड़ुआ रहता है। उपगारी कहते हैं कि **बरगद, पीपल**, बेरी, **जामुन, आम, आड़ू** आदि वृक्षों की बीस लाख (अनेक) जातियाँ हैं।[4] दरिया (वि०) **केले** के पत्ते की चर्चा करते हैं। दरिया (मा०) नीम के कड़ुएपन तथा चन्दन की गन्ध की भी चर्चा करते हैं।[5] दरिया

१—क० ग्र०, पृ० ३०; २७ : वही०, पृ० २१; ८ : वही०, पृ० ४६; १ : वही०, पृ० ५२; १ : वही०, पृ० ८४; ५५ : वही०, पृ० ११२; ७६. २—क० ग्र०, पृ० १४८; १७७ : क० बीजक, पृ० १६३; ५३. ३—गु० ग्र०, पृ० १२४३; १ : वही०, पृ० १३२५; १. ४—रज्जब बा०, पृ० २६०; २४ : उपगारी बा०, पृ० १५; ६२. ५—दरि० वि० अनु०, पृ० ४१; २, ७।

(मा०) आगे कहते हैं कि **पलाश** तो वन में अपने आप ही होता है, उसको कोई नहीं सींचता। रामचरण **कंवच** के वृक्ष के विषय में कहते हैं कि उसकी फली के लग जाने से समस्त बदन में खाज लग जाती है। पलटू **खजूर** के वृक्ष के लिये कहते हैं कि "जैसी बड़ी खजूर पथिक को मिले न छांहि।"[1]

नागर बेल के विषय में वषना कहते हैं कि यह बिना जल के सींचे हुए ही फैल जाती है।[2] दादू **अरण्ड** के वृक्ष के विषय में कहते हैं कि **चन्दन** के पास रहने वाला अरण्ड भी चन्दन के समान ही गन्ध देने वाला हो जाता है।[3]

घास-काँटा—कबीर घास को रौंदने का उपदेश करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि अवसर पर घास का तिनका भी आँख में पड़कर 'खरा दुहेला' (कष्ट-दायक) हो जाता है। आगे वे कहते हैं कि यह शरीर ऐसे जल जायगा जैसे घास जरा सी देर में जल जाती है।[4] रैदास इस शरीर को 'घास की टाटी' के समान मानते हैं।[5] वषना भी रैदास की भाँति इस शरीर को **कांस** (एक प्रकार की घास) के समान मानते हैं जो एक पतङ्गा (आग की चिनगारी) पड़ते ही भस्म हो जाती है। दरिया (वि०) उस घास की चर्चा करते हैं जिस पर ओस की बूँदे पड़ी रहती हैं। वे **मूंज** (घास विशेष जिसकी रस्सी बटी जाती है) का भी उल्लेख करते हैं जिसको पानी में भिगोकर रस्सी बटते हैं। गरीबदास **घास** तथा तुलसी साहब **दूब** (घास) की चर्चा करते हैं।[6]

फूल—सन्त-काव्य में फूलों के सन्दर्भ भी रूपक, उपमान, प्रतीक तथा दृष्टान्त आदि के रूप में आये हैं। **कुमुदिनी** (कमलिनी) के विषय में कबीर कहते हैं कि चन्द्रमा के इतनी दूरी होने पर भी वह उसी के निकलने पर

१—दरि० मा०, पृ० १६; ३२ : वही० पृ० ३३; २६ : रामचरण बा०, पृ० २६०; ५१ : वही०, पृ० २३; १४ : वही०, पृ० ८७६; ६१ : पलट० बा०,भा० १, पृ० ७६; १६७. २—बषना० बा०, पृ० १४४; १२८. ३—दा० बा०, भा० १, पृ० १५८; १०. ४—क० ग्र०, पृ० ८२; ६ : क० बीजक, पृ० ३६७; १७४ : वही० पृ० ४०२; २०६. ५—सं० रवि० उ० का०, पृ० १३४; ६४. ६—बषना० बा०, पृ० २०; ३ : दरि० बि० अनु०, पृ० १०; ११७ : रामचरण बा०, पृ० ८३; १६ : गरी० बा०, पृ० १३६; ७ : तु० घ० रा०, पृ० ३५६; १६।

खिलती है। आगे वे **कमल** के फूल के खिलने की भी चर्चा करते हैं। **कमलिनी** को नलिनी भी कहा जाता है, उसे देखकर कबीर कहते हैं—"काहे री **नलिनी** तू कुम्हलानी, तेरे नाल सरोवर पानी।" कनियार के फूल के विषय में वे कहते हैं, यह फूल ऊपर से लाल होता है और भीतर से सफेद—"जालूँ कली **कनीर** की तन रातो मन सेत।" **टेसू** (पलाश) के फूलों के विषय में कबीर का विश्वास है कि वे केवल चार दिन ही बहार देते हैं। इसी प्रकार संसार में भी चार दिन ही रहना है। **सेमर** के फूल की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि यह फूल तोते को धोखा देता है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार लौंग के पेड़ में फल नहीं लगता, उसी प्रकार चन्दन के वृक्ष पर फूल नहीं आते। कैसी विचित्र है कुदरत की यह लीला! भौंरा फूलों के बाग़ में मस्त रहता है और संसार में प्राणी; परन्तु दोनों के हाथ कुछ नहीं लगता।

रैदास कहते हैं कि फल के लिये फूल फूलता है। फल के आने पर फूल समाप्त हो जाता है। नानकदेव **पारिजात** फूल की अपने घर के आँगन में खिलने की चर्चा करते हैं। अर्जुनदेव कहते हैं कि जिस प्रकार फूल में गन्ध है, उसी प्रकार दर्पण में छाया है। दादू भी कहते हैं कि जिस प्रकार फूल में गन्ध समा रही है, उसी प्रकार लोक में वह शक्ति निवास करती है। धरमदास **गुलाब** के फूल की सुगन्धि का उल्लेख करते हैं। दरिया (वि०) गुलाब के फूल के अतिरिक्त **चमेली, केवड़ा, मोतिया, बेला, केतकी** के फूलों की भी चर्चा करते हैं। वे कहते हैं कि काँटेदार केतकी के फूल पर भौंरा आकर नहीं बैठता। दूलनदास उपदेश करते हैं कि संसार में 'पद्म पत्र ज्यों नीरा' रहना चाहिए।[२] गुलाल साहब ने **कचनार के फूलों** की चर्चा की है। गरीबदास **सूरजमुखी** फूल के

१—क० ग्र०, पृ० १२; ५ : वही०, पृ० १३; ६७ : वही०, पृ० १६; ४३ : वही०, पृ० २१६; २२२ : वही०, पृ० २०८; ६४ : वही०, पृ० ६६; ४२ : वही०, पृ० २१; ८ : वही०, पृ० २१; २३ : क० बीजक, पृ० १४२; २३ : वही०, पृ० ३८२; ६१. २—रैदास० बा०, पृ० २; ३ : गु० ग्र०, पृ० ५०३; २ : वही०, पृ० ६८३; १ : वही०, पृ० ११८५; २८ : वही०, पृ० ११७२; २ : दादू बा० (महा) पृ० २४६; ५ : धरम० बा०, पृ० ३७; १४ : दरि० बि० अनु०, पृ० ११; ५, ९ : वही०, पृ० ४१; ४, १ : वही०, पृ० ४९; ६, १ : वही०, पृ० ६०; ४ : वही०, पृ० ७२; ३, १६ : वही०, पृ० ७१; २० : दूलन० बा०, पृ० २१; १२.

प्रकाश का उल्लेख करते हैं। रामचरन **मौलसिरी** के फूल की गन्ध को मिसरी के समान मीठा बताते हैं। तुलसी साहब इनके अतिरिक्त **नरगिस, मरुआ, मालती, गुललाला, मोगरा** आदि के फूलों की माला बनाने का सङ्केत करते हैं।[1] फूलों की प्रथा भारत में बहुत प्राचीन है। स्वयंवर के अवसर पर फूलों की सजावट तथा फूलों की माला से ही बारात का स्वागत भी किया जाता था। जहाँगीर ने भी अपनी आत्मकथा में अनेक प्रकार के फूलों का उल्लेख किया है, "जिनमें लाल रंग का कमल तथा काश्मीर के गुलाब तथा नरगिस आदि प्रमुख हैं। वहाँ जंगलों में नानाप्रकार के फूल बेशुमार हैं...काश्मीर के फूलों की किस्में गिनी नहीं जा सकतीं।"[2]

काल विभाजन : महीने और ऋतुएँ—सन्त-साहित्य में बारह महीनों का विस्तृत वर्णन मिलता है। बारह महीनों का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं कि असाढ़ के महीने में जब सूर्य पृथ्वी को जलाता है तब वर्षा आकर उसे बुझाती है, बड़े जोर से झड़ी लगती है और चारों ओर हरियाली छा जाती है। दरिया (मा०) भी ग्रीष्म ऋतु में भूमि के तपने की चर्चा करते हैं।[3] अर्जुनदेव बारह महीनों के अतिरिक्त तीनों ऋतुओं (जाड़ा, गर्मी, बरसात) की भी चर्चा करते हैं।[4] धरनीदास भी चैत के महीने से फाल्गुन के महीने तक प्रत्येक महीने का विस्तृत वर्णन करते हैं।[5] सुन्दरदास बारह महीनों को छः ऋतुओं में विभाजित करते हैं। उन्होंने छः ऋतुओं—ग्रीष्म, पावस, शरद, शिशिर, शीत तथा बसंत—को इस देश की मुख्य ऋतुएँ कहा है। ये महीने के दो पक्ष—शुक्ल और कृष्ण—की चर्चा करते हैं। शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा की कलाएँ बढ़ती हैं और कृष्ण में घटती हैं। उन्होंने बरसात का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं—"जब बरसात की ऋतु आती है उस समय बादल हाथी पर सवार होकर आते हैं, बिजली चमकती है। बादलों का गर्जन निसान की ध्वनि के

१—गु० बा० भु०, पृ० १५५; ४६ : गरी० बा०, पृ० १२३; ४ : वही०, पृ० १८६; १ : वही०, पृ० १६१; ५ : रामचरण बा०, पृ० २६; ३३ : तु० बा०, पृ० १४५; १ : तु० रत्न० सा०, पृ० ७६. २—कादम्बरी, पृ० ४० : वही०, पृ० ६३ : जहाँ० आ० क०, पृ० ४१५; ४२४, ४२५, ४७५, ६५५ : उ० ते० का० भा०, भा० १, पृ० १४७ : ला० ए० क० आ० हि० (नव) पृ० ८६; ६०, २४२. ३—क० ग्र०, पृ० २३४; २३७. ४—गु० ग्र०, पृ० ६२७; ५. ५—धरनी० बा०, पृ० ४८; ५१.

समान होता है। पवन चारों ओर बड़े वेग से चलता है। बूँदें बाणों के समान वरसती हैं। उस समय मेढक, मोर और पपीहा अपनी बोली सुनाते हैं। बादल चारों ओर से घुमड़-घुमड़ कर आते हैं और दशों दिशाओं को घेर लेते हैं।"[१] तुलसी साहब ने भी असाढ़ में बादल घुमड़ने, बिजली चमकने, श्रावण में रिमझिम वर्षा होने, दादुर बोलने, भादों में मूसलाधार वर्षा होने, क्वांर-कार्तिक में वर्षा शान्त होने, अगहन में नदियों में निर्मल नीर होने, पूस मास में जाड़ा पड़ने, फाल्गुन में होली खेलने, अबीर उड़ाने तथा वैसाख-ज्येष्ठ में सूर्य के तपने का उल्लेख किया है।[२]

दिन और तिथि—कबीर सातों वारों—रवि, सोम, भौम (मंगलवार), बुध, बृहस्पतिवार, शुक्रवार और शनिवार—तथा सोलह तिथियों का उल्लेख करते हैं। कबीर की भाँति अन्य सन्त भी प्रतिपदा से पूर्णिमा तथा अमावस्या की चर्चा करते हैं।[३]

घड़ी, मूहूर्त्त, पहर और पल—कबीर उसी घड़ी और मूहूर्त्त को श्रेष्ठ मानते हैं जिसमें हरि के जन का दर्शन होता है।[४] वषना घड़ी और पहर के बाद धड़ावल बजाये जाने की चर्चा करते हैं—"तिल-तिल घड़ी पहर जाइ पुगा जिसी धड़ावल बाजे, काया कटोरी जल में मेली बूड़त बार न लागे।"[५] कबीर नानक, अर्जुन, अङ्गद देव, अमरदास, वषना, धरमदास, दरिया (मा०), गरीब, भीखा, रामचरन और तुलसी—आठ पहर और घड़ी का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं।[६] पानी के द्वारा घड़ी और पहर देखने का तथा घड़ियाल बजाने का प्रयोग

१—सु० ग्र०, भा० १, पृ० ३६३; १ : वही०, भा० २, पृ० ६; ५; १६ : सु० वि०, पृ० १५५; २. २—तु० शब्द०, भा० १, पृ० ५२; ५४. ३—क० ग्र०, पृ० २०६; ३६२ : क० बीजक, पृ० ३०३; १३४ : गु० ग्र०, पृ० ८६५; ३: सहजो० वा०, पृ० ४३-४७ : वही०, पृ० ४७-५० : हरिपुरुष वा०, पृ०११८-१३४. ४—क० ग्र०, पृ० २१६; ३६५. ५—वषना० वा०, पृ० ५२; २. ६—क० ग्र०, पृ० १२१; १०३ : गु० ग्र०, पृ० ७७६; १ : वही०, पृ० ४००; ११८ : वही०, पृ० ६२७; ५ : ६५८; ५ : वही०, पृ० ७६१; २ : वही०, पृ० ११६१; ४ वषना० वा०, पृ० ६७; ३१ : धरमदास वा०, पृ०११; १, १२; ३ : दरि० (मा०) पृ० १६; १ गरी० वा०, पृ० ३; १७, १८ : रामचरन वा०, पृ० ३३; ३२ : तु० घ० रा०, पृ० १८६; २६.

(जिसका प्रयोग वषना की वाणी में मिलता है) बाबर, हुमायूँ के समय में भी होता था। यह प्रयोग भारत में बहुत प्राचीन काल से चला आता है। मलिक मोहम्मद जायसी ने घण्टे, आधा घण्टे तथा चौथाई घण्टे का प्रयोग किया है जो पानी के घड़ियाल भरने से माना जाता था। इस युग में बादशाह लोग भी घड़ी-मूहूर्त्त का अधिक ध्यान रखते थे। प्रत्येक कार्य के लिये शुभमूहूर्त-घड़ी देखी जाती थी और उसी क्षण कार्य किया जाता था। इस युग में बादशाह लोग भी घड़ी-मूहूर्त का अधिक ध्यान रखते थे। प्रत्येक कार्य के लिये शुभ मूहूर्त-घड़ी देखी जाती थी और उसी क्षण कार्य किया जाता था, जहाँगीर की आत्मकथा से यह पता चलता है।[1]

प्रकृति के अन्य सन्दर्भ : आँधी और हवा—सन्त-काव्य में आँधी और हवा का वर्णन भी मिलता है। कबीर आँधी के आने तथा उसके द्वारा बँधी टट्टी (छप्पर), उसकी दो थूनियाँ (बोझ रोकने वाली टेक या खंभिया) भी गिर पड़ने की चर्चा करते हैं। धरमदास ने हवा के लिये बयार और पवन शब्द का प्रयोग किया है। जब वे 'पवन पचासी नाम लहीजे' कहते हैं तो उसमें पचासों प्रकार के पवन चलने का सङ्केत व्यञ्जित होता है।[2] आँधी के बाद **वर्षा** होती है जिसमें सब कुछ भींग जाता है। वर्षा की चर्चा ऋतुओं के वर्णन में की जा चुकी है। धरनीदास कीचड़ और गारे का उल्लेख करते हैं।[3]

स्वाती का जल—कबीर, रैदास, पलटू, हरिदास, रामकरन ओर तुलसी स्वाती जल का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं।[4]

बादल—कबीर बादल की चर्चा करते हैं। दादू कहते हैं कि बादल एक क्षण में बरसने लगते हैं। मलूक बिना बादल के वर्षा का उल्लेख करते हैं।

१—ला० ए० क० आ० हि० (नवजीवन) पृ० १६८ : जहाँ० आ० क०, पृ० ३१७, ३२३, ३७७. २—सं० कबीर, पृ० ४६; ४३ : धरम० बा०, पृ० १६; ५ : वही०, पृ० ४६; १३. ३—धरनी० बा०, पृ० २०; ७ : वही०, पृ० ३१; ४. ४—सं० कबीर, पृ० २६६; १२४ : रवि० उ० क०, पृ० १०४; १६ : वही०, पृ० १३१; ८७ : रामचरन बा०, पृ० ३३८; ५६ : वही०, पृ० ७१६; ३१ : पलटू० बा०, भा० १, पृ० ५६; १०४ : हरिपुरुष बा०, पृ० १४७; १ : तु० श०, भा० १, पृ० २७; २२.

बुल्ला साहब की खेती बिना बादल की वर्षा के होती है। गरीबदास, बादल के क्षण में आने तथा जाने का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं।[1]

ओला—धरनीदास, रज्जब और तुलसी ओले के तुरन्त गल जाने का उल्लेख करते हैं।[2]

बिजली—कबीर कहते हैं कि जब बिजली चमकती है तो सूत का तार नहीं टूटता। धरमदास और सुन्दरदास भी बिजली के चमकने का उल्लेख करते हैं।[3] रज्जब **इन्द्रधनुष** के रङ्गों की चर्चा करते हैं।[4] कबीर खेती को नष्ट करने वाले **पाले** का उल्लेख करते हैं।[5] तुलसी, भीखा साहब घास पर पड़ने वाली **ओस** का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं।[6]

ग्रहण—कबीर, वषना, दादू चन्द्र और सूर्यग्रहण का उल्लेख करते हैं।[7]

मानवेतर प्राणी—सन्तों के काव्य में पशु, पक्षियों तथा कीड़े-मकोड़ों के सन्दर्भ उलटवासियों, दृष्टान्तों तथा रूपकों के अन्तर्गत आये हैं। इनका विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—**जलचर**—मछली, मेढक, मगर, कछुआ और बतख; **थलचर वन्य**—सिंह, चीता, हाथी, लोमड़ी, सियार, शूकर, रीछ, खरगोश, बन्दर और मृग; **थचलर पालतू**—गाय, बैल, भैंसा, बकरी, कुत्ता, हाथी, घोड़ा, ऊँट, गधा (खच्चर), भेड़ और बिल्ली; **नभचर वन्य**—कौआ, चील, उल्लू, गरुड़, बगुला, हंस, मोर, कोयल, बुलबुल, गीध, चकवा, चकोर, चातक और अललपंछी; **नभचर पालतू**—तोता, मैना, तीतर, मुर्गा, मुर्गी, बतख, कबूतर और मैना; **कीट-पतंग**—कीट, भृङ्ग, मकड़ी, भौंरा, मूसा, घूल, गिरगिट, मक्खी, टिड्डी, सर्प (भुवंग), अजगर, न्योला, पतङ्ग, मच्छर, कीड़े, जोंख, झींगरी, गुबरीला, चींटी और चींचली। इनका उल्लेख अब अलग-अलग दिया जायगा।

१—क० ग्र०, पृ० ४; ३३,३४ : दा० वा०, भा० १, पृ० २०; १६ : मलूक० वा०, पृ० ४; १ : बु० बा० भु०, पृ० १९; ४६ : गरी० बा०, पृ० ७; ७०. २—धरनी० वा०, पृ० ६; ४ : रज्जब सं० सु० सा०, पृ० ५२६; २५ : तु० रत्न० सा०, पृ० ३५. ३—क० ग्र०, पृ० १९९; ३२८ : सु० वि०, पृ० १४३; २४ : धरम० वा०, पृ० १४. ४—रज्जब० वा०, पृ० ९९; ८. ५—क० ग्र०, पृ० १४; वही०, पृ० ४५; १. ६—तु० ध० रा०, पृ० ३५६; १६ : भी० वा० भु०, पृ० १२८; ३६० : तु० शब्द०, भा०, १, पृ० ५९; ५. ७—सं० कबीर, पृ० १८५; ९ : वषना० वा०, पृ० १६ : दा० वा०, भा० १, पृ० १२१; ५६.

जलचर : मछली—यह जल में रहने वाली है। इसका सन्दर्भ उलटवासियों में पेड़ पर चढ़ने का है। अनन्य प्रेम के लिये इसका दृष्टान्त दिया गया है। यह जल के बिना जीवित नहीं रह सकती।[१] नानक देव उसके जल से अनन्य प्रेम तथा लालचवश जाल में फँसने की चर्चा करते हैं।[२] रैदास, धरमदास, रज्जब, सुन्दरदास, दरिया (मा०), रामचरण, पलटू, चरनदास, भीखा और तुलसी साहब प्रायः सभी सन्तों ने मछली के जल के प्रेम का तथा जाल में फँसने का उल्लेख किया है।[३] गरीबदास मछली के जल के प्रेम और उसमें हिलमिल-कर क्रीड़ा करने की चर्चा करते हैं।[४] रज्जब कहते हैं—'मछली को तैरना कौन सिखाता है'।[५]

मेढक—मेढक का सन्दर्भ कबीर की वाणी में उलटवासी में सोने के रूप में मिलता है और सर्प इसका पहरा दे रहा है।[६] रामचरण कहते हैं—मेढक जल छोड़कर कीचड़ में सुख का अनुभव करता है। उन्होंने मेढक को सर्प का भोजन भी बतलाया है।[७] वषना कहते हैं, दादुर वर्षा से प्रसन्न होता है।[८] धरमदास मेढकी की भी चर्चा करते हैं।[९] दरिया (वि०) कहते हैं कि दादुर बरसात में खूब बोलते हैं।[१०]

मगर—दरिया (वि०) के अनुसार मगर जल में रहता है। धरमदास मगर की योनि में पड़ने का सङ्केत करते हैं। दूलनदास ने मगर (ग्राह) की कथा की चर्चा की है।[११]

१—क० ग्र०, पृ० २०४; ३४५. २—गु० ग्र०, पृ० २३; २ : वही०, पृ० ८०; ५. ३—रैदास बा०, पृ० १०; २० : धरम० बा०, पृ० ८१; १ रज्जब बा०, पृ० २२८; १ : सु० ग्र०, भा० १, पृ० २६; ४३ : दरि० (मा०) पृ० ६; ४८ : चरन० बा०, पृ० १७; १६ : रामचरण बा०, पृ० १४०; ४ : पलटू० बा०; भा० ३, पृ० २६; ४८ : भी० बा०, पृ० ६४; २६६ : तु० बा०, पृ० ८६; १०. ४—गरीब० बा०, पृ० २०; ११. ५—रज्जब बा०, पृ० ३५८; १०. ६—क० ग्र०, पृ० ११३; ८०. ७—रामचरण बा०, पृ० ३०; ३१ : वही०, पृ० ३४; ४५. ८—वषना बा०, पृ० १५२; १३८. ९—धरम० बा०, पृ० ३६; १२. १०—हरि० वि०, पृ० ६; १३. ११—दरि० वि० अनु०, पृ० ६; ५. १३ : धरम० बा०, पृ० १०; ३ : दूलन० बा०, पृ० ४; ६.

कछुआ—कबीर ने कछुआ का उलटवासी में प्रयोग किया है। उनके अनुसार यह शंख बजाता है। दादू ने कछुए के अङ्ग सिकोड़ने की चर्चा की है। सुन्दरदास ने उसके दृष्टि द्वारा अण्डे सेने तथा इन्द्रियों को सिकोड़ने का उल्लेख किया है। धरमदास, मलूकदास तथा चरनदास ने भी कछुए के अण्डे सेने की चर्चा की है।[1]

थलचरवन्य : सिंह—कबीर ने उलटवासो में कहा है—"सिंह घर में बैठकर पान लगाता है। वह बैठकर गाता है। जब तक सिंह वन में रहता है, वन प्रफुल्लित नहीं होता। सियार सिंह को खाता है। वह माया के रङ्ग में रङ्गा है।" रज्जब के अनुसार सिंह घास नहीं सूँघता। यह कूप में से निकालने वाले को ही काटने के लिए दौड़ता है। वह छल से ही पिंजड़े में आता है। सुन्दरदास के अनुसार सिंहनी का दूध सोने के पात्र में ही रह सकता है, इसी प्रकार ज्ञान शुद्ध हृदय में ठहरता है। दरिया (वि०) उलटवासी में कहते हैं कि वन में सिंह गाय को चराता है। रामचरन कहते हैं कि सिंह के गर्जन से सियार काँपता है। वह बँधा पिंजड़े में भी गर्जन करता है और वह बिना ज्ञान के कुएँ में गिरता है। उसका स्वभाव है कि एक बार त्याग कर फिर नहीं खाता। पलटू के अनुसार सिंह का बच्चा ही शिकार करता है। उनके अनुसार उसका पञ्जा नारी के नेत्र के समान है। वह भूखा मर जायगा पर घास नहीं खायगा। मरे हुए सिंह की खाल से हाथी भी डरता है। वषना सिंह और गाय की शत्रुता की चर्चा करते हैं। केहरी अपनी परछाई कुएँ में देख कूद पड़ता है—(क० बीजक, पृ० १५; ११६)।[2]

१—सं० कबीर, पृ० ६६; ६ : दा० बा०, भा० १, पृ० ६; ८६: सु० ग्र०, भा० १, पृ० ६८; ३०, ३१ : वही०, पृ० १०७; ४२ : धरम० बा०, पृ० ८१; १ : चरन० बा०, पृ० ६; ३३ : मलूक० बा०, पृ० ४१; ६१.

२—सं० कबीर, पृ० ६६; ६ : वही०, पृ० २२०; १३ : वही०, पृ० २२१; १४ : रज्जब० बा०, पृ० १५०; १६ : वही०, पृ० २८२; ११ : वही०, पृ० २८७; ६ : दरि० वि० अनु०, पृ० १२६; २० : सु० ग्र०, भा० १, पृ० १७५; २० : रामचरन बा०, पृ० ५; ६३ : वही०, पृ० १०; ६ : वही०, पृ० २४; ५ : वही०, पृ० ६६; ५८ : पलटू० बा०, भा० ३, पृ० ५१; ६० : वही०, पृ० ११३; १२७ : वषना बा०, पृ० ८; ६

चीता—कबीर के अनुसार चीता भी अन्य पशुओं की भाँति माया के रङ्ग में रँगा है। दरिया (वि०) के अनुसार चीता वन में अधिक चमकता-दमकता है।[१]

हाथी—हाथी का उल्लेख तृतीय प्रकरण में हो चुका है। कबीर ने उलटवासी में रवाब बजाने का उल्लेख किया है। उनके अनुसार हाथी को भी काम की माया व्यापती है। दादू कहते हैं कि हाथी काम के वश में बँधता है। रज्जब कहते हैं कि कीड़ों से कुञ्जर (हाथी) डरता है और अपने सूँड़ समेट कर सोता है। वषना के अनुसार हाथी को देखकर कुत्ते अपनी गली में भूँकते हैं। 'कीड़ी-कुंजर' की शत्रुता की चर्चा वषना, दूलन, मलूक, धरमदास तथा रज्जब ने की है। यारी साहब और गुलाल साहब ने अन्धों के द्वारा हाथी देखने का उल्लेख किया है।[२]

लोमड़ी—कबीर ने लोमड़ी को माया में रँगा माना है तथा पलटूदास भी लोमड़ी की चर्चा करते हैं।[३]

सियार—कबीर ने सियार का उल्लेख उलटवासी में किया है। वे कहते हैं—"सियार वन में सिंह को खा लेता है उस समय समस्त वनराजि प्रफुल्लित हो उठती है। सियार माया में रँगा हुआ है।[४]"

सुअर—गरीब कहते हैं कि सुअर को हलाल करते हैं, परन्तु यह नहीं देखते कि उसमें भी आत्मा है।[५]

रीछ—रामचरन के अनुसार रीछ को ज़रा भी दया नहीं होती।[६]

खरगोश—कबीर ने उलटवासी में खरगोश के गाने की चर्चा की है।[७]

१—सं० क०, पृ० २२०; १३ : दरि० बि० अनु०, पृ० १२५; ६. २—सं० क०, पृ० ६६; ६ : वही०, पृ० २२०; १३ : दा० बा०, भा० १, पृ० ११६; ३४ : रज्जब बा०, पृ० २७०; १३८ : वषना बा०, पृ० १४; ४, ४२; ३, ८३; ५२ : दूलन० बा०, पृ० ३३; ४७ : मलूक० बा०, पृ० १; ३ : धरम० बा०, पृ० ६८; ५ : रज्जब० बा०, पृ० २८८; १५ : यारी० बा०, पृ० १५; ३. ३—सं० क०, पृ० २२०; १३ : पलटू० बा०, भा० ३, पृ० ११२; १३. ४—सं० कबीर, पृ० २२०; १३ : वही०, पृ० २२१; १४. ५—गरी० बा०, पृ० १९३; २. ६—रामचरन बा०, पृ० ११७; १२. ७—सं० कबीर, पृ० ६६; ६.

बन्दर—सन्त-काव्य में शिक्षा के उद्देश्य से मरकट मुट्ठी का प्रयोग मिलता है। इसका अर्थ है कि बन्दर को पकड़ने के लिये घड़े में अन्न डाल देते हैं। वन्दर घड़े में दोनों मुट्ठी अनाज से भर लेता है और इस प्रकार घड़े का मुँह छोटा होने से उसके दोनों हाथ घड़े में फँस जाते हैं। कबीर, धरनी, रामचरन, दादू, पानप, दरिया (वि०) और रज्जब ने मरकट मुट्ठी की चर्चा की है। कबीर बन्दर को माया के वश में मानते हैं। रामचरन बन्दर के नारङ्गी छोड़ने और गूलर खाने का उल्लेख करते हैं। रामचरन आगे कहते हैं कि जीव रूपी हीरा मनुष्य रूपी बन्दर को मिल गया और उसने उसे चबाकर खा लिया। उनको बन्दर की मित्रता पर विश्वास नहीं।[1]

मृग—कबीर ने कस्तूरी मृग के अन्तर्गत उसके कस्तूरी ढूंढ़ने का उल्लेख किया है। मृग अन्य पशुओं की भाँति माया में रँगा है और वह नाद में बँधता है। दरिया (वि०) उसके वन में भटकने का उल्लेख करते हैं। रैदास, धरमदास, वषना, सुन्दरदास, नानक देव, गरीब, रामचरन, पलटू तथा भीखा के अनुसार कस्तूरी मृग भटकता रहता है।[2]

थलचर पालतू : गाय—कबीर ने गाय की उलटवासी में बताया है कि वह बाँझ हो गयी और बछड़ा तीन समय दूध देता है तथा गाय सिंह को चराती है। वषना ने गाय के दूध दुहने, खूँटे से बाँधने, न्याणा लगाकर मच्छर उड़ाकर बर्तन में दूध निकालने तथा श्रावण में गाय के व्याहने, हरियाई गाय के गले में खाट का पावा डालने की चर्चा की है। गरीब, गाय के दान देने का महातम बताते हैं।

१—क० बीजक, पृ० १५ : सं० कबीर, पृ० २२०; १३ : धरनी० बा०, पृ० ५२; १८ : दा० बा०, भा० १, पृ० ११६; ३५ : रज्जब० बा०, पृ० २८७; ६ : रामचरन बा०, पृ० ३३; २८ : सु० वेद, पृ० ८२; ११ : दरि० वि० अ०, पृ० १०; ११७, ६ : तु० घ० रा०, पृ० ३१०; १. २—क० ग्र०, पृ० ८१; १ : सं० कबीर, पृ० २२०; १३ : क० ग्र०, पृ० २१६; ३६३ : रवि० उ० का०, पृ० १३२; ६० : धरम० बा०, पृ० ८४; २२ : वषना० बा०, पृ० १७; ७ : सु० ग्र०, भा० १, पृ० ६८; ३२ : गु० ग्र०, पृ० ६४३; २ : गरी० बा०, पृ० ५२; २८, २०६; ७ : रामचरन बा०, पृ० ४७; ११ : पलटू० बा०, भा० ३, पृ० ४; ८ : भी० बा० मु०, पृ० ६३; २६५.

आगे वे कहते हैं कि सुरभि गाय चमार के यहाँ बँधी है और ब्राह्मण ने भाँग बो रखी है। काली, पीली, धौली सभी सुरभि का दूध श्वेत होता है। गरीब आगे कहते हैं कि जिस गाय का दूध पीते हैं, उसी को हलाल करते हैं। अर्जुनदेव मानते हैं कि बिना दूध की गाय व्यर्थ है। रैदास, धरमदास, दादू, रज्जब और मलूकदास ने गाय के बछड़े के प्रेम की चर्चा की है।[1]

बैल—कबीर बैल का उल्लेख उलटवासी में पखावज बजाने में करते हैं। आगे वे उसके ब्याहने की चर्चा करते हैं तथा बैल को गिराकर गून के घर चली आने का उल्लेख करते हैं। रैदास, दरिया (वि०) भी बैल की चर्चा करते हैं। गरीब, तेली के बैल का उल्लेख करते हैं। रामचरण के अनुसार बूढ़े बैल को कोई नहीं पूछता। पलटू ने बैल की सवारी की चर्चा की है।[2]

भैंस—कबीर ने उलटवासी में भैंस के नृत्य करने, घोड़े चराने तथा भैंसा के भक्ति करने की चर्चा की है। गरीब, भैंस के सींगों की चर्चा करते हैं। रामचरन के अनुसार यदि भैंस के गले में हमेल डालो तो वह कूद-फाँदकर तोड़ देती है तथा भैंस के एक ही लीक चलने का उल्लेख भी करते हैं। दरिया (वि०) भैंस के गाने सुनने तथा भैंसे की जुगल-जोड़ी बाँधने की चर्चा की है।[3]

बकरी—कबीर उलटवासी में बकरी के 'विधार' खाने की चर्चा करते हैं। वषना गले में थनों वाली बकरी का उल्लेख करते हैं। गरीब ने बकरी

१—क० ग्र०, पृ० ११३; ८० : सं० कबीर, पृ० ११२; २२ : वषना बा०, पृ० १६३-१६५ : गरी०, पृ० २१; २२ : वही०, पृ० ५०; ४ : वही०, पृ० १४५; १६ : वही०, पृ० १६३; २ : गु० ग्र०, पृ० २४०; १ : रैदास बा०, पृ० १८; ३४ : धरम० बा०, पृ० ६; २ : दा० बा०, भा० १, पृ० ५७; ११६-१२१ : रज्जब बा०, पृ० १०; १२१ : मलूक० बा०, पृ० ३३; ८।
२—सं० कबीर, पृ० ६६; ६ : वही०, पृ० ११२; २२ : क० ग्र०, पृ० ११३; ८० : वही०, पृ० ६१; ११ : रैदास बा०, पृ० १४; २८ : दरि० वि० अनु०, पृ० १४१; गरीब० बा०, पृ० १६३; २ : रामचरन बा०, पृ० ११६; ६ : पलटू बा०, भा० ३, पृ० ३; ६; ३—क०, पृ० ६२; १२ : सं० कबीर, पृ० ११२; २२ : गरी० बा०, पृ० २२; २६ : रामचरन बा०, पृ० ६०; १० : वही०, पृ० ४६२; ६० : दरि० वि०, पृ० १२५; १७.

के बच्चे (इलवाना) के खाने का सन्दर्भ प्रस्तुत किया है। दरिया (वि०) उलटवासी में बकरी के बाघ घेरने की चर्चा करते हैं।[1]

कुत्ता—कबीर ने अपने आपको राम का कुत्ता बनाकर मुतिया नाम भी रख लिया। सुन्दरदास तथा मलूक ने कुत्ते की पूंछ की चर्चा की है। सुन्दरदास कहते हैं कि कुत्ते की पूँछ को चाहे तेल के चीथड़ों में भिगोकर रखो परन्तु वह तब भी सीधी नहीं हो सकती। नानकदेव, धरमदास और पलटू कुत्ते के हड्डी चबाने का उल्लेख करते हैं। चरनदास बावले कुत्ते का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं। कबीर, रज्जब, धरनीदास ने कुत्ते के काँच के महल में भौंकने का उल्लेख किया है। वषना के अनुसार हाथी को देख कुत्ते गली में भौंकते हैं। रामचरन कुत्ते के वमन खाने की चर्चा करते हैं।[2]

घोड़ा—घोड़े की चर्चा युद्ध के प्रयोग में पिछले प्रकरण में की जा चुकी है। कबीर घोड़े और सवार की चर्चा करते हैं। नानक हाथी-घोड़े, लाव-लश्कर का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं। चरनदास घोड़े का उल्लेख करते हैं। गुलाल साहब घोड़े के दाग़ लगाने की चर्चा करते हैं। मलूक लाखों घोड़ों का उल्लेख करते हैं। भीखा घोड़े को मन के समान तेज़ दौड़ने वाला मानते हैं। रामचरन, पलटू और तुलसी घोड़े तथा उसके साज़ की चर्चा करते हैं। घोड़ा माया में फँसा है, ऐसा कबीर मानते हैं।[3]

ऊँट—कबीर ऊँट को माया के वश में होने की चर्चा करते हैं। रज्जब

१—क० ग्र०, पृ० १४१; १६० : वषना बा०, पृ० ६; २७ : गरीब० बा०, पृ० १६५; २ : दरि० बि० अनु०, पृ० १२६; १७. २—क० ग्र०, पृ० २०; १४ : सु० बि०, पृ० १३; ७ : मलूक० बा०, पृ० ३८; ६४ : गु० ग्र०, पृ० १५; १ : धरम० बा०, पृ० ४२; ४ : पलटू० बा०, भा० २, पृ० ६२; ८३ : चरन० बा०, पृ० ३८; ७२ : क० बीजक, पृ० १५ : रज्जब बा०, पृ० २८८; १८ : धरनी० बा० पृ० ५२; १८ : वषना बा०, पृ० ४२; ३ : रामचरन बा०, पृ० ३०४; ७५. ३—क० ग्र०, पृ० ७०; २७ : गु० ग्र०, पृ० ६३; ३ : चरन० बा०, पृ० ४५; १७ : गु० बा० भु०, पृ० २५८; ६२८ : मलूक० बा०, पृ० १४; ६ : भी० बा० भु०, पृ० ११४; ३१४ : रामचरन बा०, पृ० ११६; १८ : पलटू० बा०, भा० ३, पृ० ६७; १५३ : तु० बा०, पृ० १३६; ३६ : सं० कबीर, पृ० २२०; ५.

ऊँट के नकेल तोड़कर भाग जाने का उल्लेख करते हैं। गरीब के अनुसार ऊँट पर मुनक्का लदी होने पर भी वह स्वयं बबूल ही खाता है। रामचरन ऊँट को पराये बन्धन में बँधने तथा भार ले जाने का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं। पलटू और तुलसी साहब ने भी ऊँट की सवारी का उल्लेख किया है।[1]

खच्चर-गधा—कबीर ने गधे का उलटवासी में सन्दर्भ प्रस्तुत किया है, उसमें गधा लम्बा वस्त्र पहनकर नाचता है। खच्चर ताल लगाता है। रज्जब के अनुसार गधे पर चन्दन-लेपन व्यर्थ है। दरिया (वि०) उलटवासी में गधे के द्वारा वेद उच्चारण की चर्चा करते हैं। रामचरन कहते हैं, गधे को मिसरी से क्या ? तुलसी कहते हैं, राम भजन बिना गधा बनना पड़ेगा।[2]

भेड़—कबीर ने भेड़ को उलटवासी में कहा है कि भेड़ ने पर्वत खा लिया। भेड़ को ऊन के लिये लाये थे, वह उल्टे कपास चरने लगी। रज्जब के अनुसार भेड़, भेड़ को चाटती है। पशु आपस में प्रेम का भाव दिखाते हैं। धरमदास भेड़-बाघ की शत्रुता की चर्चा करते हैं। गरीब कहते हैं कि उसी भेड़ का दूध दुहते हैं और उसी भेड़ को हलाल करते हैं। रामचरन के अनुसार भेड़ वेपरवाह चलती है तथा सिंह-भेड़ एक बाड़े में नहीं रह सकते। पलटू भी भेड़ की चर्चा करते हैं।[3]

बिल्ली—कबीर ने बिल्ली की उलटवासी में कुत्ते को पकड़ ले जाने की चर्चा की है तथा सुवटा ने बिल्ली को खा लिया। मुर्गे ने बिल्ली को पकड़कर खा डाला। बिल्ली भी अन्य पशुओं की भाँति माया में फँसी है। दरिया

१—सं० कबीर, पृ० २२०; १३ : रज्जब बा०, पृ० ३६१; २ : गरीब० बा०, पृ० २२०; ५ : रामचरन बा०, पृ० ८४; २२ : पलटू० बा०, भा० ३, पृ० ३; ६ : तु० बा०, पृ० ७८; ४२, २—सं० कबीर, पृ० ९६; ६ : क० ग्र०, पृ० १००; ३९ : रज्जब बा०, पृ० ३२७; ११ : दरि० बि० अनु०, पृ० १२५; १७ : रामचरन बा०, पृ० ११९; १९ : तु० बा०, पृ० १३५; ३५. ३—क० ग्र०, पृ० ९२; १२ : वही०, पृ० ३५; ३ : सं० कबीर, पृ० २२०; १३ : रज्जब बा०, पृ० ४१; ४६ : धरम बा०, पृ० ३६; १२ : गरीब० बा०, पृ० १९३; २ : रामचरन बा०, पृ० ४४; ५७ पलटू० बा०, भा० २, पृ० १०३; १३१.

(वि०) के अनुसार बिल्ली घर-घर की हांडी चाटती है परन्तु मुँह नहीं धोती। यह चूहों को पकड़कर खाती है। उलटवासी में दरिया (वि०) कहते हैं कि बिल्ली नाचती है तथा बिल्ली को मूसे ने धर पकड़ा। रामचरन कहते हैं कि बिल्ली बोल तो मीठा बोलती है परन्तु मूसे खाती है। पलटू बिल्ली-मूसे की शत्रुता की चर्चा करते हैं।[1]

नभचर वन्य : कौआ—कबीर 'श्वेत काग आये बन माहीं' की चर्चा करते हैं। 'काग उड़ावत बहियाँ पिरानी' से प्रतीत होता है कि काग का बोलना शकुन रूप में परम्परा से माना जाता रहा है। कबीर उलटवासी में भी कौआ के ताल लगाने की चर्चा करते हैं। नानक देव कौआ के विष्टा खाने का उल्लेख करते हैं। वषना और रामचरन कहते हैं कि कौआ तथा कोयल यद्यपि काले होते हैं परन्तु लक्षण दोनों के अलग-अलग होते हैं। मलूक कौआ की चोंच की चर्चा करते हैं। चरनदास और धरमदास कौआ से हंस बन जाने का उल्लेख करते हैं। गुलाल के अनुसार कौआ कीड़े पर टूटता है। गरीब कहते हैं कि कौआ सूने महल में वास करता है। रामचरन मानते हैं कि कौआ और हंस का मेल नहीं हो सकता, क्योंकि एक विष्टा खाता है तथा दूसरा मोती। दरिया (मा०), तुलसी और रामचरन कहते हैं कि कोयल के अण्डों की रक्षा कौआ करता है।[2]

कोयल—नानक के अनुसार कोयल आम के वृक्ष पर रहती है। शेख फ़रीद काली कोयल की चर्चा करते हैं। वषना मानते हैं कि कोयल, कौआ

१—क० ग्र०, पृ० ११६; ६७ : वही०, पृ० ६२; ११ : सन्त कबीर, पृ० ११२; २२ : वही०, पृ० २२०; १३ : दरि० वि० अनु०, पृ० ६; १२ : वही०, पृ० ६२; ५ : वही०, पृ० १२५; १७ : वही०, पृ० १२६; १७ : रामचरन बा०, पृ० १७६; ५ : पलटू०, भा० १, पृ० १०६; २३६, २—क० ग्र०, पृ० २०६; ३५१ : सं० क०, पृ० १४८; २ : वही०, पृ० ६६; ६ : गु० ग्र०, पृ० ६४५; ३ : वषना बा०, पृ० ४०; २० : रामचरन बा०, पृ० १८५; ५४ : मलूक० बा०, पृ० ४०; ७६ : चरनदास बा०, पृ० ६; ३८ : धरम० बा०, पृ० ४६; ४ गु० बा० भु०, पृ० ६४; १८५ : गरी० बा०, पृ० १४४; १३ : रामचरन बा०, पृ० २३; १२ : दरि० (मा०) पृ० ४; ३६ : तु० पा०, पृ० ७१; ३८ : रामचरन बा०, पृ० ११३; ३.

काले होते हैं परन्तु लक्षण अलग-अलग हैं। दरिया (वि०) और गरीब कोयल के कूकने की चर्चा करते हैं। रामचरन के अनुसार कोयल बन में रहना पसन्द करती हैं। तुलसी कोयल के बच्चे को कौआ के द्वारा पाले जाने का उल्लेख करते हैं।[1]

मोर—वषना कहते हैं कि मोर वर्षा से प्रसन्न होता है। रज्जब के अनुसार मोर का अण्डा मुर्गी सेती है। रामचरन मोर के 'पावस ऋतु' में बन में बोलने का उल्लेख करते हैं। तुलसी बादल गरजने पर मोर के पिव-पिव की आवाज करने की चर्चा करते हैं।[2]

बगुला—कबीर भौरों के जाने और बगुले के आने का उल्उलेख करते हैं। नानक के अनुसार बगुला हंस नहीं' हो सकता। वषना के अनुसार बगुला श्वेत होता है। दूलन मानते हैं कि बगुला मानसरोवर का वासी नहीं हो सकता। कबीर की भाँति रामचरन भी बगुले के ध्यान लगाने तथा कीड़े खाने की चर्चा करते हैं।[3]

गरुड़—तेगबहादुर और पलटूदास ने गरुड़ और सर्प की शत्रुता की चर्चा की है। नीलकण्ठ की चर्चा पिछले प्रकरण में की जा चुकी है।[4]

हंस—कबीर के अनुसार "हंस रूप कोई साधु है तत का जानसा हार"। हंस के विषय में लोकपरम्परा में विश्वास चला आ रहा है कि वह नीर-क्षीर विवेक होता है। इसी की पुष्टि सन्तों के काव्य में भी हुयी है। कबीर और गरीब, हंस के मानसरोवर के किनारे रहने का उल्लेख करते हैं। कबीर कहते हैं कि हंस मानसरोवर को तज कर कहीं अन्यत्र नहीं जा सकता क्योंकि अन्यत्र उसे

१—गु० ग्र०, पृ० १५७; १६ : वही०, पृ० ७६४; १ : वषना बा०, पृ० ४०; २ : दरि० वि० अनु०, पृ० ७; ५: गरी० बा०, पृ० २६; ६० : रामचरन बा०, पृ० १०; ६,११३; ३ : तु० श०, पृ० ७१; ३८.

२—वषना बा० पृ०, १५२; १६८ : रज्जब बा०, पृ० २८३; २५ : रामचरन बा०, पृ० १०; ६ : तु० शब्द०, पृ० ६४; १२,६५; ३,

३—सं कबीर, पृ० १४८; २ : गु० ग्र०, पृ० १३८४; १२५ : क० ग्र०, पृ० ४६; २ : वषना० बा०, पृ० ४१; २ : दूलन० बा०, पृ० ११; ८ : रामचरन बा०, पृ० २१; १५, ४६; ३.

४—गु० ग्र०, पृ० ६८८; ६ : पलटू, भा० १, पृ० ८४; १८६.

मोती चुगने को नहीं मिल सकता। वह मोती के बिना इस प्रकार नहीं रह सकता जैसे जल के बिना कमल कुम्हला जाता है। कबीर, रज्जब, सुन्दरदास तथा पलटू हंस के नीर-क्षीर विवेक की चर्चा करते हैं। चरनदास मानते है कि गुरु-कृपा से कौआ, हंस बन जाता है। रामचरन के अनुसार हंस मोती चुगता है। वषना और गरीब कहते हैं कि हंस और बगुला श्वेत होते हैं परन्तु एक मोती चुगता है और दूसरा मछली।[१]

बुलबुल—गरीबदास बुलबुल की चर्चा करते हैं।[२]

चकवा-चकवी—कबीर और रज्जब चकवा-चकवी के प्रेम की चर्चा करते हैं। वषना के अनुसार **चकोर** प्रेम में अङ्गारे खाता है। वषना, यारी, गुलाल, दरिया (वि०), बुल्ला और पलटू, चकोर के चन्द्रमा से प्रेम करने का सन्दर्भ प्रस्तुत करते है।[3]

चातक—कबीर, रैदास, वषना, यारी, सुन्दरदास, रामचरन और तुलसी साहब ने चातक के स्वाति बूँद की चर्चा की है।[४]

अलल पंछी—सन्तों ने इस काल्पनिक पक्षी का भी उल्लेख किया हैं।

१—क० ग्र०. पृ० ५४;१ : वही०, पृ० २०४;३४४ : क० बीजक, पृ० १६३;३३ : वही०, पृ० १६४;३४ : गरी० बा०, पृ० १७;७३ : रज्जब बा०, पृ० ३१३; १ : सु० ग्र०, भा० १, पृ० ३६;२६ : पलटू० बा०, भा० २, पृ० ६८;१४६ : वषना० बा०, पृ० ४१;३ : चरन० बा०, पृ० ६;३३ : रामचरन बा०, पृ० २१;१५ : तुलसी शब्द, पृ० १३८;४१, २—गरीब० बा०, पृ० १२५; ६, ३—क० ग्र०, ८० ७;३ : रज्जब बा०, पृ० २२८;१ : वषना० बा०, पृ० ६६;३४ : यारी० बा०, पृ० ४;१० : गु० बा० भु०, पृ० १४४;४१० : दरि० वि०, पृ० ६०;७ : बु० बा० भु०, पृ० २८४;७२५ : पलटू० बा०, भा० २, पृ० २८;६२. ४—क० ग्र०, पृ० १६;५: वही०, पृ० २६;३ : वही०, पृ० २४६;३ : रैदास बा०, पृ० १०;१८ : धरम० बा०, पृ० २७;२१ : वषना बा०, पृ० १३६;१२२ : सु० ग्र०, भा० १, पृ० २६;४३,६८;३० : रामचरन बा०, पृ० ४६;५ : तु० घ० रा०, पृ० २६३; १६ : यारी० बा०, पृ० ८;१६.

दादू, दरिया (मा०), गरीब, रामचरन, पलटू, तुलसी, इसके आकाश में रहने तथा वहीं से अण्डा सेने की चर्चा करते हैं।[१]

चील—कबीर चील का उल्लेख उलटवासी में खुले माँस की रक्षा करने में करते हैं।[२]

गीध—कबीर और दरिया (वि०) गीध का उल्लेख उलटवासी में खुले माँस की मोटरी की रक्षा में करते हैं। धरमदास के अनुसार गीध मनुष्य के मरने पर उसकी देह खाता है।[३]

उल्लू—कबीर उल्लूकी का उलटवासी में उपदेश सुनाने की चर्चा करते हैं। रामचरन और तुलसी साहब उल्लू के अन्धे होने का उल्लेख करते हैं तथा गूलर के वृक्ष पर अनेक घूघुर (उल्लू) रहने का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं।[४]

चिमगादड़—रामचरन चिमगादड़ के सूर्य के प्रकाश होने पर सोने का उल्लेख करते हैं।[५]

नभचर पालतू : सुआ या तोता—कबीर के अनुसार सुआ पिंजड़े में मृत्यु रूपी बिल्ली से डरता रहता है। कबीर, भगवान् को पिंजड़ा तथा अपने आपको सुआ मानते हैं। नानक और शेख फ़रीद पिंजड़े में तोते की चर्चा करते हैं। गरीब सुआ (तोता) के दाल खाने तथा सत्त गुरु दत्त की बोली बोलने का उल्लेख करते हैं। धरनी, सुन्दर, दादू तथा पलटू नलिनी सुआ की चर्चा करते हैं। रामचरन, गरीब और तुलसी सेमर सुआ का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं।

१—दा० बा०, भा० १, पृ० १५४; १९ : दरि० (मा०) पृ० ४; ३४ : गरी० बा०, पृ० १०; २ : रामचरन बा०, पृ० ४६; २ : पलटू० बा०, भा० ३, पृ० ६६; ६४ : तु० श०, भा० १, पृ० ६८; ३६ : तु० घ० रा०, पृ० ४१४; १०. २—क० ग्र०, पृ० ११३; ८०. ३—क० बीजक, पृ० २९०; ६५ : दरि० वि० अनु०, पृ० १२६; २ : धरम० बा०, पृ० ८३; १६ ४—सं० कबीर, पृ० ६६; ६ : तुलसी बा०, पृ० ३७५; ४ : वही०, पृ० ३७६; १० : रामचरन बा०, पृ० ३०६; ३०. ५—रामचरन बा०, पृ० ३०६; ३०.

दूलन सुआ गनिका की चर्चा करते हैं—(दूलन० बा०, पृ० ३; ६)। गुलाल सुग्गा (तोता) के राम-राम बोलने की चर्चा करते हैं।[1]

मुर्गी—बुल्ला मुर्गी के चेहूँ-चेहूँ तथा रज्जब मुर्गी के द्वारा मोर के अण्डे सेने की चर्चा करते है। रामचरन मुर्गी के प्रातःकाल बोलने का उल्लेख करते हैं।[2]

तीतर और बाज—कबीर, सुन्दर, मलूक, दरिया (वि०) और रामचरन तीतर के ऊपर बाज के झपटने का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं।[3]

कबूतर—गरीब रङ्ग-विरङ्गे परेवा (कबूतर) का उल्लेख करते हैं। रज्जब विहङ्ग (कबूतर) द्वारा पत्र लेकर उड़ जाने की चर्चा करते हैं।[4]

मैना—सुन्दरदास मैना की मीठी वोली की चर्चा करते हैं—(सु० वि०, पृ० १२; ४)।

कीड़े मकोड़े : कीट-भृङ्ग—सन्त-काव्य में कीट-भृङ्ग की चर्चा भी मिलती है। लोकपरम्परा से ऐसा विश्वास चला आ रहा है कि भृङ्गी, कीट को अपने घर में रखकर घूँ-घूँ की आवाज से अपने जैसा ही बना लेता है। इसी दृष्टान्त को सन्तों ने गुरु-शिष्य परम्परा में लिया है। गुरु भी ज्ञान के अभ्यास द्वारा शिष्य को अपने जैसा वना लेता है। कबीर, नानक, रैदास, धरमदास, दादू, रज्जब, हरिपुरुष, यारी, सुन्दर, दरिया (वि०), धरनी, दरिया

१—क० ग्र०, पृ० ११६; ९७ : वही०, पृ०, १२६; १२० : गु० ग्र०, पृ० ९८८; ३ : वही०, पृ० १३८२; ६ : गरीब० बा०, पृ० १२९; १ : धरनी० बा०, पृ० ५१; १३ : सु० वि०, पृ० ६६; १० : दा० बा०, भा० १, पृ० ११६; ३६ : पलटू० बा०, भा० १, पृ० ८५; १८६ : रामचरन बा०, पृ० २४; ६ : गरीब० बा०, पृ० १६६; ५ : तु० घ० रा०, पृ० ३३२; १४ : गु० बा० भु०, पृ० १४४; ४०६. २—बु० बा० भु०, पृ० ८०; २३७ रज्जब बा०, पृ० २८३; २५ : रामचरन बा०, पृ० ३०६; ३०. ३—क० ग्र०, पृ० ७२; ६ : सु० ग्र०, भा० १, पृ० ३१४; १५ : मलूक० बा०, पृ० ६; ३ : दरि० वि० अनु०, पृ० १२५; १७ : रामचरन बा०, पृ० ४१७; ६६. ४—गरीब० बा० पृ० २११; १३ रज्जब बा पृ० ४६८; ५.

(मा०), गुलाल, पानपदास, रामचरन, पलटू और भीखा ने कीट-भृङ्ग की चर्चा की है।[1]

मकड़ी—वषना, रज्जब, दरिया (मा०), दरिया (बि०), चरनदास, हरिदास, रामचरन, पलटू और तुलसी साहब मकड़ी और उसके तार पर आने-जाने का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं। कबीर उलटवासी में मक्खी द्वारा मकड़ी के पकड़े जाने की चर्चा करते हैं।[2]

भौंरा—यह गन्ध का प्रेमी होता है और कमल की गन्ध में अपने प्राणों को देता है। सुन्दरदास भौंरे की चञ्चलता का उल्लेख करते हैं। अर्जुनदेव, रैदास, दादू, वषना, दरिया (बि०), गरीब, पलटू, भीखा और तुलसी ने भौंरे के गन्ध में प्राण देने की चर्चा की है।[3]

मक्खी—कबीर और धरमदास के अनुसार मक्खी गुड़ में लिपटकर अपने प्राण देती हैं। दरिया (बि०) मक्खी द्वारा भोजन के गन्दा करने

१—क० ग्र०, पृ० २१८; ३९३ : गु० ग्र०, पृ० १७६; ७२ : रवि० उ० का०, पृ० १४४; ४१ : धरम० बा०, पृ० ८०; १५ : दा० बा०, भा० १, पृ० १४; १४२ : रज्जब० बा०, पृ० ५५; १० : हरिपु० बा०, पृ० १५; यारी बा०, पृ० ८; १९ : सु० ग्र०, भा० १, पृ० ३२९; ५२ : दरि० बि०, पृ० १२६; १७ : धरनी० बा०, पृ० ६; १० : दरि० मा०, पृ० ३; २७ : गु० बा० भु०, पृ० ३२३; ५२५ : पा० बो०, पृ० ४९; ५ : रामचरन बा०, पृ० ३९ : पलटू० बा०, भा० २, पृ० ८; १६ : भी० बा० भु०, पृ० १४३; ४०५,
२—क० ग्र०, पृ० ११३; ८० : वषना बा०, पृ० ५०; १ : रज्जब बा०, पृ० १५५; ३ : दरि० बि०, पृ० ३४; ३८२ : दरि० मा०, पृ० ६८; ५ : चरन० बा०, पृ० ९०; २ : हरि० पु०, पृ० ७९; : रामचरन बा०, पृ० ११६; १० : पलटू० बा०, भा० २, पृ० ९४; ९३ : तु० घ० रा०, पृ० ३१४; ११९.
३—सु० ग्र०, भा० १ पृ० १२६; १ : गु० ग्र०, पृ० ८३०; १ : रैदास बा०, वे० वि०, पृ० ३७; ७६ : दा० बा०, भा० १, पृ० १३२; १७४ : वषना बा०, पृ० १०; १ : दरि० वि० अनु०, पृ० ९; ९४ : गरी० बा०, पृ० २६; २७ : पलटू० बा०, भा० १, पृ० ५२; ११४ : भी० बा० भु०, पृ० १८७; ५०१ : तु० घ० रा०, पृ० ३११; १.

का उल्लेख करते हैं। कबीर मधुमक्खी के मधु-सञ्चय करने की चर्चा करते हैं।[1]

मूसा (चूहा), घूस—कबीर उलटवासी में मूसा के बच्चे के घर में मङ्गल गाने तथा घूस के पानों की गिलौरी लाने का सन्दभ प्रस्तुत करते हैं। दरिया (बि०) ने भी उलटवासी में मूसे के ताल लगाने की चर्चा की है। रामचरन के अनुसार मूसे को बिल्ली ताकती रहती है। कबीर, नानक, धरमदास, तथा मलूक मूसा के घर में रहने का उल्लेख करते हैं।[2]

गिरगिट—दूलन कहते हैं कि 'गिरगिट की दौड़ कण्डोरे तक'।[3]

टिड्डी—रामचरन सब टिड्डी के एक साथ उठकर दौड़ने की चर्चा करते हैं।[4]

सर्प—कबीर अन्य पशुओं की भाँति सर्प को भी माया में नष्ट हुआ मानते हैं। कबीर, गरीब और रज्जब साँप की केंचुली का उल्लेख करते हैं। धरनी और सुन्दरदास, रज्जु सर्प के भ्रम की चर्चा करते हैं। रैदास और धरमदास सर्प के मलयागिरि पर रहने का उल्लेख करते हैं। सुन्दरदास कहते हैं "जिस प्रकार सर्प चन्दन के वृक्ष से लिपटा रहता है उसी प्रकार सन्त भगवान् के चरणों में।" दरिया (बि०) उलटवासी में सर्प के गाना सिखाने की चर्चा करते हैं। उनका विश्वास है 'फणि मणि बिन व्याकुल'। कबीर, गरीब और रामचरन सर्प के दूध से ज़हर बनाने का उल्लेख करते हैं। गरीब सर्प के बाँबी में रहने का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं। सुन्दरदास कहते हैं कि सप कुरङ्ग नाद के

१—क० ग्र०, पृ० ४८; ६ : दरि० बि०, पृ० ६; १२ : धरम० बा०, पृ० ८४; २२. २—सं० कबीर, पृ० ६६; ६ : क० ग्र०, पृ० ११३; ८०, १४१; १६१ : क० बीजक, पृ० ८८; ७२ : गु० ग्र०, पृ० ११०८; १ : दरि० बि०, पृ० १२५; १७. धरम० बा०, पृ० ४०; ३ : मलूक० बा०, पृ० ३५; ३६. ३—दूलन० बा०, पृ० १५; ८ ४—रामचरन बा०, पृ० ८७; ३.

संग।" रामचरन मानते हैं 'सर्प सकल जग का काल है।' पलटू नागिन के अपने बच्चे आप खाने की चर्चा करते हैं।[1]

न्योला—कबीर उलटवासी में न्योले की चर्चा करते हैं। वषना न्योले के सर्प से लड़ने की चर्चा करते हैं।[2]

पतङ्ग—कबीर कहते हैं—"दीपक की ओर उड़ने वाला पतङ्ग भी माया से छेदा गया है।" वषना, सुन्दरदास, रैदास, पलटू और चरनदास पतङ्ग के प्रकाश पर मर मिटने की चर्चा करते हैं। नानकदेव भजन बिन कीट पतङ्ग की योनि में पड़ने का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं।[3]

मच्छर—रामचरन कहते हैं कि मच्छर बार-बार उड़ाने से भी नहीं जाता। **कीड़े**—कबीर उलटवासी में कीड़े के पर्वत खाने की चर्चा करते हैं। **जोंख**—रामचरन के अनुसार जोंख मनुष्य के रोग को रक्त रूप में पी लेती है। **झींगरी**—सुन्दरदास झींगरी के वर्षा में स्वर से बोलने की चर्चा करते हैं।[4]

चींचली—रामचरन चींचली के विषय में कहते हैं कि "दूध के स्थान अर्थात् गाय के थनों के पास चिपके रहने पर भी वह रक्त का ही पान करती है।[5]"

केंचुआ—यह बरसात में होता है। कबीर उलटवासी में इसकी चर्चा करते हैं।[6]

१—सं० कबीर, पृ० २२०; १३ : क० ग्र०, पृ० २१; ६ गरी० बा०, पृ० ४६; २ : रज्जब (स० सु० सा०) पृ० ५२७; ३२ : धरनी० बा०, पृ० ५२; १५ : सु० ग्र०, पृ० २५०; ७ रैदास बा०, पृ० १८; ३४ : धरम० बा०, पृ० १६; १ : सु० ग्र०, भा० १, पृ० २६; ४३ : दरि० बि० अनु०, पृ० १२५; १७ : वही०, पृ० ८७; ४ : क० ग्र०, पृ० ८४; ६ : गरी० बा०, पृ० ४; ३१ : रामचरन बा०, पृ० ३०; ५ : गरी० बा०, पृ० ४७; ३७ : सु० ग्र०, भा० १, पृ० ६८; ३२ : रामचरन० बा०, पृ० २६; ६. २—क० ग्र०, पृ० १४१; १६१ : वषना बा०, पृ० ७५; वही०, पृ० ७२; १. ३—सं० कबीर, पृ० २२०; १३ : वषना बा०, पृ० १२७; १०४ : सु० ग्र०, भा० १, पृ० १३७; १ : रैदास बा०, पृ० २०; ३६ : पलटू० बा०, भा० १, पृ० २८; ६२ : चरन० बा०, पृ० २४; ३६ : गु० ग्र०, पृ० १७६; ७२. ४—रामचरन बा०, पृ० १६४; ८ : सं० कबीर, पृ० ६६; ६ : रामचरन बा०, पृ० ६३; १६ : सु० ग्र० बा० चे० अंग. ५—रामचरन बा०, पृ० ३०; ६ : वही० पृ० ६०; १०. ६—क० बीजक, पृ० ५६; ४५.

गुबरीला—सुन्दरदास, रामचरन और तुलसी, गुबरीला के गोवर की गोली बनाकर उसे लुढ़काने का उल्लेख करते हैं।[1]

मानवीय उपकरण : महल—सन्त-काव्य में महल, घर, चोवारा, हवेली तथा झोपड़े का वर्णन मिलता है। यहाँ तक कि बालक द्वारा बनाये गये रेत के घर की चर्चा भी की गयी है। सन्तकाल में जहाँ महल चूने, पत्थर तथा चौकोर ईंटें पकाकर बनाये जाते थे, वहीं घर तथा झोंपड़े कच्ची ईंटों तथा गारे से वनाये जाते थे और छप्पर से छाये जाते थे। कबीर वर्फ़ के महल की चर्चा करते हैं जो देखने में सुन्दर लगता है, परन्तु सूर्य के चमकते ही पिघल जाता है। वे महलों की अट्टालिकाओं का उल्लेख करते हैं। सन्त इस बात से भली प्रकार परिचित हैं कि कोई महल आशा-तृष्णा से शून्य नहीं है। कबीर कहते हैं—'आसा तृष्णा सब घट काये कोई महल न सूना।' कबीर के इस वाक्य से—'बीबी वाहर हरम महल में बीच मियाँ का डेरा' से व्यञ्जित होता है कि महल में निकाह की हुई बीबी न रहकर अन्य कोई हिन्दू से मुसलमान बनाई हुई बीबी रहती थी।[2]

कबीर के अनुसार महल गहरी नींव खोदकर बनाये जाते थे।[3] उसमें खम्भे लगाये जाते थे। रैदास महलों के बड़े-बड़े आँगन की चर्चा करते हैं। गुलाल के अनुसार महल के किवाड़ों में हीरा-मणि लगाई जाती थी। यह आदर्श कल्पना के रूप में है।[4] गरीब के अनुसार महल में बारह दरवाजे बने रहते थे और यह बड़े निपुण कारीगरों द्वारा बनाया जाता था। इसके चारों ओर वृक्ष लगाये जाते थे। वृक्षों को पानी देने की व्यवस्था के लिये कुँआ वनाया जाता था। वृक्षों की सिंचाई के लिये माली रहता था। महल (वँगले) के आगे फव्वारे लगाये जाते थे जिसमें से सहस्रों धाराएँ छूटती थीं। इसके आगे दरवाज़े में चिक पड़ी रहती थी। इसमें वड़े-वड़े गुम्वज़ बने रहते थे जो चौंसठ खम्भों से बना होता था। गरीव उन खम्भों के वीच की गेलरियों से भी

१—सु० ग्र०, भा० १, पृ० १४३; २५ : रामचरन बा०, पृ० १६४; ३ : तु० बा०, पृ० १२७; १६. २—क० ग्र०, पृ० ३७; १७ : क० बीजक, पृ० ६८; ५५ : वही०, पृ० २५७; ९१ : वही०, पृ० २४८; ८५. ३—क० ग्र०, पृ० २५; ४२. ४—सं० रवि० उ० का०, पृ० १२३; ६६ : गु० बा० भु० पृ० १४१; ३९९.

परिचित हैं। वे महल के अन्दर के बाजार की भी चर्चा करते हैं।[1] वषना महल में लगे पत्थर, चूना और गारे का उल्लेख करते हैं। हरिपुरुष, महल के दरवाजे तथा उसमें लगे चूने का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं। चरनदास, महल के आठ खण्ड तथा बज्र के किवाड़ की चर्चा करते हैं। रामचरन ऐसी घटनाओं से परिचित हैं जिसमें अमीर लोग दूसरों की ज़मीन हड़पकर महल बनवा लेते थे। वे ऊँचे महल की चहारदीवारी, बुर्ज, झरोखे तथा दरवाज़े पर लटके महीन परदे की चर्चा करते हैं। तुलसी के अनुसार महल (बँगला) चतुर राज (मेमार) कारीगर द्वारा बनाया जाता था। उसकी नींव भरी जाती थी। उसमें मज़बूत दरवाजा, खिड़की, ऊँचे खम्भे, दरवाजे तक जाने के लिये घोड़ी तथा उसकी छतें बहुत ऊँची होती थीं। पलटू, महल के गुम्बज़ की चर्चा करते हैं। भीखा, महल के बज्र के किवाड़ का उल्लेख करते हैं। धरनीदास, महल की चर्चा करते हैं। दरिया (वि०), महलों की दीवारों के सुन्दर चित्रों की चर्चा करते हैं।[2]

मध्यकाल में महलों की परम्परा प्राचीन-काल से चली आ रही थी। सन्तों ने जो महलों का वर्णन किया है, वे मुग़लकाल के ही महलों का वर्णन है। परन्तु सन्तकाल के महल एक प्रकार से हर्ष के महलों तथा ईरानी महलों से ही मिलते-जुलते थे। 'कादम्वरी' में बाण (छठी सदी) ने महल की आठ कक्षाओं का उल्लेख किया है। 'नैषधचरित' (बारहवीं सदी) में भी महलों का वर्णन आया है। 'धवल दीप्तमानम्' कल्पित प्रासाद भूमि तथा प्रकाश में प्रतिबिम्बित हो रहे थे। गगनचुम्बी महलों की पताकाएँ सूर्य के अश्वों को लगती थीं। प्रासादों के स्तम्भों पर पुतलिकाएँ थीं। महल के उपवन में सुन्दर हंस थे।' जायसी ने, जो कबीर के समकालीन थे, महलों का उल्लेख किया

१—गरीब० बा०, पृ० १४७; १५४ तक. २—वषना बा०,पृ० २ : हरि० पु०, पृ० १६५; १ : वही०, पृ० १८; १ : चरन० बा०, भा० १, पृ० ३६; १३ : तु० श०, भा० १, पृ० ६४; ५ : वही०, पृ० १२०; ६ : पलटू० बा०, भा० १, पृ० ६; १५ : वही०, पृ० ५१; १५ : भी० बा० भु०, पृ० ११८; ३२६ : धरनी० बा०, पृ० ६; १५ : वही०, पृ० ६; २०, २१ : वही०, पृ० १५; ४ : दरि० वि० अ०, पृ० १३; २६.

है । 'मध्यकालीन सामाजिक दशा' नामक पुस्तक में डॉ० युसुफ़ अली ने महलों का वर्णन करते हुए लिखा है—"महलों की दीवारें सफ़ेद रेशमी पर्दे लटकाकर सजाई जातीं थीं ।...महल के कुछ कमरों की दीवारें चित्रकारों से सजी होती थीं । सन् १३०३ ई० में हज़ार खम्भोंवाला महल अलाउद्दीन ने बनवाया था । इसकी नींव में हज़ारों मंगोलो के मूँड़ भरवाये गये थे । इसमें सुल्तान ने वह सम्पत्ति जो मलिक काफ़ूर दक्षिण से लाया था, लगा दी थी । तैमूर अपने साथ सैकड़ों भारतीय मेमारों को ले गया था क्योंकि उसने अपनी राजधानी समरकन्द में एक जामा मस्जिद बनवाने की योजना बनवाई थी ।

बाबर ने सीकरी में एक तहखाना, जिसमें बैठकर वह कुरान लिखता था, बनवाया था । तालाब के किनारे के कमरे की खिड़कियाँ अभरक की थीं । हुमायूँ ने चलते महल बनवाये थे । उसे ज्योतिष का अच्छा ज्ञान था । उसने सात ग्रहों के नाम पर सात भवन बनवाये थे । अकबर ने फतेहपुर सीकरी में तथा अन्य स्थानों पर महल बनवाये । जहाँगीर ने उस महल को पूरा कराया जिसे अकबर ने काश्मीर में 'सुदृढ़ दुर्ग' पत्थर चूने का बनवाने का आदेश दिया था । शाहजहाँ ने अकबर व जहाँगीर के लाल पत्थर के बनवाये महलों को गिराकर सङ्गमरमर के बनवाये । सङ्गमरमर, मकराना की खानों में असीम मात्रा में मिल रहा था । दिल्ली का लाल किला जो शाहजहाँ के नाम से प्रसिद्ध है, १६३८ ई० में बना । डॉ० अशरफ़ के अनुसार परशियन बादशाहों में आमरिवाज़ था कि वे अपनी यादगार के लिये तथा अपने रहने के लिये अपने महल आप बनवाते थे । हिन्दू राजाओं में भी जहाँ उनका पूर्वज मरा हो, वहाँ रहना अपवित्र समझते थे ।[1]

घर व झोपड़ी—कबीर मिट्टी के घर में रहना ही पसन्द नहीं करते । वे फूस-बाँस से बने छप्पर तथा उसमें लगी थूनी की चर्चा करते हैं । कबीर बिना छप्पर वाले घर का उल्लेख करते हैं । धरनीदास छप्पर पर आग लग जाने की चर्चा करते हैं । शेख़ फ़रीद, बपना और पलटू छप्पर और झोपड़े का उल्लेख करते हैं ।

१—**हर्षचरित**, पृ० ६२ : **कादम्बरी**, पृ० ११०, १७६, १८५, ३६४ : **नैषधचरित**, पृ० ५२; ७६ : म० का० सा० दशा, पृ० १८ : **पद्मावत**, पृ० ५२६; ५०० : म० यु० का इ०, पृ० ३३६, ३६२, ५२८ : इ० की रूपरेखा, पृ० २० : **हुमायूँनामा**, पृ० ३२, ६४ : जहाँ० आ० क०, पृ० ३८६ : मु० का० भा०, भा० २, पृ० २६२ : ला० ए० का० आ० हि० (ए०). पृ० १४६.

ताला कुञ्जी—कबीर ताला कुञ्जी की चर्चा करते हैं। कबीर 'माटी के कोट पषान का ताला' का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं। नानकदेव, अमरदास और धरमदास गुरु की कृपा रूपी कुञ्जी से मन के ताले को खोलने का उल्लेख करते हैं। सिंगाजी, दादू, रज्जब, दरिया (वि०), दूलन, बुल्ला तथा गरीब गुरु के शब्द रूपी कुञ्जी से मुक्ति के ताले के द्वार खोलना चाहते हैं। रामचरन भेद के ताले टूटने का उल्लेख करते हैं। पलटू 'सुरति' की कुञ्जी से 'शब्द' का ताला खोलते हैं। तुलसी के अनुसार सतगुरु की दया रूपी कुञ्जी से भ्रम के घाट खुल सकते हैं।[१]

दीपक-मसाल—मसाल का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। कबीर, रैदास और नानक मिट्टी के दीपक, तेल और बत्ती की चर्चा करते हैं। रामदास, अर्जुनदेव और अमरदास दीपक को अँधियारे का शत्रु मानते हैं। दादू मानते हैं कि अन्धे को दीपक देने से क्या लाभ ! रज्जब दीपक की चर्चा करते हैं। केशव मानते हैं कि दीपक से जगत में उजियारा होता है। चरनदास मानते हैं कि दीपक, तेल बिना नहीं जल सकता। रामचरन, पलटू और तुलसी, दीपक के तेल की चर्चा करते हैं। सुन्दर तेल समाप्त होने पर बत्ती बुझने का उल्लेख करते हैं।[२]

१—क० ग्र०, पृ० ६६; २३ : क० बीजक, पृ० ३३; १२ : गु० ग्र०, पृ० १२४; ७ : वही० पृ० १२३६; १ : धरम० बा०, पृ० २३; १० : सिंङ्गाजी बा० (हि० अनु० अङ्क ३ व० १०) : दा० बा०, भा० १, पृ० १५; १४६ : रज्जब बा०, पृ० ६; २, २६; ५४ : दरि० वि०, पृ० ३७; ८ : दूलन बा०, पृ० ६; ५ : बु० बा० भु०, पृ० २६; ७६ : गरी० बा०, पृ० २०१; २, २०४; ६ : रामचरन बा०, पृ० १५७; २४ : पलटू० बा०, भा० १, पृ० १००; २२३ : वही०, भा० ३, पृ० ८६; १३१ : तु० घ० रा०, पृ० ३६४; १२ : तु० रत्न०, पृ० ७६. २—क० ग्र०, पृ० २३५ रमेणी : वही० , पृ० २८७; ७८ : वही०, पृ० ११६; ८६ : रवि० उ० का०, पृ० ११६; ८३ : वही०, पृ० १३०; ८४ : गु० ग्र०, पृ० ८३६; ५ : वही०, पृ० १७२; ६२ : वही०, पृ० १७६; १ : वही०, पृ० ३५८; ३२ : दा० बा०, (महा विद्या०) पृ० १२१; २७ : रज्जब बा०, पृ० २००; १ : केशव बा०, पृ० ७; ८ : चरन० बा०, पृ० ६१; ४ : रामचरन बा०, पृ० २४५; ४५ : पलटू बा०, भा० ३, पृ० ४८; ६६ : तु० घ० रा०, पृ० १८२; ३ : सु० वि०, पृ० २४; २.

ताला

ताली या कुंजी

दीपक
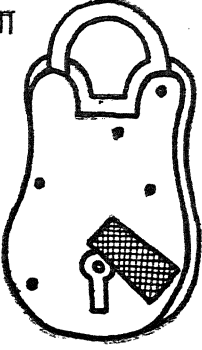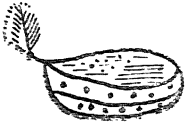
पिलसूज
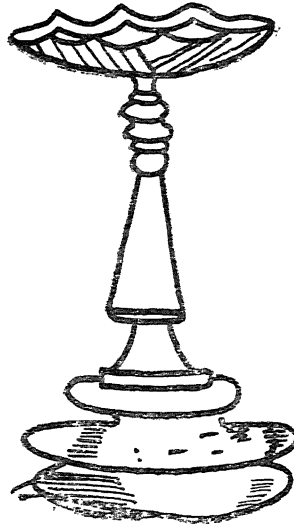
मार्ग—सन्त-साहित्य में अनेक स्थलों पर मार्गों का वर्णन भी मिलता है। वैसे तो उन्होंने आध्यात्मिक पक्ष के मार्ग को ही दृष्टि में रखकर वर्णन किये हैं, परन्तु तत्कालीन मार्गों की स्थिति की कल्पना तो उनमें निहित ही है। कबीर लम्बे तथा कठिन मार्ग का उल्लेख करते हैं तथा सन्तों के मार्ग का रोड़ा बनने का उपदेश देते हैं। आगे वे मार्ग में चलने से पहले अपना सामान ठीक लेकर चलने के लिये आगाह करते हैं, क्योंकि फिर मार्ग में बनिया की हाट मिले या न मिले इसका कुछ भरोसा नहीं। आगे वे कहते हैं कि जो अपना मार्ग छोड़कर चलता है वह धोखा खा सकता है।[1]

रैदास नगर या कस्बे के मार्ग से आने वाला जल गङ्गा में मिलकर गङ्गोदक बन जाता है, इसका उल्लेख करते हैं। अमरदास गुरु सेवा का मार्ग श्रेयस्कर समझते हैं। नानक सीधे मार्ग पर चलने का उपदेश देते हैं। वषना और धरमदास मार्ग की चर्चा करते हैं। गुलालसाहब मार्ग में डाकुओं के द्वारा लूटे जाने तथा सरकारी कर्मचारी द्वारा मार्ग में कर वसूल करने का उल्लेख करते हैं। यारी साहब ऐसे मार्ग की चर्चा करते हैं जहाँ न गली है न कूचा है। बुल्ला साहब और दरिया (वि०) मार्ग में चलते रहने का उपदेश देते हैं। तुलसी साहब मार्ग के ऊवड़ खावड़ होने तथा मार्ग में कङ्कड़-पत्थर और ढेले आदि की चर्चा करते हैं। गुलालसाहब और तुलसीसाहब मार्गों में पड़ने वाली सरायों का उल्लेख करते हैं।[2]

सुन्दरदास ने मार्ग के अतिरिक्त **गली** शब्द की चर्चा की है। गरीबदास ने मार्ग के लिये **'दगड़ा'** शब्द का प्रयोग किया है। आज भी गाँवों में इस शब्द का प्रचलन है। वे मार्ग के लिये **'डगर'** शब्द का भी प्रयोग करते हैं। जिस स्थान से

१—क० ग्र०, पृ० ७; २८ : वही०, पृ० ३१; ६ : वही०, पृ० ६५; ११ : वही०, पृ० ७८; ५० : वही०, पृ० ६; ३२ : वही०, पृ० २२; १४ : वही०, पृ० २१३; ३७६ : क० बीजक पृ० ३७२; ३१ : वही०, पृ० ३६७; ६ : वही०, पृ० ३८१; ८३ :: ३६६; १६१. २—रवि० उ० का०, पृ० १३१; ८७ : गु० ग्र०, वही०, पृ० ३६३; ६१ : वही०, पृ० ७८१; ३ : वही०, पृ० ७६४; २ : वही०, पृ० १४०६; ७ : वषना बा०, पृ० ४६; ५ : वही०, पृ० ४७; ३ : धरम० बा०, पृ० ११; १ : गु० बा० भु०, पृ० ४५; १२५ : यारी० बा०, पृ० ८; १६ : ब० बा० भु०, पृ० ३०; ८० : तु० श०, भा० १, पृ० ४२; ६ : दरि० वि० पृ० २; ६.

मार्ग चारों ओर को जाता है, वह चौक कहलाता है। गरीब ने '**चोक**' शब्द का भी प्रयोग किया है। रामचरन मार्ग के लिये '**लीक**' शब्द का उल्लेख करते हैं। वे गाय, भैंस, भैंसा, गाड़ी, रथ, बहेली के एक ही लीक पर चलने का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं।[१]

मध्यकाल में मार्गों की व्यवस्था अच्छी नहीं थी, फिर भी मुग़ल बादशाहों ने इस ओर ध्यान दिया था। शेरशाह ने व्यापार तथा यात्रा के लिये अनेक सड़कें बनवाईं। एक सड़क तो पन्द्रह सौ कोस की जो सिंधु के किनारे रोहतास से ढाका तक (सोनार गाँव तक), दूसरी ताप्ती नदी पर आगरा से बुरहानपुर तक एवं आगरा से चित्तौड़ तक तथा लाहौर से मुल्तान तक कई सड़कें थीं। इनके किनारे सरायें थीं जिनमें हिन्दू-मुसलमान दोनों के रहने का प्रबन्ध था। वैसे मार्ग थोड़े थे और सड़कें सन्तोषजनक न थीं। मुग़ल बादशाहों ने जो पथ बनवाये थे वे भी पुराने राजपथ थे जिन्हें हिन्दुस्तान के शासकों ने क़ायम किया था। शाखाओं की सड़कें तो बैलगाड़ियों के चलने से बन गयी थीं। बाबर ने आगरे और काबुल के बीच में पन्द्रह-पन्द्रह मील की दूरी पर चौकियाँ बनवाई थीं। चौकियों पर घोड़े रहते थे। इस प्रकार उसने मार्ग व्यवस्था ठीक कराई थी। इस काल में प्रसिद्ध नगर कच्ची सड़कों के द्वारा एक-दूसरे से मिल गये थे। वे सड़कें बरसात के समय को छोड़कर अच्छी अवस्था में रहती थी। सड़कों के दोनों ओर वृक्षों की कतारें तथा उन पर बड़ी-बड़ी दीवारों वाली सरायें थीं। जहाँगीर ने भी अपनी आत्मकथा में सड़कों की मरम्मत कराने, वृक्ष लगवाने की आज्ञा देने तथा प्रत्येक कोस पर खम्भा खड़ा कराने और हर तीसरे कोस पर कुआँ बनवाने की चर्चा की है।[२]

नाली—महलों के बाहर मार्ग के किनारे नालियों का उल्लेख भी सन्त-साहित्य में मिलता है। अमरदास नाली के जल का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं।[३]

१—सु० वि०, पृ० ५६; १२ : गरी० बा०, पृ० ४३; ७० : वही०, पृ० १६२; २ : वही०, पृ० ६६; ६ : वही०, पृ० १३१; ६ : रामचरन बा०, पृ० ४६२; ६०, ६१, ६२ : वही०, पृ० ८७६; ६६. २—हि० का इ० (डॉ० ताराचंद) पृ० २२६ : वही०, पृ० ३७६ : उ० म० का० भा०, पृ० ६ : मु० का० भा०, भा० १, पृ० ३०८ : जहाँ० आ० क० पृ० ६०६, ६११ सु० शा० पृ० : अनु०—डॉ० एन० सरकार : पृ० १६१ : खि० का० भा०, पृ० १४६, २१४ : तु० का० भा०, भा० १, पृ० २७१ : बाबर-हुमायूँ पृ० ७३, ३—गु० ग्र०, पृ० ८५४; १३. १.

अष्टम प्रकरण

सन्तकाव्य का लोक-सांस्कृतिक स्तर

पिछले प्रकरणों में सन्त-काव्य की समस्त लौकिक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। सन्त-काव्य की अभिव्यक्ति के अन्तर्गत अनेकानेक सन्दर्भों के माध्यम से, तत्कालीन जीवन के सम्बन्ध में सभी प्रकार के तथ्यों को सङ्कलित कर, पूरे युग के लौकिक पक्ष को सङ्गठित किया गया है। काव्य के रूप में सन्तों की यह अभिव्यक्ति केवल युग-जीवन के वाह्यपक्षों तक ही सीमित नहीं रही है, इसमें सांस्कृतिक चेतना के आन्तरिक पक्षों को भी देखा जा सकता है। इसी दृष्टि से सन्त-काव्य की परम्परा में व्यस्त राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक तथा रीति-रिवाज़ों से सम्वद्ध विविध पक्षों के साथ दार्शनिक, धार्मिक, तथा कलात्मक पक्षों को स्वीकार किया जा सकता है। धर्म, दर्शन तथा सौन्दर्य-दृष्टि का सम्वन्ध लोकसमाज की व्यापक भावना से न रहता तो ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह अलग बात है कि प्रस्तुत अध्ययन में लोक शब्द को परलोक अथवा आध्यात्मिक विषय के रूप में रखकर स्वीकार किया गया है और इसी कारण इस विवेचन में इस काव्य के आध्यात्मिक साधनापरक पक्ष को छोड़ दिया गया है, अथवा उसी सीमा तक इसका उपयोग किया गया है जहाँ तक लौकिक पृष्ठभूमि की विवेचना में सहायता मिली है।

इस काव्य में दार्शनिक चिन्तन, धार्मिक भावना और कलात्मक अभिव्यक्ति को आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से ही प्रमुखतः ग्रहण किया गया है। परन्तु दर्शन, धर्म और साहित्य की व्यापक भावना युग के लौकिक जीवन से सम्वद्ध होती है, युग की सम्पूर्ण सांस्कृतिक चेष्टा में इनका महत्वपूर्ण स्थान होता है। प्रत्येक युग की संस्कृति जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विशिष्ट व्यक्तित्वों के प्रयत्न का परिणाम है, वह सम्पूर्ण युग की उपलब्धि केवल इसी दृष्टि से मानी जाती है कि युग को सार्थकता इसी से मिलती है। हमारे आलोच्य-युग की दार्शनिक, धार्मिक तथा साहित्यिक उपलब्धियों में जिस सीमा तक सन्तों के व्यक्तित्व का योग-दान है, वह युग के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण होकर भी लौकिक नहीं माना जा सकता अर्थात् इसे लोकसंस्कृति का अङ्ग स्वीकार नहीं किया जायगा।

परन्तु प्रत्येक युग की शिष्ट संस्कृति अपने समानान्तर प्रवाहित होने वाले लोकजीवन को अप्रभावित नहीं छोड़ती। लोक-मानस, प्रवाह में आदिम मानस से परम्परा के रूप में सम्बद्ध होकर भी इन समानान्तर विकसित होने वाली संस्कृतियों से अप्रत्यक्ष तथा सहज रूप से प्रभाव ग्रहण करता है। इसी परिस्थिति के कारण लोक-मानस के स्तर पर संस्कृति के विभिन्न तत्वों की प्रक्रिया से लोक-संस्कृति की कल्पना की जाती है। लोक-संस्कृति में दार्शनिक चिन्तन, धार्मिक भावना तथा कलात्मक सौन्दर्यबोध एक ओर परम्परा से प्रेरित होता है और दूसरी ओर युगीन सांस्कृतिक चेष्टाओं से सञ्चालित भी। इसमें इन दोनों प्रेरणाओं को लोक-मानस के स्तर पर प्रतिक्रियाशील देखा जा सकता है।

हमारे साहित्य के इतिहास में सन्त अशिक्षित, शास्त्रों के विरुद्ध तथा नागरिक शिष्ट संस्कारों से दूर रहे हैं। इस दृष्टि से ये स्वयं लोक का सच्चा प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तित्व रहे हैं। किन्तु व्यक्तित्व की चेतना के साथ इनको लोक के प्रवाह में मात्र परम्पराओं के आधार पर लोक-संस्कार से अभिन्न नहीं माना जा सकता। वस्तुतः ये भारतीय चेतना के ऐसे अङ्ग हैं जिनके कारण यहाँ की उच्चतम सांस्कृतिक चेष्टाएँ लोक-मानस पर सहज ही संचरणशील हो सकी हैं। इनके व्यक्तित्व स्वयं ऐसे हेतु बनते रहे हैं जिनके माध्यम से युगीन संस्कृतियाँ लोक-संस्कृतियों को प्रेरणा देती रही हैं।

इस दृष्टि से सन्त कवियों ने शास्त्र, परम्परा, तथा रूढ़ियों की अवहेलना करके सत्य की खोज के लिये जिस मुक्त और स्वच्छन्द जीवन के अनुभवपरक ज्ञान पर बल दिया है, वह लोक की स्वच्छन्द भावना पर प्रतिष्ठित जान पड़ता है। साथ ही सन्तों ने लोक की परम्परावादिता, गतानुगतिकभावना और अन्ध-विश्वासों को भी अस्वीकार कर उन्हें संस्कार के ऊँचे स्तर पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। जब उन्होंने शास्त्र और परम्परा से विद्रोह किया है, उनका भाव उनमें विहित विचारों, भावनाओं तथा आदर्शों के परित्याग का कभी नहीं है। वरन् उन्होंने संस्कृति के उच्चतम भावों और परिकल्पनाओं से अनुभव और साक्षात्कार के आधार पर प्रेरणा ग्रहण की है और उनकी अभिव्यक्ति उसी स्तर पर करने की चेष्टा भी की है। इसी प्रकार उन्होंने अपनी समस्त विचार-धाराओं, अपने समस्त सत्यानुभवों और सामाजिक एवं धार्मिक आदर्शों को लोक के स्वच्छन्द और मुक्त स्तर पर ही, व्यक्त और प्रतिष्ठित किया है।

इस प्रकार सन्तों के काव्य में जिस संस्कृति की अभिव्यक्ति या उपलब्धि है, वह एक ओर शिष्य संस्कृतियों के उच्चतम सृजनात्मकता से सम्बद्ध है और दूसरी ओर लोक-मानस के सांस्कृतिक कोष पर भी आधारित है। यह सन्त-काव्य की विशिष्ट और परिकल्पनाओं को उनके गहनतम अर्थबोध के सहज स्तर पर व्यञ्जित करने का प्रयत्न किया गया है; धार्मिक साधनाओं और विश्वासों को जीवन के मुक्त वातावरण में प्रतिष्ठित किया गया है और साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिये लोक-जीवन से ही प्रतीक, उपमान, दृष्टान्त, छन्द और सङ्गीत जुटाये गये हैं।

सन्तों का लोक दर्शन : लोक दर्शन का स्वरूप—सामान्यतः दर्शन विशिष्टता से सम्बद्ध होता है। जीवन-जगत् सम्बन्धी जिज्ञासाएँ, ब्रह्म-जीव सम्बन्धी प्रश्न और सृजन के कार्य-कारण की छान-बीन व्यक्तिगत चिन्तन-मनन के अन्तर्गत आती है। इसी कारण दार्शनिक चिन्तन शैलियों का सम्बन्ध युग-विशेष की साँस्कृतिक चेष्टाओं से रहता है। परन्तु इन जिज्ञासाओं, प्रश्नों और चिन्तनों का मूल-स्रोत आदि मानस की कौतूहलमूलक जिज्ञासाओं में ही खोजा जा सकता है। मनुष्य अपनी आदिम अवस्था से ही अपने चतुर्दिक् तथा स्वयं अपने प्रति प्रश्नशील रहता है। अतः दार्शनिक चिन्तन का संस्कार लोक-मानस में परम्परागत रूप में सुरक्षित रहता है। साथ ही अपने संस्कार के लोक-परक आधार पर वह समानान्तर विकसित होने वाली संस्कृतियों की चिन्तन पद्धतियों से भी प्रभाव ग्रहण करता है।

परिणामस्वरूप युग की दार्शनिक चिन्ताधाराएँ, युग-मानस पर प्रतिपालित होकर भी लोकपरक स्वरूप में परिलक्षित होती हैं। लोक, प्रत्यक्ष को महत्व देता है, उसके लिये अनुभव सबसे बड़ा साक्ष्य या प्रमाण है और अनुभव भी प्रत्यक्ष के स्तर पर ही प्रायः स्वीकृत होता है। सन्तों ने वेद-शास्त्र के प्रमाण को स्वीकार नहीं किया है। कबीर ने ज्ञान की समस्त शास्त्रीय परम्पराओं को तत्वज्ञान के क्षेत्र में अमान्य माना है। इसका यह अर्थ तो नहीं लिया जा सकता कि कबीर ने उनके ध्यान पर लोक परम्परा को प्रमाण स्वीकार किया हो, उन्होंने तो स्पष्ट कहा है कि 'लोक-वेद' की परम्पराओं में संसार कहा जा रहा है। पर तत्व-ज्ञान के चिन्तन का जो भी स्वरूप कबीर आदि सन्तों ने ग्रहण किया है, लोक की व्यापक भावना के स्तर पर प्रतिष्ठित है।[१] उन्होंने अपनी

१—इस विचार-धारा के सन्दर्भ, प्रथम प्रकरण में जा चुके हैं; स० सु० सा० (अमरदास), पृ० ३०५; ७ : दा० वा० (मार०) २६; २७.

समसामयिक दार्शनिक चिन्ता-धाराओं को प्रत्यक्ष-अनुभव के स्तर पर ही ग्रहण किया है और उनकी समन्वयात्मक दृष्टि का आधार भी लोकपरक माना जा सकता है ।

ब्रह्मतत्व की कल्पना—सन्तों का चिन्तन परप्रत्यक्षात्मक न होकर प्रत्यक्षात्मक है, और यह प्रवृत्ति स्वतःलोकपरक मानी जा सकती है। संसार की क्षणभंगुरता प्रत्यक्ष सत्य है—"दुनिया सब मुख रोगी विआपे तृष्णा जलहि अधिकाई । मरि मरि जमहि ठउर न पावहि विरथा जनम गवाई" ॥[१] संसार की इस क्षणिकता से उसका सुख-दुःखमय होना भी सामान्य अनुभव का विषय है । दादू के अनुसार—"इस लोक में सुख के भीतर अनेक दुःख हैं और दुःख में अनेक सुख अन्तर्निहित हैं । इस स्थिति को जो समझ सकता है, वही वास्तविक सुख पा सकता है, अन्यथा गवाँर तो यहाँ रोता ही है ।"[२] इसी साँसारिक अनुभव के आधार पर शेख़ फ़रीद कहते हैं—'तालाब में पक्षी अपने आप में अकेला है और उसको फँसाने वाले पचासों शिकारी हैं। यह शरीर उसकी लहरों में डूब रहा है ।"[३] जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर सन्त संसार की मायाजनित स्थिति का स्वरूप खड़ा करते हैं। धर्मदास प्रश्नशैली में जिज्ञासाओं के आधार पर मायातत्व का विवेचन करते हैं—"जीव कहाँ से आया, कहाँ समा गया ? वह मुक़ाम कहाँ करता है और किससे लिपटता (आसक्त) है ! निर्गुण तत्व से वह आता है, सगुण में व्यक्त होता है, काया गढ़ में वास करता है और माया से लिपटता है ।"[४] वस्तुतः सन्तों की इस प्रचलित शैली का रूप लोकपरक है और साथ ही इसमें प्रतिपादन का आधार भी लोक-मनोवृत्ति के अनुकूल है ।

वस्तुतः संसार की प्रत्यक्ष नश्वरता और क्षणिकता के माध्यम से दार्शनिक परम तथा अविनश्वर सत्य की परिकल्पना की गयी है। इसकी ओर लोक-मानस सहज अनुभव के आधार पर प्रेरित अवश्य होता रहा है, यह अलग बात है कि वह इसको परप्रत्यक्षात्मक चिन्तन का रूप नहीं दे सकता । सन्तों ने परमतत्त्व के अन्वेषण और स्थापना के लिए लोकपरक प्रत्यक्ष के आधार का आश्रय प्रायः लिया है। सर्वप्रथम ब्रह्मतत्व की व्यापकता का प्रश्न उठता है । सन्त साधारण जीवन के अनुभव के क्षेत्र की

१—सं० सु० सा० (अमरदास). पृ० ३०५;७. २–दादू—क्षितिमोहनसेन; पृ० १०६. ३—सं० सु० सा० (शेख़ फरीद), पृ० ४२३. ४—धरम० बा०; पृ० ५६;३.

वस्तुओं में अन्तर्निहित सत्य से इस अन्वेषण में अग्रसर होते हैं। यारी साहब 'तिल में तेल, दही में घी, काठ में आग और फूल में सुगन्ध' की व्याप्ति देखते हैं। वे 'फल में बीज की स्थिति, बीज में अंकुरित होने की सम्भावना भी देखते हैं। और इन्हीं के माध्यम से वे सम्पूर्ण घट में व्याप्त तथा निहित ब्रह्म की कल्पना कर लेना चाहते हैं।[1]

सन्तों की ब्रह्मतत्व की कल्पना को किसी एक सत्यवाद की व्याख्या के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। उसमें मुस्लिम सर्वसत्तात्मक ईश्वरवाद, अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद तथा प्रकृति-पुरुष की सांख्य कल्पना, सभी कुछ मिल जायगा। साथ ही वे शून्यवादियों की परम्परा में द्वैताद्वैत-विवर्जित तथा सदसत् से परे ब्रह्म की कल्पना भी करते हैं। परन्तु एक तो इस मत-वैविध्य के मूल में समन्वय की जो भावना है वह स्वयं लोकपरक है और साथ ही जिन रूपकों, दृष्टान्तों तथा प्रतीकों से इन परिकल्पनाओं को ग्रहण करने का प्रयत्न किया गया है ये नितान्त लौकिक हैं। कबीर घट तथा कुम्भ आदि परम्परागत प्रतीकों का प्रयोग इस प्रकार करते हैं कि ये लोक भाव-भूमि से गृहीत जान पड़ते हैं, इसी प्रकार अन्य अनेक ऐसे रूपक, उपमान, दृष्टान्त तथा प्रतीक, सन्तों ने इन परिकल्पनाओं को व्यक्त करने के लिये प्रस्तुत किए हैं जो लोक-जीवन के अभिन्न अङ्ग हैं। वस्तुतः पिछले समस्त अध्ययन में अलौकिक पृष्ठ-भूमि प्रस्तुत की जा सकी है, वह जैसा कहा गया है इन्हीं के माध्यम से। अतः यहाँ सङ्केत देना पर्याप्त समझा जाना चाहिए।

कुम्भ तथा सागर की कल्पना हरिपुरुष भी करते हैं—"सागर में कुम्भ कुम्भ में जल है, निराकार निज ऐसा।"[2] पलटूदास एक से अनेक और फिर अनेक से एक होने वाले परमतत्व को इस प्रकार व्यक्त करते हैं—"जैसे मेंहदी के पत्तों में लाली छिपी है, दूध में घी निहित हैं, फूल में गन्ध और काठ में आग।" उसी प्रकार आगे कहते हैं—"समुद्र के बीच में बूँद पड़कर उसमें समाहित हो जाती है। पानी लहर है और लहर पानी है, दोनों अभिन्न हैं।"[3] दरिया साहब (बि०) दही में घी, फूल में गन्ध, तिल में बास आदि

१—बा० बा०, पृ० ४५१; ११८०. २—हरि० पु०, बा०, पृ० २५४; ११. ३—पलटू० बा०, भा० ३; पृ० ६; १४ : वही०, पृ० ७; १७ : ५६; ५२,

के दृष्टान्त देने के साथ 'अनेक जलाशयों तथा दर्पणों में एक ही चन्द्रमा के अनेक रूपों में प्रतिविम्बित होने' की चर्चा भी करते हैं। उन्होंने अन्य सन्तों के समान संसार की भ्रमशीलता के लिये काँच के महल में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर भूकने वाले कुत्ते, कुएँ में परछाई देखकर कूद पड़ने वाले सिंह, तथा स्फटिक शिला में प्रतिछाया देखकर भिड़ जाने वाले गज का दृष्टान्त दिये हैं।[1] ये दृष्टान्त लोक-मानस पर परम्परागत रूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं।

उपर्युक्त प्रतीकों के अतिरिक्त 'धरती में पानी', 'अँखुओं में कन्द' और 'पेड़ में फल की सम्भावना' की चर्चा भी ब्रह्म-तत्व की व्याख्या के लिये इसी स्तर पर की गयी है।[2] इस प्रकार के अनेकानेक प्रतीकों, उपमानों, रूपकों तथा दृष्टान्तों को लोक के सामान्य जीवन से ग्रहण कर सन्तों ने अपने द्वारा परिकल्पित परमतत्व को प्रत्यक्ष रूप में व्यक्त करने की चेष्टा की है। इनके माध्यम से ब्रह्मतत्व की जो परिकल्पना प्रस्तुत हुयी है, उसको किसी तत्ववाद की सुनिश्चित परप्रत्यक्षात्मक परिकल्पना में बाँधा नहीं जा सकता और यह बात इस बात का प्रमाण है कि सन्तों की आध्यात्मिक सत्य की खोज लोक-मानस से घनिष्ट रूप में सम्बद्ध हैं।

साधना का स्वरूप : अनुभव—सन्तों ने ज्ञान की अपेक्षा अनुभव को महत्व दिया हैं। वस्तुतः मध्ययुग के भक्ति-आन्दोलन की साधनापरक दृष्टि का मूलाधार अनुभव ही है और इस पक्ष से यह सम्पूर्ण आन्दोलन लोक के सहज मनोभाव पर प्रतिष्ठित माना जा सकता है। अनुभव का अर्थ आध्यात्मिक क्षेत्र में आत्म-साक्षात्कार है और उपनिषदों के युग के परमतत्व के अन्वेषण में इसका महत्व स्वीकृत रहा है। पर अनुभव का लौकिक सन्दर्भ प्रत्यक्ष-बोध से है जो स्वयं आत्मसाक्षात् के समान ही तर्कातीत स्थिति से सम्बद्ध है। कबीर जब कहते हैं—"बोलना का कहिए रे भाई, बोलत बोलन तत्व नसाई।" उस समय ये सम्पूर्ण आध्यात्मिक सत्य को लोक जैसे प्रत्यक्षानुभव पर ही प्रतिष्ठित करते हैं। इसी प्रकार दादू कहते हैं—"दादू सरवर सहज का, तामें प्रेम तरङ्ग। तह मन भूले आतमा, अपने सहि सङ्ग॥" और

१—दरि० बा० (वि०) ८०; ३ : १०८; ८ : ६२; १ : ६१; १ : ६८; २०. २—पलटू० बा०, भा० ३; पृ० ३; ७.

उनके इस चित्रण में प्रत्यक्षानुभव के लौकिक आधार पर ही आध्यात्मिक ब्रह्म साक्षात्कार की व्यञ्जना है।[1]

इस अनुभव के साथ ही आध्यात्मिक आलम्बन के रूप में ब्रह्म सत्य की कल्पना पति, स्वामी, बन्धु, माता और प्रिय के अनेक रूपों में की गयी है।[2] इस प्रकार के सम्बन्धों की कल्पना परमतत्व के प्रति करना स्वयं में लौकिक भावभूमि का सङ्केत देता हैं। लोक-मानस अपने जीवन के प्रत्यक्ष आधार पर ही सम्बन्धों की कल्पना करने में समर्थ होता है। इसके साथ ही इस व्यक्तिगत रूप में स्थापित प्रभु को 'मृग की नाभि की कस्तूरी', 'बगल के लड़के' और 'पलङ्ग पर सोये हुये प्रियतम' के समान अपने अत्यन्त निकट को आत्मीय वस्तु कहा गया है।[3]

प्रेम-तत्व—साधना के क्षेत्र में सन्तों ने व्यापक रूप से प्रेम-तत्व को स्वीकार किया है। ब्रह्म-तत्व को निर्गुण, परात्पर, असीम, अगोचर और कभी-कभी द्वन्द्वातीत तथा द्वैताद्वैतविवर्जित मान कर भी जब सन्त उस तत्व की आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभूति के लिए प्रेम को स्वीकार करते हैं, तब उसके मूल में वही प्रवृत्ति मानी जा सकती है कि वे अपनी साधना को लोकपरक आधार पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। मध्ययुग के भक्ति आन्दोलन की भावोल्लास की साधना निवृत्ति-प्रधान साधना की प्रतिक्रिया थी और इस दृष्टि से साधना का यह प्रेमपरक रूप स्वतः लोक की भावना के अधिक निकट था।

सन्तों ने प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए प्रेमी और प्रेमिका का जो व्यापक प्रतीक ग्रहण किया है, वह लोक की भावभूमि से स्वीकृत है। इनका सम्पर्क प्रेम की प्रारम्भिक स्थिति, मिलन की कामना, विरह का अनुभव, विरह की पीड़ा तथा विकलता और आकुलता आदि का जो वर्णन सन्तों ने किया है, वह लोकजीवन के सहज स्तर का ही है। इसके साथ विवाह, बिदा, गौना, मङ्गलाचार, डोली पर बिदा, प्रिय का समीप्य लज्जा, अवगुण्ठन, निरावरण भाव से मिलन आदि के वर्णन में भी लोक-जीवन की सहज और मुक्त अभिव्यक्ति का आश्रय लिया गया है।

१—प्रकृति और काव्य : हिन्दी : रघुवंश; पृ० ११२. २—'हरि मेरो पीव', 'मैं गुलाम मोहि बेचि गुसाई', 'जाके राम सरीखा भाई', हरि जननी मैं बालक'—कबीर :. ३—पलटू० बा०, भा० ३; पृ० ४;८.

सन्तों की साखियों के विरह, परिचय, रस, सङ्ग, पतिव्रता तथा सती आदि के अङ्गों तथा इसी प्रकार प्रेम तथा विरह से सम्बद्ध शब्दों में विरहिणी का जो व्यक्तित्व सङ्गठित होता है, वह लोक की विरहिणी नायिका से भिन्न नहीं है। उसकी भावाकुलता, तन्मयता, मिलनोत्सुकता, स्वच्छन्दता तथा उद्वेलन लोकनायिका का ही है। केवल सन्तों ने इस भावभूमि से आध्यात्मिक सन्दर्भों और रहस्यानुभूति की स्थितियों को सम्बद्ध तथा व्यञ्जित अवश्य किया है।

धर्म तथा आचरण की मर्यादा—वस्तुतः सन्तों का सम्बन्ध युग की धार्मिक चेतना से विशेष रूप से रहा है। यह अलग बात है कि धर्म को शास्त्रीय तथा साम्प्रदायिक परम्पराओं और उसके बन्धनों से मुक्त करने की दृष्टि से सन्तों ने उसके ज्ञानपक्ष अर्थात् दार्शनिक चिन्तन को सर्वप्रथम स्वच्छन्द लोकजीवन के स्तर पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। फिर, उन्होंने साधना पक्ष को प्रेम-भक्ति के रूप में लोक-मानस का आधार ग्रहण कराया है। यद्यपि यह स्मरण रखना आवश्यक है कि सन्तों के चिन्तन तथा साधना की लोकतात्विक दृष्टि से एक सीमा तक ही देखा जा सकता है, क्योंकि इस आधार तथा भावभूमि को ग्रहण करने के बावजूद सन्तों का प्रयत्न अपने आप में विशिष्ट और उनकी चेष्टा सांस्कृतिक है। लोक से उन्होंने दृष्टि की मुक्ति, भावों की स्वच्छन्दता, विचारों की नवीनता और व्यक्तित्व का विद्रोह अवश्य ग्रहण किया है। इस कारण इस सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों के अतिवादी विचारों के प्रति सतर्कता अपेक्षित है।

जहाँ धर्म के आचरण पक्ष का सवाल है, सन्तों ने परम्परागत, रूढ़िवादी. शास्त्रीय तथा साम्प्रदायिक आचरण की मर्यादाओं का विरोध किया है। इस प्रकार के विश्वास और लोक के अन्धविश्वासों में उन्होंने अन्तर नहीं किया है। इस दृष्टि से सन्तों को लोक मनोवृत्ति के विपरीत देखा जा सकता है, क्योंकि लोक-धर्म के वाह्य विधानों, कर्मकाण्डों में अधिक बल देता है और सन्तों ने इनका विरोध किया है। यद्यपि सन्त सम्प्रदायों मे धर्म के इस पक्ष की लोक मनोवृत्ति के अनुकूल परिणति आगे चलकर देखी जा सकती है। इन सम्प्रदायों में कर्मकाण्डों, विधि-विधानों तथा पूजा-पाठों का घटाटोप आडम्बर देखा जा सकता है। यह परिणति सन्तों की व्यापक लोकपरक भावना के

परिणाम के रूप में मानी भी जा सकती है, पर हमारे अध्ययन का विषय सन्त काव्य है, सन्त-सम्प्रदाय नहीं।[1]

परन्तु व्यापक रूप से सन्त भारतीय विचारधारा की परम्परा से सम्बद्ध हैं जो नागरिक शिष्ट संस्कृतियों की परम्परावादिता, रूढ़िग्रस्तता तथा ह्रासोन्मुखता से मुक्त होकर भारतीय जीवन को अधिक मुक्त, व्यावहारिक और लोकपरक भावभूमि पर प्रतिष्ठित करने में प्रयत्नशील रही है। सात्वतों तथा ऐकान्तिकों की भावमूलक उपासना (भक्ति) वैदिक कर्मकाण्डों के समानान्तर विकसित हुई थी। बौद्ध तथा जैन धर्मों ने भी कर्मकाण्ड तथा यज्ञों के विधान से मुक्त होकर धर्म की भावना को सामान्य लोकपरक आचरण की मर्यादा पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया था। आगे चलकर शैव, शाक्त तथा सिद्ध-सम्प्रदायों में अपनी धार्मिक दृष्टि और साधना के स्वरूप को लोक-रुचि के अनुरूप करने की प्रतिद्वन्द्विता देखी जा सकती है।[2] इसके परिणाम-स्वरूप इस युग के अनेकानेक विकसित होने वाले मतदाताओं तथा सम्प्रदायों में अनेक ऐसी परम्पराओं, अन्धविश्वासों, रूढ़ियों तथा मान्यताओं की स्वीकृति मिली जो इस काल के लोकसमाज में प्रचलित थीं।

हिन्दी साहित्य के मध्ययुग के भक्ति-आन्दोलन में जिस वैष्णव भावना का व्यापक प्रसार देखा जाता है, उसमें इस सीमा तक की लोक-निर्भरता को अस्वीकार कर व्यापक मानवीय स्तर पर प्रतिष्ठित लोक-पक्ष को ग्रहण किया गया है। पिछले कतिपय सम्प्रदायों ने विरक्तिपरक धार्मिक साधना पद्धतियों के स्थान पर प्रवृत्तिमूलक साधनाओं को स्वीकृति देकर लोक-भावना को अङ्गीकार किया था। भक्ति-आन्दोलन ने इस लोक के प्रबल पक्ष को स्वीकृति दी है। यह अवश्य है कि यह प्रवृत्ति आध्यात्मिकता की ओर विशेष रूप से उन्मुख की गई है। इसी प्रकार सिद्धों ने धर्म के आचरणपरक पक्ष में भी शास्त्र की मर्यादाओं को अस्वीकृत किया था। उन्होंने आचरण की मर्यादाओं को मुक्त करने का विद्रोही स्तर उठाया था। इसी परम्परा में सन्तों ने आचरण की मर्यादा के क्षेत्र में शास्त्रीय परम्परा तथा रूढ़ियों से मुक्त होने का तो आग्रह किया है, पर उन्होंने लोक की व्यापक भावना पर प्रतिष्ठित मानवीय

१—मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन—डॉ० सत्येन्द्र; निर्गुण सम्प्रदाय के तत्व. २—हिन्दी साहित्य की भूमिका—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ५७.

आचरण की मर्यादाओं को स्वीकृति भी दी है। ये बलपूर्वक माया, मोह, अहंकार, काम, क्रोध मद आदि के बचने तथा सत्य, अहिंसा, दया, प्रेम, एवं साधु-सङ्गति करने का उद्घोष करते हैं। ये आचार्य के मूल्य व्यापक मानवीय स्तर पर प्रतिष्ठित होने के कारण लोक-जीवन के भी निकट हैं।

लोक, धर्म के विविध पक्षों चिन्तन, आचरण और साधना को अलग-अलग रूपों में ग्रहण नहीं करता। सन्तों ने भी अपने काव्य में दर्शन, आचरण तथा साधना को इसी स्तर पर एक साथ ही प्रस्तुत किया हैं। वे इनको एक समन्वित रूप में ही देखते हैं। तत्ववादियों, शास्त्रियों तथा साम्प्रदायिकों के समान इनकी अलग-अलग व्यवस्था, विवेचना तथा स्वीकृति सन्तों को देने की आवश्यकता नहीं हुई। इसी समन्यवशीलता के कारण उन्होंने पण्डित-मौलवी, शैव-शाक्त, पूजा-नेमाज तथा मन्दिर-मस्जिद सभी को अस्वीकार कर धर्म-भावना को व्यापक मानवीय स्तर पर प्रतिष्ठित किया है। बिना इस व्यापक धार्मिक भावभूमि के विभिन्न धर्मों, मतों और सम्प्रदायों के विरोध की असङ्गति को उद्घाटित नहीं किया जा सकता था।

इस प्रकार सन्तों ने एक स्तर पर लोक-जीवन को प्रचलित आचार-विचार, विधि-विधान, पूजा-कर्मकाण्ड से मुक्त करने का प्रयत्न किया है। वस्तुतः यह लोकमानस पर धर्म की परम्परा तथा रूढ़िगत परिणति का स्वरूप था। परन्तु साथ ही सन्तों ने व्यापक मानवीय आचरण पर प्रयत्यक्ष दर्शन तथा जीवन की आन्तरिक प्रेमपरक साधना पद्धति को प्रतिष्ठित कर पुनः लोक की वच्छन्द और मुक्त भावना का आश्रय लिया है। परन्तु यहाँ यह स्पष्ट होना चाहिये कि सन्तों की सम्पूर्ण विचारधारा, आचरण की मर्यादा तथा साधना-पद्धति लोक के स्तर से ग्रहण की जाकर भी मात्र लोक-तात्विक नहीं मानी जा सकती, जैसे रोमाण्टिक काव्य, लोकसाहित्य से अनेक प्रेरणाएँ ग्रहण करके भी विशिष्ट साहित्य ही माना जायगा।

लोकपरक अभिव्यक्ति—"मसि कागद छूवो नहीं" कहकर कबीर ने सन्तकाव्य की व्यापक प्रवृत्ति का निर्देश किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनकी काव्याभिव्यक्ति के इसी स्तर के कारण वस्तुतः उनके काव्य को शुद्ध काव्य स्वीकार करने में सङ्कोच किया है। ऐसा तो नहीं है कि किसी सन्त ने 'मसि कागद' न छुआ हो पर सभी का काव्य, लोकाभिव्यक्ति के रूप में ही प्रचलित हुआ है। सन्तों में अभिव्यक्ति की सजगता बहुत ही कम है, क्योंकि लोकसाहित्य के समान ही इनका काव्य भी सहज लोक-जीवन का

अङ्ग बन सका है। ऐसा भी नहीं कि सन्तों का सम्पूर्ण काव्य व्यक्तित्व की छाप से मुक्त हो, पर उसका बहुत अंश ऐसा अवश्य है जो इस छाप से मुक्त होकर लोक-मानस की अभिव्यक्ति का अङ्ग बन गया है। कबीर आदि सन्तों के अनेक शब्दों (पदों) का लोकजीवन में इतना प्रचार हो गया है कि लोक-गीतों की भावभूमि से इनको अलग कर पाना सम्भव नहीं है। इसका कारण यही है कि इस काव्याभिव्यक्ति का स्वरूप प्रारम्भ से लोकपरक रहा है।

लोकगीतों की अभिव्यक्ति लोक-मानस के स्तर पर इस प्रकार होती है कि उसके साथ सम्पूर्णलोक सहज ही अपनी अभिव्यक्ति का स्वरूप पा लेता है। काव्याभिव्यक्ति में सामाजिक कवि की अभिव्यक्ति को साधारणी-करण के आधार पर अपने अनुभव का विषय बनाते हैं, पर लोकाभिव्यक्ति में तो लोक अपने अनुभवों की अभिव्यक्ति पाता है।[1]

इस दृष्टि से सन्त-काव्य का एक अंश ऐसा रहा जो अपनी भावाभिव्यक्ति में लोक की सम्पत्ति बन गया है। इसमें लोक अपनी भावनाओं, अपने ही विचारों तथा अपने ही जीवन की अभिव्यक्ति का रूप पाता है और उस अभिव्यक्ति को अपनी ही अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार कर सका हैं।

ऐसा क्यों है ? इस प्रश्न पर विचार करने के लिये हमें यह देखना होगा कि सन्त-काव्य की अभिव्यक्ति का रूप क्या है और कैसा है ? सन्तों ने सजग और सचेष्ट कव्य-रचना नहीं की है। उनका उद्देश्य काव्य-रचना था भी नहीं। वे अपने विचारों, सिद्धान्तों, उपदेशों, भावों और अनुगतियों को लोकसमाज तक पहुँचाना चाहते थे। वैसे तो काव्य भी प्रेषणीय होता है और उसका उद्देश्य भी समाज के संवेदन को स्पर्श करना है; पर काव्य में कवि अपनी अनुभूति अथवा कल्पना की विशिष्टता से समाज को अवगत कराना चाहता है। सन्तों ने भी अपने विचार, भावों तथा अनुभवों को ही व्यक्त किया है इसमें तो सन्देह नहीं; पर उन्होंने उनको सङ्गठित और व्यञ्जित लोक-मानस के स्तर पर ही करने का प्रयत्न किया है जिससे उनके व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के स्थान पर लोक-मानस का सङ्गठन ही अधिक हो।

१—'साहित्य और लोक साहित्य (पुरुषोत्तमदास टण्डन अभिनन्दन-ग्रन्थ) तथा 'लोक की अभिव्यक्ति और काव्याभिव्यक्ति' (हि० अनु० धीरेन्द्र वर्मा विशेषाङ्क) डॉ० रघुवंश।

इसका एक दूसरा परिणाम यह भी हुआ कि सन्तों ने अपने काव्य में भाषा, छन्द, अलङ्कार और शैली का जो भी प्रयोग किया है, उसे लोक से ग्रहण किया है। अपनी व्यक्तिगत अभिव्यक्ति को विशिष्टता देना उनका उद्देश्य नहीं था, इस कारण अपनी अभिव्यक्ति का सम्पूर्ण आधार लोकपरक स्वीकार कर लेना स्वाभाविक था। यही नहीं, उन्होंने अपने विचारों, भावों तथा अनुभवों को भी इस रूप में ही प्राय: व्यक्त किया है कि वे अपनी विशिष्टता में भी लोक-मानस से सहज ही मिल-जुल जाँय। लोकजीवन के प्रत्यक्ष अनुभवों का आश्रय सन्तों ने अपने तथ्य-कथन में इसी कारण लिया है और साधना में प्रेमतत्व के महत्व की स्थिति भी इसीलिए है। परन्तु जहाँ तक अधिक व्यक्तिगत, गहन, सूक्ष्म तथा विशिष्ट तथ्य को व्यञ्जित करने की बात रही हैं, वहाँ भी सन्तों ने लोकजीवन से ही रूपक, उपमान, प्रतीक तथा दृष्टान्त आदि ग्रहण किये हैं। उनकी उलटबासियाँ चाहे जैसी अटपटी और उल्टी-सीधी हों, पर उनमें लोकरुचि का आधार अवश्य है। इसी प्रकार प्रेमतत्व के गहन अनुभव को जब वे रहस्य के स्तर पर व्यञ्जित करते हैं, उस समय भी लोक के व्यापक अनुभव का आधार नहीं छोड़ा गया है।

सन्तों की भाषा, छन्द, अलङ्कार, शिल्प और शैली के जो भी अध्ययन प्रस्तुत किये गये हैं, उनसे उपर्युक्त कथन का समर्थन होता है। उनकी भाषा—अटपटी सधुक्कड़ी—का रूप लोकभाषाओं के अधिक समीप है। स्थानीय प्रभाव के रूप में सन्तों के काव्य में भोजपुरी, बिहारी, अवधी, बुन्देलखण्डी, ब्रजी, राजस्थानी तथा पञ्जाबी प्रभाव को प्रत्यक्ष ही देखा जा सकता है। यह अवश्य है कि सन्तों की भाषा अपने मौलिक रूप में अधिक व्यापक भी रही है, पर इनकी भाषा का अक्खड़पन निर्द्वन्द्वता, अलमस्ती और फक्कड़पन भी लोक मनोवृत्ति के अनुकूल है। उनके शब्दों का चयन भावों की अभिव्यक्ति के सीधे प्रयत्न को ही लक्षित करता है। उनकी भाषा अकृत्रिम और सहज है। औरों ने भाषा को भाषा के साँचे में ढाला है, सन्तों ने भाषा को भाव के साँचे में।[1]"

सन्तों के द्वारा प्रयुक्त छन्दों का सम्बन्ध लोक छन्दों से स्थापित किया जा सकता है। उनकी साखियाँ, शब्द, रमैनियाँ छन्द-विधान की दृष्टि से लोक-मनोवृत्ति का परिचायक हैं। उन्होंने अन्य जिन मात्रिक छन्दों का प्रयोग किया है, वे भी लोक-छन्द हैं। वस्तुत: सन्तों ने छन्द, लोकसाहित्य से ग्रहण

१—डॉ० रामखेलावन पाण्डेय।

किये हैं और इसी कारण उनमें विशेष सतर्कता भी नहीं देखी जाती। उनके पदों को विविध शास्त्रीय रागों में बाँधने का प्रयत्न किया गया है, पर उनका सङ्गीत मुख्यतः लोकपरक है और उनके काव्य में होली, चाचर, सावद, विरहुली, हिंडोला, झूलना तथा सोहर जैसे काव्य-रूपों की स्थिति इसी सत्य की व्याख्या करती है।

किसी भी काव्य का अप्रस्तुत-विधान उसकी मौलिक प्रवृत्ति का निर्धारण करता है। यह विधान जितना ही कल्पनामूलक, वैचित्र्यमूलक और सूक्ष्म तथा अमूर्त्त होता है, काव्य उतना ही व्यक्तिपरक, विशिष्ट, चित्रमय तथा रूपात्मक माना जाता है। लोकसाहित्य विशिष्टता तथा रूपात्मकता से रहित होने के कारण अप्रस्तुत-विधान को प्रत्यक्ष और सहज-स्तर पर ही ग्रहण करने में समर्थ होता है। सन्त-काव्य के अप्रस्तुत-विधान में लोकगीतों जैसी सरलता और सहजता मिलती है। उसमें विविधता है पर परिचय तथा प्रत्यक्ष अनुभव के स्तर की ही। समस्त लौकिक पृष्ठभूमि सम्बन्धी अध्ययन प्रायः सन्त-साहित्य में प्रयुक्त लोकजीवन के उपमान, रूपक, प्रतीक तथा दृष्टान्तों के आधार पर ही किया गया है, अतः उनकी चर्चा यहाँ व्यर्थ ही होगी।

इस प्रकार उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्त-काव्य में संस्कृति की अभिव्यक्ति का स्तर लोकपरक रहा है, अर्थात् अपने काव्य की अभिव्यक्ति में लोक-संस्कृति से जीवन्त तत्वों को ग्रहण किया गया है और इसी कारण उनकी वाणी में एक ओर इतनी मुक्ति, स्वच्छन्दता तथा रूढ़िहीनता है और दूसरी ओर वे अपनी काव्याभिव्यक्ति को व्यापक मानवीय तत्वों से संवेदित कर सके हैं।[1]

१—इस प्रकरण में इस प्रश्न को व्यापक रूप से देखा गया है और निष्कर्षों की चर्चा की गयी है। मुख्य शोध के विषय से यह अध्ययन का क्षेत्र अलग है और इस पर स्वतन्त्र कार्य विस्तार से किया जा सकता है। यद्यपि प्रस्तुत-विवेचन में इस विषय की सभी मौलिक स्थापनाएँ आ गयी हैं।

परिशिष्ट—१

ग्रन्थ-सूची

क : सन्तों की बानियाँ

१ : आदि ग्रन्थ साहिब (ना० लिपि में); शिरोमणि गुरु द्वारा प्रबन्धक कमेटी, अमृतसर; सन् १९५३ ई०.

२ : उपगारी जसराग शब्द, भक्तिबोध; हस्तलिखित ग्रन्थ-सूची नं० १२६२, १८७१; हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग.

३ : कबीर ग्रन्थावली—श्यामसुन्दर दास; नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; सं० २००८ वि०.

४ : सन्त कबीर—डॉ० रामकुमार वर्मा; साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, सन् १९५७ ई०.

५ : कबीर बीजक; विचारदास की टीका; सत्यनाम प्रेस; बनारस, सन् १८८३ ई०.

६ : कबीर साहब का बीजक; बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग; सन् १९१४ ई०

७ : केशव की अमी घूंट, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग.

८ : कबीरवचनामृत; डॉ० मुन्शीराम शर्मा, आचार्य शुक्ल साधना-सदन, कानपुर.

९ : गरीबदास की बानी; बेलवेडियर प्रेस प्रयाग.

१० : गुलाल साहब की बानी; बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग.

११ : चरनदास की बानी भाग २; बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग.

१२ : जगजीवन साहब की बानी; बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग.

१३ : तुलसी शब्दसागर; बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग.

१४ : तुलसी रत्नसागर; बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग.

१५ : तुलसी घट रामायण; बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग.

१६ : दादू की बानी, २ भाग; बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग.

१७ : दादू; सं० मङ्गलदास, दादू महा विद्यालय; जयपुर, सन् १९२८ ई०.
१८ : दूलनदास; बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग.
१९ : दयाबोध; बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग.
२० : दरिया सागर.
२१ : दरिया अनुशीलन; धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना.
२२ : दरिया (मारवाड़ वाले) बानी; बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग.
२३ : धरनीदास की बानी; बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग.
२४ : पलटू की बानी, ३ भाग; बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग.
२५ : पानप बोध; प्रकाशचन्द्र; नई मण्डी मुज्फ्फरनगर.
२६ : बुल्ला साहब का शब्दसागर; बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग;
२७ : भीखा साहब की बानी; बेलवेडियर प्रेस प्रयाग.
२८ : मलूकदास की बानी; बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग.
२९ : महात्माओं की बानी; बाबा रामचरन; भुड़कुड़ा, गाजीपुर.
३० : यारी साहब की बानी; बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग.
३१ : रैदास की बानी; बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग.
३२ : रविदास और उनका काव्य; ज्वालापुर आश्रम, बालापुर.
३३ : रज्जब की बानी; ज्ञानसागर प्रेस, बम्बई, सं० १९७५ वि०
३४ : वषना की बानी; मङ्गलदास; लक्ष्मी ट्रस्ट, जयपुर.
३५ : सहजोबाई का सहज प्रकाश; बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग.
३६ : सन्त सुधासार; वियोगी हरि; सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली, सन् १९४७ ई०.
३७ : सुलभ वेद, राजेन्द्र प्रिंटिङ्ग प्रेस, तेलीवाड़ा, दिल्ली,
३८ : स्वामी रामचरन महाराज की वाणी; साधू नेनूराम रामस्नेही, श्रीराम निवासधाम, शाहपुरा, राजस्थान, सन् १९२५ ई०.
३९ : सुन्दर विलास, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग.
४० : सुन्दर ग्रन्थावली, २ भाग, पुरोहित श्रीहरिनारायण, राजस्थान रिसर्च सोसायटी, कलकत्ता, सं० १९९३ वि०.
४१ : सिंगाजी की बानी; सिंगा जी सा० शोधक मण्डल, खण्डवा, सन् १९३६ ई०.

४२ : हरिपुरुष, वैष्णव साधू देवदास, प्रभाकर प्रिंटिङ्ग प्रेस, जोधपुर, सं० १९८८ वि०.

ख : सहायक-ग्रन्थ

१ : अनन्तदास की परिचयी; अनन्तदास.

२ : अकबर-दरबार के हिन्दी कवि; डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल.

३ : अरब-भारत के सम्बन्ध; सैयद मोह० सुलेमान नदवी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग.

४ : अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन; डॉ० मायारानी टण्डन, हिन्दी साहित्य भण्डार, लखनऊ; सन् १९६० ई०.

५ : उत्तरी भारत की सन्त परम्परा; श्री परशुराम चतुर्वेदी; भारती भण्डार, इलाहाबाद.

६ : कबीर एक विवेचन, डॉ० सरनाम सिंह, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, सन् १९६० ई०.

७ : कबीर, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सं० १९९२ वि०.

८ : कबीर की विचारधारा, डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत.

९ : कबीर बचनावली; अयोध्यासिंह उपाध्याय; नागरी प्रचारिणी सभा, काशी.

१० : कबीर साहित्य की परख, परशुराम चतुर्वेदी, भारती भण्डार, इलाहाबाद.

११ : कबीर का रहस्यवाद; डॉ० रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, सन् १९४१ ई०.

१२ : कबीर एक अध्ययन, डॉ० रामरतन भटनागर.

१३ : गुरु-ग्रन्थ दर्शन, डॉ० जयराम मिश्र; साहित्य भवन, लिमिटेड, इलाहाबाद.

१४ : कबीर साहित्य का अध्ययन, पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव.

१५ : कबीर पन्थ, श्री शिवव्रत लाल, मिशन प्रेस, इलाहाबाद.

१६ : कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन; डॉ० बासुदेवशरण अग्रवाल; चौखम्भा विद्या भवन, बनारस.

१७ : छिताई वार्ता; डॉ० माताप्रसाद गुप्त; नागरी प्रचारिणी सभा, काश.

१८ : गोरखवाणी; डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००३ वि०.

१९ : तुलसी का युग; डॉ० राजपति दीक्षित, ज्ञानमण्डल लि०, बनारस.

२० : दादू; क्षितिमोहन सेन; शान्ति निकेतन बुक डिपो, कलकत्ता.

२१ : दरिया अनुशीलन, डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना.

२२ : नैषध चरितम्; डॉ० चण्डिकाप्रसाद मिश्र, साहित्य सदन, देहरादून.

२३ : निर्गुण काव्यधारा; श्री विश्वनाथ, श्री वैद्यनाथ, गया.

२४ : पाणिनिकालीन भारत, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी.

२५ : प्रकृति और काव्य, डॉ० रघुवंश, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली,

२६ : पद्मावत एक सांस्कृतिक अध्ययन; डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, साहित्य सदन, चिरगाँव. झाँसी.

२७ : प्राचीन भारतीय मनोरञ्जन, श्री मन्मथराय, भारती विद्याभवन, इलाहाबाद, स० २००३ वि०.

२८ : प्राचीन भारतीय वेष-भूषा, डॉ० मोतीचन्द, भारती भण्डार, प्रयाग.

२९ : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, डॉ० अवन्त सदाशिव अल्तेकर, भारती भण्डार, प्रयाग.

३० : ब्रजभाषा शब्दावली, २ भाग, डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन', हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, सन् १९६१ ई०.

३१ : भक्तमाल, नाभादास.

३२ : भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, श्री भगवतशरण उपाध्याय.

३३ : भारतीय संस्कृति का विकास, डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री.

३४ : भारतीय कृषि का 'क' 'ख', श्री जयचन्द विद्यालङ्कार; हि० सा० भ०, इलाहाबाद.

३५ : भारत की सांस्कृतिक परम्पराएँ, इन्दु मिश्र, महिला डिग्री कालेज, लखनऊ.

३६ : भारतीय सांस्कृतिक रेखाएँ, श्री परशुराम चतुर्वेदी, हि० सा० भ०, इलाहाबाद.

३७ : भारतीय संस्कृति के उपादान, श्री डी० एन० मजूमदार, एशिया पब्लिशिङ्ग हाउस, नई दिल्ली.

३८ : भारतीय संस्कृति के मूल तथ्य, श्री वैद्यनाथ पुरी, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ.

३९ : मध्यकालीन प्रेम-साधना, श्री परशुराम चतुर्वेदी, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, सन् १९४७ ई०.

४० : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, श्री गङ्गानाथ झा.

४१ : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, डॉ० गौरीशङ्कर ओझा, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद.

४२ : मध्यकालीन धर्म साधना, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी.

४३ : मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ; डॉ० सवित्री सिनहा.

४४ : मध्ययुगीन साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन, डॉ० सत्येन्द्र, विनोद-पुस्तक मन्दिर, आगरा.

४५ : रामचरितमानस, गीता प्रेस, गोरखपुर.

४६ : राजस्थानी लोकगीत, श्री सूर्यकरण पारिख, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग.

४७ : राजस्थान का पिंगल साहित्य, श्री मोतीलाल मेनारिया, हि० ग्र० रत्नाकर, बम्बई.

४८ : लोकजीवन की सामाजिक व्यवस्था, श्री कृष्णदास, हि० सा० भवन, इलाहाबाद.

४९ : लोकसाहित्य, डॉ० श्याम परमार; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

५० : लोक साहित्य की भूमिका, डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय, हि० सा० भवन, इलाहाबाद.

५१ : विक्रमादित्य, डॉ० राजबली पाण्डेय, चौखम्भा, प्रकाशन, वाराणसी.

५२ : संस्कृति के चार अध्याय, श्री रामधारी सिंह 'दिनकर', राजपाल एण्ड संस, दिल्ली.

५३ : सूफ़ीमत और साहित्य, श्री रामपूजन सहाय, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी.

५४ : संस्कृति संगम, श्री क्षितिमोहन सेन, हि० सा० भवन इलाहाबाद.
५५ : सन्त दर्शन, डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित.
५६ : सुन्दर दर्शन, डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, किताबमहल, इलाहाबाद, सन् १९५३ ई०.
५७ : सन्तकाव्य-संग्रह, श्री परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, इलाहाबाद, सं० २००९ वि०.
५८ : हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, डॉ० बड़थ्वाल, अवध पब्लिशिङ्ग हाउस, लखनऊ, सं० २००३ वि०.
५९ : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ० रामकुमार वर्मा, रामनारायणलाल, इलाहाबाद.
६० : हिन्दी साहित्य की भूमिका : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर, बम्बई.
६१ : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी.
६२ : हिन्दी साहित्य का इतिहास, श्री रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० १९९७ वि०.
६३ : हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति-आन्दोलन, डॉ० हिरण्मय, विनोद पुस्तक-मन्दिर, आगरा, सन् १९५९ ई०.
६४ : हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, डॉ० विनयमोहन शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् १९५७ ई०.
६५ : हिन्दी काव्यधारा, श्री राहुलसांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद.
६६ : हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग १, डा० राजवली पाण्डेय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी.
६७ : हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ४, डॉ० नगेन्द्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी.
६८ : हर्षचरित सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना.
६९ : हिन्दू-संस्कार, डॉ० राजवली पाण्डेय, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी.
७० : हिन्दू परिवार-मीमांसा, हरिदत्त विद्यालङ्कार, भारती भण्डार, प्रयाग.

७१ : हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि, डॉ० रत्नकुमारी, भारतीय साहित्य मन्दिर, सन् १९५६ ई०.

ग—ऐतिहासिक-ग्रन्थ

१ : अकबर; श्री राहुल साँकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद.
२ : अकबरनामा, अबुल फ़जल—अनु० देवीप्रसाद, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी.
३ : आदि तुर्ककालीन भारत, डॉ० सैयद अतहर अब्बास रिज़्वी, अलीगढ़ यूनिवर्सिटी, सन् १९५८ ई०.
४ : उत्तर तैमूरकालीन भारत, २ भाग, डॉ० सैयद अतहर अब्बास रिज़्वी, अलीगढ़ यूनिवर्सिटी, अलीगढ़.
५ : उत्तरमध्यकालीन भारत, श्री अवध बिहारी पाण्डेय, गौतम ब्रदर्स, कानपुर.
६ : औरङ्गज़ेबनामा; देवीप्रसाद.
७ : खिलजीकालीन भारत, डॉ० सैयद अतहर अब्बास रिज़्वी, अलीगढ़ यूनिवर्सिटी, अलीगढ़.
८ : जहाँनारा की आत्मकथा, के० के० ठाकुर, आदर्श प्रेस, इलाहाबाद,
९ : तुग़लककालीन भारत, २ भाग, डॉ० सैयद अतहर अब्बास रिज़्वी, अलीगढ़ यूनिवर्सिटी, अलीगढ़.
१० : दारा शिकोह, श्री कानूनगो, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ.
११ : दिल्ली सल्तनत, डॉ० आशीर्वादिलाल श्रीवास्तव, आगरा कालेज आगरा.
१२ : पूर्व मध्यकालीन भारत, प्रो० वासुदेव उपाध्याय, भारती भण्डार, प्रयाग.
१३ : बाबर और हुमायूँ, इलियट डाउसन, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी.
१४ : भारतीय इतिहास की रूपरेखा, २ भाग, डॉ० श्रीराम त्यागी, गौतम बुकडिपो, मेरठ.
१५ : भारतवर्ष का प्रारम्भिक इतिहास, डॉ० हीरालाल सिंह, डॉक्टर रामवृक्ष सिंह, स्टुडेण्ट्स फ्रेण्ड्स, इलाहाबाद.

१६ : भारत का प्राचीन राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, डॉक्टर विमलचन्द पाण्डेय, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद.

१७ : भारतवर्ष की प्रसिद्ध लड़ाइयाँ, श्री के० के० ठाकुर, आदर्श प्रेस, इलाहाबाद.

१८ : मुग़लकालीन भारत, भाग ३, डॉ० आशीर्वादलाल श्रीवास्तव, आगरा कालेज, आगरा.

१९ : मध्ययुग का इतिहास, डॉ० ईश्वरीप्रसाद, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, १९५५ ई०.

२० : मध्यकालीन भारत, श्री नेत्र पाण्डेय.

२१ : मुगल शासन-पद्धति, अनुवादक श्री रामचन्द्र, शिवव्रतलाल, आगरा,

२२ : राजस्थान का इतिहास, ज० टॉड, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई.

२३ : रतलाम का प्रथम राज्य, डॉ० रघुवीर, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.

२४ : हेमू और उनका युग, डॉ० मोतीलाल भार्गव, भारतीय प्रकाशन-मन्दिर, लखनऊ.

२५ : हुमायूँनामा, श्री ब्रजरत्नदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी.

२६ : सोशल हिस्ट्री ऑफ़ इस्लामिक इण्डिया, डॉ० यासीन, अपर इण्डिया पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ.

२७ : रिलीजस पालिसी ऑफ़ मुगल्स, डॉ० रामचन्द्र, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन.

२८ : लाइफ़ एण्ड कण्डीशन ऑफ़ दी पीपुल्स ऑफ़ हिन्दोस्तान, जीवन प्रकाशन, नई दिल्ली.

२९ : आइने अकबरी.

३० : तुज़ुके जहाँगीरी.

३१ : लाइफ़ एण्ड कण्डीशन ऑफ़ दी पीपुल्स ऑफ़ हिन्दोस्तान, डॉ० के० एम अशरफ़, एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल, १९३५.

घ—पत्रिकाएँ

१ : नागरी प्रचारिणी पत्रिका.

२ : कल्याण (सन्त अङ्क), सं० १९९४.

३ : कल्याण (साधना अङ्क), स० १९९७.

४ : विश्वभारती पत्रिका, शान्तिनिकेतन.

५ : पाटल (सन्त साहित्य विशेषाँक):, वर्ष ३, अङ्क ५, अप्रैल, १९५५.
६ : हिन्दी अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा विशेषाङ्क), १९६०. १३ अङ्क ३, वर्ष ११, अङ्क १:४, वर्ष १२, अङ्क १.
७ : सन्त परम्परा और साहित्य, धर्मेन्द्र अभिनन्दन ग्रन्थ, पटना, १९६०.
८ : लोक-संस्कृति अङ्क, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग.

ङ—शोध-प्रबन्ध

१ : सन्त साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि, डॉ० रामखेलावन पाण्डेय, हिन्दी विभाग, पटना यूनिवर्सिटी.
२ : निर्गुण साहित्य की साँस्कृतिक पृष्ठभूमि, डॉ० मोतीसिंह, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी.
३ : सगुण काव्य की साँस्कृतिक पृष्ठभूमि, डॉ० रामनरेश वर्मा, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा.
४ : गुरु-ग्रन्थ के धार्मिक दार्शनिक सिद्धान्त, डॉ० जयराम मिश्र, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा.
५ : मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में चित्रित समाज, डॉ० गणेशदत्त, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा.
६ : सन्त सुन्दरदास; डॉ० उमेशचन्द सिंघल; आगरा विश्वविद्यालय. आगरा.
७ : निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि; डॉ० गोविन्द त्रिगुणायतः आगरा विश्वविद्यालय, आगरा.
८ : हिन्दी के भक्तिकालीन कृष्ण भक्ति काव्य में संगीत; उषा गुप्त; लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ.
९ : सन्त चरणदास की दार्शनिक विचारधारा; डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित; लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ.

———

परिशिष्ट–२

पौराणिक-सन्दर्भ-सूची

अर्जुन संसार की क्षणभंगुरता—क० बी० ६१; ४३ : ६८; ५५ : चरन० बा० ३८ ; २ : कृष्ण द्वारा गीता का उपदेश-दरि० (वि०) १७ ; ११३ : २०; ६१

अङ्गद संसार की क्षणभंगुरता—गरीब० बा० २३; ३१-३६

अक्रूर ज्ञानार्जन—क० ग्रं० २१६; ३८७

अम्बरीष अम्बरीष भक्त की सुदर्शन से रक्षा—क० ग्रं० १२७; १२२ : भक्ति के सन्दर्भ में—क० बी० २५०; ९२ : गु० ग्रं० १३६४; म० ३-४; धरनी० बा० १२; ६०-७० भक्त की रक्षा—गु० ग्रं० १३६४; म० ३ : पलटू० बा०, भा० १, १५; ३३; माया के आगे नाचना—गुलाल० बा० ४९; १३७ : क्षणभंगुरता के संन्दर्भ में—गुलाल बा० ४९; १३६

अनुसुइया दत्तात्रेय के रूप में अनुसुइया के यहाँ तीनों देवता का आगमन—गरीब० बा० ६४; ६

अजामिल पापी अजामिल को तारा—गु० ग्रं० (नानक) ९९६; १ : ११९२ म० ५ : गु० ग्रं० (अमरदास) ९८२; ४ : वषना० बा० १४८; १३४ : क०ग्रं० १९६; ३२१ : भक्ति के सन्दर्भ में-गुरु ग्रं० (तेगबहादुर) ८३०; ९ : चरन० बा० ७९; १; रामचरन बा० ४२; १९ : १२६; २८ : २२५; ३६; २४२:८ भक्ति के सन्दर्भ में—गु० ग्रं० (तेगबहादुर) ६३१; ९:११९२; म० ५ : विमान पर बैठकर जाना—गरीब० बा० ८४; २

अहल्या	इन्द्र के द्वारा ठगना—क० बी० १००; ८१ : गु० ग्रं० (रामदास) ५४८; ३ गौतम नारी पतिव्रता थी—मलूक० बा० १७; ३ : भक्त के सन्दर्भ में—चरन० बा० ३८ ; २ : गरी० बा० ४४; ८८ : ६६; ११
अहिरावण	अहिरावण द्वारा राम का चुरा ले जाना—गु० ग्रं० (नानक) ग्रं० २४६; ६४१; १ अल्लाह की बन्दगी से सारे दु:खों का नाश—क० ४ : शरणागति के सम्बन्ध में प्रह्लाद की रक्षा—धरन० बा० ११६; १४
आदिनाथ	संसार की क्षणिकता—सु० ग्र०, भा० १, ८७; ३, ४, ५, ६
इन्द्र	संसार की क्षणभंगुरता—धरनी० बा० १२ ; ६०—७० अहल्या को छलने के सम्बन्ध में—दरि० (वि०) २; १४ : रामचरन बा० २९६ ; १ : गरीब० बा० ४४ ; ८८ कपटी होने के सन्दर्भ में—गु० ग्रं० (नानक) ६५३ ; १ जैसा किया तैसा फल पाया—इन्द्र को शापवश सहस्र भग हो गये थे :—धरम० बा० ११४; ६
इन्द्रजीत	संसार की क्षणभंगुरता —तु० व० रा० २१४; २
मेघनाद	मौत का फ़रिश्ता और सिर पर भार देना—क० ग्रं० २०६ ; ३५० : गु० ग्र० (अर्जुन) ३१५; २७ : गु० ग्रं० (नानक) ७२१; १ : ६३५ ; १ : ७२४; १ . १०२० ; १ : शेख फ़रीद १३८१ ; ६८ : दादू० बा० भा० ११४४; ११५ : मृत्यु दूत के सन्दर्भ में—गरीब० बा० १५६; ५ : गुस्सा छोड़ने पर इज्राइल द्वारा सिज्दा—मलूक० बा० २२ ; १७
इबलीसहूँ	शैतान के सन्दर्भ में "साहिब चौकीदार देखि इबलीसहूँ डरता—पलटू बा० भा० १४; १
उग्रसेन	संसार की क्षणभंगुरता—गु० ग्रं० (नानक) १३८६; म० १

उद्दालक ऋषि पश्चात्ताप—गरी० बा० ७२; १

उद्धव संसार की क्षणिकता—गु० ग्रं० (नानक) १३८६; म० १ : कृष्ण ने उद्धव को ज्ञान देकर अहङ्कार दूर किया—क० ग्र० २१६ ; ३८७ : उद्धव ने कृष्ण को गुरु बनाया—रामचरन बा० ३६ ; १७-२०

उर्वशी मोह : उर्वशी ने दुर्वासा ऋषि को मोहित करना चाहा—गरी० बा० ४५ ; ६०

ऋषभदेव संसार की क्षणभंगुरता—सु० वि० ६ ; २४

कुन्ती कौमार्य में कर्ण का जन्म—क० बीजक १०० ; ८१

कुबेर क्षणभंगुरता : कुबेर को भी काल ने नहीं छोड़ा—क० बी० २४६ ; ८६

कुम्भकरण संसार की क्षणभंगुरता—वषना बा० ३८; १२ : चरन० बा० १०० ; १ राम-कुम्भकरण की लड़ाई—तु० ध० रा० २१४ ; २

कीचक संसार की क्षणभंगुरता—सु० ग्र० भा० १, १२३ ; ३७-४० : रामचरन बा० २६६

कालनेमि नाम की महत्ता—गु० ग्रं० (नानक) २२४ ; १

कागभुशुण्डि ज्ञान : लोमश ऋषि ने कहा कि भुशुण्डी राम-नाम जपता है :—रामचरन बा० ६३४ ; ४६ : कागभुशुण्डि ने गरुड़ की कथा सुनाई—तु० ध० रा० २१४

कर्ण दान के सन्दर्भ में—गरीब० बा० ६२ ; ४४-४७

कपिलदेव संसार की क्षणभंगुरता—सु० वि० ६ ; २४ : गरीब० बा० २३ ; ३१-३६

कंस संसार की क्षणभंगुरता—रामचरन भा० १७१ ; ५ : गरीब० बा० : कृष्ण ने कंस को मारा—क० बीजक ५६;४५ : कृष्ण ने कंस को मारा और तर गया—चरन० बा० ७६; १ कंस को माया ने खा लिया—मलूक० बा० ६; १ : कंस मथुरा में था—क० बीजक ६७ ; ५४ : कंस ने राम नहीं, अपनी पत खोई—गु० ग्र० (नानक) २२४ : १

कुब्जा क्षणभंगुरता—गु० ग्रं० १६२ ; म० ५ : चरन० बा० ७६; १ : गनिका की भाँति कुब्जा ने नाम लिया और तर गई—गु० ग्रं० ६८२; ८४

कुरुक्षेत्र महाभारत के युद्ध के सन्दर्भ में—गरीब० बा० १०३ ; ११

कूबरी नाम की महत्ता : कूबरी ने नाम लिया और तर गई—गुला० बा० ४६ ; १३६ : गौतम की नारी की भाँति कूबरी चरणों के स्पर्श से तर गई—दूल० बा० १२; १४ : कूबर के सन्दर्भ में—तु० ध० रा० २१४ ; २

कौरव क्षणभंगुरता—वषना बा० १०२ ; ७६ : कौरवों ने मरम नहीं जाना—कबीर बीजक ६१ ; ४७ : कुरुक्षेत्र के मैदान में कौरवों का मारा जाना—धरनी० बा० ११; ४७–५५ : लोभ के सन्दर्भ में : कौरव-पाण्डव सब सिर फोड़ मरे, पिरथी कारण पाण्डव मरे :—बषना बा० ३६ ; १२ : ६५ ; २६

कौशल्या दशरथ की तीन रानियों में से एक थी—तु० ध० रा० २१४ ; २

खटवाग दो घड़ी में ज्ञान प्राप्त किया—गरीब० बा० ४० ; ४५

गृध नाम के सन्दर्भ में : गृध ने ज्ञान की किताब नहीं पढ़ी थी—मलूक० बा० ३०

गज गज की रक्षा—वषना बा० ६४ ; ६८ : गुला० बा० भु० ७० ; २०२ : नाम के सन्दर्भ में : गज ने कौन माला जपी थी—वषना बा० १४८ ; १३४

गनिका नाम की महत्ता—कबीर १६६ ; ३२० : गु० ग्रं० ६३१; ६ : गु० ग्रं० (तेग) ८३० ; ६ : धरम० बा० ४; १० : दूलन० बा० २;४;३; ६ : रामचरन बा० १०६; १४ : २५५ ; ३६ : गरीब बा० ३६ ; २२ : पलटू बा० भा० १८४ ; २; ६१; १३४ : वषना बा० १४८ ; १३४

गरुड़ गरुड़ कागभुशुण्डि के पास ज्ञान के लिए गये—तु० ध० रा० २१४ ; २

गोपीचन्द त्याग के सन्दर्भ में—गरीब० बा० ८४ ; ७

गोपीचन्द्र गोरख भरथरी गोपीचन्द्र ने मन से मिलकर आनन्द किया—क० ग्रं० ६६ ; ३३ संसार की क्षणभंगुरता—क० बीजक २५७ ; ६२ : धरनी० बा० १२ ; ६०-७० : गरीब० बा० २३ ; ३१-३६ : ८४ ; ७ : त्याग के सन्दर्भ में—दूलन० बा० १६ ; ३ गोपीचन्द्र राजा थे, भरथरी की भाँति वे भी जोगी हो गये—गरीब० बा० ८४ ; ७

गोरखनाथ क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—क० ग्रं० ६६ ; ३३ : क० बीजक ६७ ; ५४ : गु० ग्रं० नानक ८७६ ; १ : मलूक० बा० १ ; २ : धरनी० बा० १२ ; ६०-७० : बषना बा० १४१ ;१२६ : सु० ग्र० भा० १ २१३; १७—१९ : गोरख कच्छ देश के रहने वाले थे—मलूक० बा० ६ ; १ ज्ञान के सन्दर्भ में—यारी० बा० १० ; १३ : रामचरन बा० ४६ ; २१ : १५६ ; १६ : गुलाल० बा० ३६ ; ६६ गोरख ने भरथरी को ज्ञान दिया—रामचरन बा० ४० ; २१ : गोरख ने हरि रस चखा—गुलाल० बा० ३६ ; ६६ : ५० ; १४० : गोरखनाथ के गुरु मछेन्दर-नाथ सिंहलद्वीप पहुँचकर अपने प्राण वहाँ के राजा में डाला—गरीब० बा० ४५ ; ६२ : गोरखनाथ ने जंतर-मंतर का खूब प्रचार किया—गरीब० बा० ७० ; १३

गौतम ऋषि संसार की क्षणभंगुरता—गु० ग्रं० १३६० ; म०; गौतम नारी चरण-स्पर्श से तर गई—दूलन० बा० १२ ; १४ : गरीब० बा० ४४ ; ८८ : गौतम नारी छली गई—दरि० (वि०) २ ; १४ : गौतम नारी पतिव्रता थी, दान करती थी परन्तु इन्द्र ने छल से ठगा—मलूक० बा० १७ ; ३

गोपीग्वाल गोपियों में ग्वाला स्वयं आप हैं—गु० ग्रं० (नानक)

७३; २२ : कृष्ण लीला—गु० ग्रं० : अमरदास : ४७०; २

चर्पट मुनि क्षणभंगुरता—सु० ग्र० भा० १, ८७; २-६

चाणर क्षणभंगुरता : कंस के दरबार के पहलवान थे :—गरीब० बा० ६४ ; १८

चित्रगुप्त मृत्यु का लेखा रखने वाला—गु० ग्रं० (अङ्गददेव) ७६; ३ : गु० ग्रं० (नानक) ३६३ ; ८१ : ६१५; २६ : गरीब० बा० १५६ ; ५ : चित्रगुप्त अपने काल के दूतों से रहता है—धरनी० बा० ५३ , ३६ : चित्रगुप्त के डेरे पर पहुँचेंगे—दरिया (वि०)

जमदग्नि जमदग्नि भी नाम का गान करते हैं—गु० ग्रं० (नानक) १३८६ ; म० १

जरासन्ध कृष्ण ने जरासन्ध को मारकर तार दिया—क० बीजक ६१ ; ४७ : जरासन्ध ने राम नहीं जपा अपनी पत खोई—गु० ग्रं० (नानक) २२४ ; २ जरासन्ध, कौरव, पाण्डव सिर फोड़कर मरे क्योंकि नाम नहीं जपा—वषना बा० ३६ ; १२

जसोदा कृष्ण-चरित्र का आनन्द लिया—वषना बा० ३८ ; ७

जड़भरत मोह के सम्बन्ध में—जड़भारत ने मृग से स्नेह किया तो तुरन्त मृग का रूप बना—रामचरन बा० १८ ; ३ : क्षण-भंगुरता—पलटू० बा० भा० ३, ६६-७०

जनमेजय गुरु के शब्द को नहीं जाना—गु० ग्रं० (नानक) २२४; १ : संसार की क्षणभंगुरता—गु० ग्रं० (तेगबहादुर) ६५३; १

जनक नाम की महत्ता—गुलाल० बा० ४६ ; १३६ : तु० वा० रा० २३ ; १७, १८ : जनक जोगेतर थे—गु० ग्रं० (नानक) १३८६ ; म० १ : संसार की क्षणभंगुरता—धरनी० बा० १२ ; ६०-७०

जबरील ईश्वर के दूत के रूप में—दादू० बा० भा० १, १४४ ; ११५ : जबरील, यमराज तथा काज़ी के रूप में क्षण-क्षण के हिसाब का लेखा लेता है—मलूक० बा० २७;३ : ज़िबराइल से डरो, वह सारी कसर निकाल लेगा—तु० श० सा० ७६;१५ : बलवान् के रूप में—तु० श० सा० ८१;४

तारा जेठ के साथ विवाह किया—क० बीजक १०० ; ८१

ताड़का राम ने ताड़का को मारा—भी बा० मु० ८६ ; २५६

दशरथ क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—मलूक० बा० २३ ; २ : बषना बा० ३८ ; ६ : दशरथ सुत राम हुए—तु० घ० रा० ७६; १३, १४

दत्तात्रेय क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—सु० वि० ६ ; २५
दत्तात्रेय ने पलभर में ज्ञान दिया—रामचरन बा० ३६ ; १७–२०

दसबिसम्बर क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में— सु० वि० २ ; ५

दु:शासन द्रौपदी-चीरहरण—चरन० बा० ७९ ; ४ नाम के सन्दर्भ में—गरीब० बा० २२;२८

दुर्वासा क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—रामचरन बा० १२६ ; ६८ : यारी० बा० ४५ ; ६०
नाम के सन्दर्भ में—पलटू० बा०, भा० १, १५ ; ३३
क्रोध के सन्दर्भ में—गरीब० बा० २३ ; ३१–३६

दुर्योधन संसार की क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—धरम० बा० १५६; २३ : क० बीजक ६१ ; ४७ : ६८ ; ५५
अठारह हजार अक्षौणि सेना को मारकर दुर्योधन खाक में मिल गया—धरम० बा० ११५ ; १०
दुर्योधन के मान को नष्ट किया—क० ग्रं० २०३;३४०

देवकी देवकी से कृष्ण का जन्म हुआ जिसने कंस को मारा—दरि० वि० अनु० ४ ; ३२

द्रौपदी भक्त की रक्षा—गु० ग्रं० (तेग०) ६८३ ; १ गु० ग्रं० ११६२ ; म० ५ : वषना बा० १८ ; १ : गरीब० बा० २२ ; ८८ : धरम० बा० ११६ ; १४
नाम के सन्दर्भ में—वषना० बा० ६४ ; ६८ : दूलन० बा० ५ ; ११ ; द्रौपदी ने कब अरबी-फ़ारसी पढ़ी—दूलन० बा० ४; १० : २० ; १ : २३ ; ५०

धन्वतरि वैद्य संसार की क्षणभंगुरता—पलटू० बा०, भा० ३, १०१; १२

ध्रुव नाम का जाप किया तो तर गये—गु० ग्रं० (तेगबहादुर) ६९६ ; १
ध्रुव पाँच वर्ष का बालक था—गु० ग्रं० (नानक) १०००; १
ध्रुव को तार दिया—गु० ग्रं० (तेगबहादुर) ६३१ ; ६
क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—क० ग्रं० ६६ ; ६३ : गु० ग्रं०, भा० १, ८७ ; ३–६ : २१३; १७–१६ : पलटू० बा०, भा० ३, ६६, ६८, ६६ : क० ग्रं० ६६ ; ३३ : गु० ग्रं० (तेगबहादुर) ६३१ ; ६ : चरन० बा० ८०; ८१ :
भक्ति के सन्दर्भ में—चरन० बा० ८१ ; १. ५ : गुला० बा० ३५ ; ६६ : ४६ ; १३६ : ६७ ; १६४ : गरी० बा० ३० ; २ गु० ग्रं० (तेगबहादुर) ८३० ; ६ :
ध्रुव ने अटल तपस्या की—तु० ध० रा० २४८; १

नन्द नन्द के यहाँ कृष्ण ने जन्म लिया—वषना बा० ३८; ७

नकुल क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—चरन० बा० १०० ; १-३

नरसिंह हिरनाकुश का पेट विदीर्ण कर प्रह्लाद की रक्षा की—गुला० बा० भु० ४६; १३६; नरसिंह का विकट रूप रखा—भी० बा० भु० ४२८; १११५
नरसिंह-प्रह्लाद के सन्दर्भ में—भी० बा० भु० ८५ ; २५८

नारद नाम के सन्दर्भ में—कबीर ६६ ; ३३ : गु० ग्रं० ८३० ; ६
क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—क० बीजक २५७ ; ६२ : सु० ग्रं०, भा० १, ८७ ; ३–५

ज्ञान के सन्दर्भ में—सु० वि० ९ ; २५ : दूल० बा० २० ; १ : गुला० बा० ४९ ; १३६ : ४९ ; १३७, ५० ; १४०, ६७ ; १९४

नारद मोह—गरीब० बा० २३ ; ३१-३६ : ४४; ८७, ७२; २२ : तु० घ० रा० २३; १७१; १८: १२७; ७, ८

परसुराम संसार की क्षणिकता—गु० ग्रं० (नानक) ९५३ ; १ : धरनी० बा० ४३ ; ४२ : भी० बा० ४२८ ; १११५

परीक्षित संसार की क्षणिकता—धरनी० बा० १२; ६०-७० : गु० ग्रं० १३९०; म० १

शुकदेव ने ज्ञान दिया—गु० ग्रं०; १३९०; म० १ :
ज्ञान के सन्दर्भ में—रामचरन बा० ३९; १७-२०

पारवती क्षण में अमर पद दिया—गरीब० बा० २२; २४

पुरन्दर संसार की क्षणिकता—क० बीजक २४९; ८६

पूतना कृष्ण ने पूतना को मारा—भी० बा० भु० ८६; २५९

प्रहलाद-हिरनाकशिपु की कथा प्रह्लाद ने राम नाम नहीं छोड़ा। अपनी पट्टी पर राम-नाम लिखता था। अपने सखाओं को भी राम का पाठ पढ़ाया। नरसिंह ने खम्भे से निकलकर हिरनाकुश को मारकर भक्त की रक्षा की—क० ग्रं० २१४; ३७९
संसार की क्षणभंगुरता—क० ग्रं० ९९ ; ३३ : क० बीजक २४९; ८६ : गु० ग्र० (रामदास) ७९९; ४ : ६०१; २ : ९८५; १ : १०००; १ : ११५५; ३ : १२९४ : म० ३ : १३८९; म० १ : ११९२ : वषना० बा० १११; ८९ : सु० ग्रं०, भा० १, ८७; ३-६ : दूलन० बा० १०; ९ : २०; २ : चरन० बा० ३८; २ : ८०; १-५ : १००; १ : गुलाल० बा० ७०; २०२ : ४०२; १०२८ : गरी० बा० २३; ३५ : पलटू० बा० भा० ३, ६६ : भक्त की रक्षा की—क० बीजक ५९; ४५ : गु० ग्रं० २४४; १ : ९९६; १ : मलूक० बा० १; २ : वषना० बा० ३९; ८ : ९४; ६८ : गुलाल० बा० ३५; ९६, ५३

१४७ : गरीब० बा० ६४; १६-२६ : भी० बा० ८५;
२५८ : तु० घ० रा० २४८; १
हिरनाकुश की दुष्टता के सन्दर्भ में—गु० ग्रं० ४५१;२०
भक्त के सन्दर्भ में—धरनी० बा० १२; ६०-७०
पट्टी पर राम लिखते-लिखते पर्वत से गिरा बच गया—
वषना० बा० १४८;१३४
हिरनाकुश का हृदय-विदीर्ण किया—दरि० (वि०)
४; ३२
प्रह्लाद का चरित लिखा—रामचरन बा० ६८०; ७ :
१०००; ३ : १०८७; १
हिरनाकुश का गर्व नाखून से पेट फाड़कर नष्ट किया—
धरम० बा० ११५; १० : ११६; १७

पृथु राजा संसार की क्षणिकता—चरन० बा० ३८;२ : धरम० बा०

पाराशर संसार की क्षणभंगुरता—सु० ग्र०, भा० १, १२३;३७-४०
और मोह के सन्दर्भ में—बिना विचारे मन्दे दरी से भोग
किया और व्यास पैदा हुए—रामचरन बा० १३०; ३२ :
गरीब० बा० ७१; २०
नारद, शृङ्गी, पाराशर ज्ञानी थे पर मोह में फँस गये—
गरी० बा० ४४; ८७

पाण्डवपथ संसार की क्षणभंगुरता—गुला० बा० ४६; १३६ : वषना०
बा० ३६; १२
कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्ध—गुलाल० बा० ३५;६६ : ४६;
१३६ : ५३; १४७ : ७०; २०२
पाण्डवों के वचन से द्रौपदी हर ली गई—भी० बा० ८५;
२५८ : गरी० बा० २२; २८

बलभद्र बलभद्र गुरु के घर पढ़ने गये—गु० ग्रं० (नानक)
१६५; ४३

राजा बलि संसार की क्षणिकता—कबीर १८८; २६६
राजा बलि दानी थे—गु० ग्रं० (नानक) २२४; १

वामन अवतार लेकर छल से राजा बलि को पराजित किया—दरि० वि० ४; ३२
वामन का रूप धरकर राजा बलि का विध्वंस किया—धरम० बा० १६२; २४

वासुकि सर्प — समुद्र-मन्थन के सन्दर्भ में—गु० ग्रं० (तेगबहादुर) ६६८; म० १

वाल्मीकि — नाम के सन्दर्भ में—गु० ग्रं० (नानक) ६६६; १ : गु० ग्रं० (अर्जुन) ११६२; ५ दूलन० बा० ३; ६; ७; १ : चरन० बा० ७६; १
भक्ति के सन्दर्भ में—गु० ग्रं० (नानक) १०००; १ : रामचरन बा० ६३४; ४६

वीसलदेव — क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—क० ग्रं० १८८; २६६

बौद्ध — त्याग की महिमा—सु० विलास १०; २६

भरत — राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न दशरथ सुत थे—वषना० बा० ३८; ६ : तु० ध० रा० ७६; १३, १४
क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—तु० ध० रा० २१४;२

भरथरी — भरथरी, उज्जैन का राजा था जो त्याग के लिये प्रसिद्ध है। वियोगी बनकर वन में फिरा और जोगी बनकर छत्र-सिंहासन त्याग दिया। रमणी की सेज को छोड़ा और इस प्रकार माया का त्याग किया—क० ग्रं० १८६;२६६ : क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—क० ग्रं० ६६; ३३ : क० बीजक २५७; ६२ : धरनी० बा० १२; ६०-७० : गरी० बा० २३; ३१-३६ : १०८; ४०
भरथरी ने नाम-गुण गाया—गु० ग्रं० (नानक) १३६०; म० १
भरथरीं आये चले गये—वषना बा० १४१;१२६
राजपाट छोड़कर वैराग्य लिया—दूलन० बा० १६; ३
रामरस का स्वादन किया—गुलाल० बा० ५०; १४०
गोरख ने ज्ञान दिया—रामचरण बा० ४०; २१

त्याग के सन्दर्भ में—रामचरण बा० १५६; १६ : गरीब बा० ८४; ७
वैराग्य के सन्दर्भ में—गरीब० बा० ८४; ७ : तुलसी बा० १४२; ८

भस्मासुर भस्मासुर ने शम्भू को छला—वषना० बा० ६; २६ : भस्मासुर, नारी को देख भस्म हो गये—रामचरन बा० २६६; १

राजा भोज क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—क० ग्रं० १८८; २९६
राजा भोज धारा नगरी में थे—क० बीजक ६८; ५५

भीम क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—गुला० बा० भु० ४६; १३६

मन्दोदरी क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—क० बीजक १००; ८१ तु० घ० रा० २१४; २

मन्सूर क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—गरीब० बा० १३३; ६
नाम के सन्दर्भ में—दूलन० बा० १५; ७

मछेन्दरनाथ क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—क० बी० ६७; ५४ : गु० ग्रं० ८७६; १ : सु० ग्र०, भा० १ ८७; ८३, ४, ५, ६
मछेन्द्र सिंहलद्वीप पहुँचे—गरीब० बा० ४५; ६२

मान्धाता क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—गु० ग्रं० (नानक) १३६०; म० १

मीरा मीरा का विष अमृत किया—दूलन० बा० ४; ६; मीरा ने जहर पिया—दूलन० बा० ३३; ४५

मुहम्मद कुरान के सन्दर्भ में—दरिया (वि०) ६३; १७

मोरध्वज क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—धरनी० बा० १२; ६०-७०

युधिष्ठिर यज्ञ युधिष्ठिर के यज्ञ तथा क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—पलटू० बा०, भा० २, १०८; ४

रुकमणी रुक्मणि के विवाह में शिशुपाल का सिर कटा—गरीब० बा० ६४; १८

रुकमांगद क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—गु० ग्रं० (नानक) १३६४; म० ३

रावण को हनुमान् ने तृषित किया—दरि० (वि०) १५; ७४

रावण सिंहासन पर बैठता था पर अब पता नहीं—यारी० बा० १०; ११

सोने की लङ्का रत्ती नहीं ले गया—गरीब० बा० ३०; ४

त्रिकूट पर लङ्का थी जहाँ रावण निःशङ्क राज्य करता था—तु० बा० २३; १६

रावण के साथ सोने की लङ्का नहीं गई—गरीब० बा० ३६; २६ : रावण ने शिव की तपस्या में अपना मस्तक चढ़ाये और शङ्कर ने प्रसन्न होकर उसे दस सीस और बीस भुजा दिये—गरीब० बा० ७१; १७

लोमस — लोमस ऋषि ने भुशुण्डि से रामकथा कही—रामचरन बा० ६३४; ४६

लक्ष्मण — लक्ष्मण सत् पुरुष के सेवक थे—दरि० (वि०) १५; ७४

राम, लक्ष्मण, सीता तथा क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—तु० घ० रा० ७६; १३, १४

लैला-मजनू — प्रेम के सन्दर्भ में—तु० बा० ८४; ३, ४

लैला-मजनू जैसे प्रेम की लगन राम में हो—रामचरन बा० ४५८; ६

व्यास — क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—क० बीजक ६७; ५४ : सु० वि० ६; २४ : सु० ग्र०, सा० १, गुरु के अङ्ग : गुलाल० बा० ३६; ९६

राम की कथा भागवत में कही—रामचरन बा० १३१; १२ : ८५२; ३५

पाराशर ऋषि द्वारा मन्दोदरी से व्यास उत्पन्न हुए—गरीब० बा० ७१; २ :

नाम के सन्दर्भ में—तु० घ० रा० १२७; ७, ८

कथा पुरान कही—तु० घ० रा० २३; १७, ५८

व्यास ने शुकदेव को रामकथा सुनाई—तु० घ० रा० १२७; ७, ८

वामदेव — क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—सु० वि० ६; २४

विदुर विदुर दासी-पुत्र होने पर नाम से तर गये—सु० ग्रं० (सुन्दरदास) ६६६; १
नाम जपने से भक्त बन गये—गु० ग्रं० (रामदास) ७३३;४

विश्वामित्र विश्वामित्र राम को लेकर गये—सु० ग्र०, भा० १, १२२; ३७-४०
विश्वामित्र ने घोर तपस्या की—दरि० (बि०) २; १४

विभीषण रावण का भाई विभीषण भक्त हुआ—क० ग्रं० ९९;३३ : रावण के भाई विभीषण और कुम्भकरण हुए—तु० घ० रा० २१४; २
क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—धरनी० बा० १२; ६०-७० : गुलाल० बा० ३५; ९६ : ३६; ९९ : ४९; १२६ : ५३; १४७ : गरी० बा० २३; ३५

विक्रमादित्य विक्रम, भोज, बलि कोई सम्पदा की पोटली नहीं ले गया—क० ग्रं० १८८; २९६
क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—पलटू० बा०, भा० २, ८४;४५

विरञ्चि क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—क० ग्रं० ९९; ३३ : क० बीजक ६७; ५७ : २४९; ८६ : गुलाल० बा० ४९; १३७ : गु० ग्रं० ४०१;१२१ : सु० ग्र०, भा० १, १२३; ३७-४० : दरि० (वि०) २;१४
नाभि कमल से ब्रह्मा उपजे—गु० ग्रं० ४८९; १

वरुण क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—क० बीजक २४९; ८६

वासुदेव वासुदेव, देवकी और नन्द-यशोदा ने राम का नाम लिया था—वषना बा० ३८; ७

वामन बलि को वामन अवतार लेकर ठगा—रामचरन बा० ९८०; ७

वसिष्ठ वसिष्ठ क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—पु० वि० ९; २५ : अहङ्कार के सन्दर्भ में—रामचरन बा० २७ ; १५ : माया के आगे नाचते हैं—गुलाल० बा० ३६; ९९ : ४९; १३

विष्णु अवतार के सन्दर्भ में—गरीब० बा० ७१; १६
विष्णु ने भक्तों के लिये अवतार लिया—रामचरन० बा० १३१; १२

बाराह क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—रामचरन बा० ६८०; ७

शत्रुघ्न राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न दशरथसुत थे—बषना० बा० ३८; ६ :
क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—तु० ध० रा० २१४; २

शबरी क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—रामचरन बा० १२६; २८
भीलनी के बेर खाये—गरीब० बा० ३६; २

शिव क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—क० बीजक २५७; ६२ : गु० ग्रं० १३८६ ; म० १ : मलूक० बा० ६ ; १ : सु० ग्र०, भा० १, १२३; ३७-४०
शिव ने भी मन की गति को नहीं जाना—क० ग्रं० ६६ ; ३३

शिशुपाल शिशुपाल को माया ने खाया—मलूक० बा० ६; १
क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—धरनी० बा० ११; ५५ : बषना बा० ३६; १२ गरीब० बा० ६४; १

शृङ्गी ऋषि संसार की क्षणिकता के सन्दर्भ में—सु० ग्र० भा० १, १२३; ३७-४० : कुञ्ज वन में स्वारथवश कामिनी के चक्कर में फँस गये—दरि० (वि०) ८८; ४ : नारद और पाराशर मुनि की भाँति ये भी मोहित किये गये—गरीब० बा० ४४ ; ८७ : रामचरन बा० १२६;७ : छलने के सन्दर्भ में—रामचरन बा० ३७१; ३६ : पलटू० ना०, भा० ३, ६० ; १३५ : पलटू० बा०, भा० २, ३६; ८५: रामचरन बा० ३३४; ६ : ५६०; १० : शृङ्गी ऋषि को माया ने नागिन बनकर खाया—पलटू० बा०, भा० १, ८३ ; १८३, ३८६

शुक्राचार्य क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—क० ग्रं० २१६; ३८७

शुकदेव ज्ञान के सन्दर्भ में—क० ग्रं० २१६; ३८७ : गुलाल० बा० ३६; ६६ :

क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—गु० ग्रं० १३६०; म० १ : धरनी० बा० १२; ६०-७० : २३-३० : दूलन० बा० २०; १ : गुलाल० बा० ४६; १३६ : तु० घ० रा० २३; १७, १८, : १२७; ८
नाम के सन्दर्भ में—सु० ग्र० भा० १, २१३ ; १७, १८, १६ : रामचरन बा० १२६; ३२ : १३१; १२ : गरीब० बा० २२; २४

सनक सनन्दन राम की महिमा का गान किया—गुलाल० बा० ४६ ; १३६ : भक्ति के सन्दर्भ में—क० बीजक ६६; ३
क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—क० बीजक २५७; ६२ : गु० ग्रं० ४०१;१२१ : सु० ग्र०, भा० १, ८७; ३-६ : दूलन० बा० २०;१ : दरि० (वि०) २;१४

सहस्त्रबाहु क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—क० ग्रं० २०३; ३४० : गरी० बा० ६४; १६

सहदेव क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—चरन० बा० १००; १-३

सीता सीता, बन में लक्ष्मण से बिछुड़ी—गु० ग्रं० (नानक) ६५३;१
राम-रावण युद्ध सीता के लिये हुआ—तु० घ० रा० ७६; १३, १४

सुग्रीव क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—गुलाल० बा० ४६;१३६
राम ने सुग्रीव को दुःख से मुक्त किया—गुलाल० बा० ५३;१४७

शुकदेव क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—सु० ग्र०, भा० १, ८७;३-६ : दूलन० बा० २०;१
शुकदेव ने परीक्षित को सात दिन में ज्ञान दिया—रामचरन बा० ३६; १७-२०
शुकदेव ने भेद नहीं पाया—तु० घ० रा० ३३;१७, १८
व्यास मुनि ने पुरान बनाया जिसे नारद शुकदेव को समझाया—तु० घ० रा० १२७;७,८ : भक्ति के सन्दर्भ में—गुलाल० बा० ४६;१३६

सुलोचना क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—पलटू० बा० भा० १

सुदामा भक्ति के सन्दर्भ में—क० बीजक २५७;६२ : वषना बा० १८;१ : गरीब होते हुए स्वाभिमानी थे—गरीब० बा० ३०;५ : क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—धरनी० बा० १२; ६०-७०

हरिश्चन्द्र सत्य के सन्दर्भ में—क० बीजक ६१; ४७ : ६८ ; ५५ : धरम० बा० १६२ ; २४ : दानी थे परन्तु छल से ठगे गये—गु० ग्रं० २२४;१ (नानक) ५४८;३

हनुवंत अहङ्कार के सन्दर्भ में—क० ग्रं० २१६ ; ३८७
पर्वत हाथों में लाये तथा समुद्र को एक घूंट में पी लिया—वषना० बा० ३८;५ : १०२;७६
हनुमान ने रावण को त्रसित किया था—दरि० (वि०) १५;७४ : नाम के सन्दर्भ में—बु० वा० भु० २६;६८ : क्षणभंगुरता के सन्दर्भ में—गुलाल० बा० ३६ ; ६६ : ५०;१४०

विशिष्ट विषय सहित नामानुक्रमणिका